2·4

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

कार्यकर्ता

अधिष्ठान : व्यक्तिमत्त्व : व्यवहार



द. बा. ठेंगडी

– राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ –

कार्यकर्ता

अधिष्ठान : व्यक्तिमत्त्व : व्यवहार

द. बा. ठेंगडी

भारतीय विचार साधना पुणे प्रकाशन

कार्यकर्ता :

अधिष्ठान : व्यक्तिमत्त्व : व्यवहार

○ प्रकाशक

भारतीय विचार साधना पुणे प्रकाशन
'मोतीबाग', ३०९ शनिवार पेठ,
पुणे - ४११ ०३०.

आठवी आवृत्ती : मे २०१६

○ *मुद्रक*

चैतन्य आर्टस
कर्वेनगर, पुणे ४११०५२
मो. : ९८२२२६३३६४

○ *विक्री केंद्र*

भारतीय विचार साधना, पुणे
'मोतीबाग', ३०९ शनिवार पेठ,
पुणे - ४११ ०३०.
(दूरभाष : ०२० - २४४९०४५४)

भाविसा भवन
१२१४/१२१५ सदाशिव पेठ,
पेरुगेट भावे हायस्कूल परिसर,
लिमयेवाडी, पुणे - ४११ ०३०.
(दूरभाष : ०२० - २४४८७२२५)

E-mail : bhavisapune@gmail.com
Website : www.bhavisa.org

○ मूल्य : रु. २००/-

प्रकाशक का मनोगत

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की समूची कार्यपद्धति में 'कार्यकर्ता' का महत्त्व सर्वाधिक है। संघ की सारी शक्ति संघ के कार्यकर्ताओं में है। कार्यकर्ता ही संघकार्य का आधार है।

कार्यकर्ता का अधिष्ठान, व्यक्तिमत्त्व तथा व्यवहार इस विषय का विवेचन इस ग्रंथ में मा. दत्तोपंत ठेंगडीजी ने किया है। संघकार्य के प्रदीर्घ अनुभवों के आधार पर मा. दत्तोपंतजी ने लिखित या मौखिक माध्यम के द्वारा विविध अवसरों पर जो विचार प्रकट किए हैं उनका सुसूत्र संकलन इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का सुअवसर 'भारतीय विचार साधना पुणे प्रकाशन' को प्राप्त हुआ है।

कार्यकर्ता में कौनसे गुण आवश्यक हैं, उसने किन बातों से दूर रहना चाहिए, यह और ऐसे अनेक विषयोंपर मा. दत्तोपंतजी ने किया हुआ मूलगामी चिंतन, मार्गदर्शन इन बातों की यह ग्रंथ पढ़ने पर अनुभूति होगी।

संघ के प्रवक्ता और ज्येष्ठ कार्यकर्ता मा. मा. गो. तथा बाबुराव वैद्यजी ने इस ग्रंथ के लिए लिखी हुई प्रस्तावना से भी इस ग्रंथ की विशेषता सिद्ध होगी। अत्यधिक व्यस्तता से समय निकालकर उन्होंने इस ग्रंथ के लिये प्रस्तावना लिखी। इसके लिए 'भारतीय विचार साधना' उनकी आभारी है। पुस्तक के संकलन, संपादन का काम ज्येष्ठ कार्यकर्ता श्री. बापू केंदूरकरने किया है।

जैसा कि मा. मा. गो. वैद्यजी ने प्रस्तावना में कहा है, यह ग्रंथ 'संघोपनिषद्' सिद्ध होगा, इस बात का हमें विश्वास है।

– प्रकाशक

संकलनकार के दो शब्द

माननीय दत्तोपंत ठेंगडीजी के कुछ विचारों का संकलन 'संकेत रेखा' इस नाम से करीबन दस वर्ष पहले प्रसृत हुआ। उसमें लेखक इस नाते प्रस्तावनारूप कुछ लिखे ऐसा अनुरोध मा. दत्तोपंतजी से किया गया था। प्रस्तावना तो आपने नहीं लिखी। प्रस्तावना के इस अनुरोध पर आप के मन में जो विचार आए वे आपने चन्द शब्दों में व्यक्त किए हैं। ब्रूस विस्लि (Bruce Wistley) इस विचारक का, जो Wisconsin विश्वविद्यालय के प्राध्यापक रहे – एक उद्धरण – 'The author does not exist whose work cannot be improved by the constructive vigilence of an editor,' अपने स्मरणसंपुट से दिया है। सारांश में बताना तो वह कहता है कि दुनिया में ऐसा कोई लेखक नहीं हो सकता है कि जिसकी रचना में विधायक चिकित्सा के द्वारा सुधार नहीं आ सकता है।

यह उद्धरण देकर मा. ठेंगडीजी ने कहा है कि इस उद्धरण का संकेत स्पष्ट है। मा. ठेंगडीजी की अपने विचारों के संदर्भ में ऐसी ही बड़ी विनम्रता की भूमिका रहती है कि His is not the last word !आप के विचारों का संस्करण हो सकता है।

लेकिन मा. ठेंगडीजी की इस भूमिका का आधार लेते हुए अगर मैं, 'कार्यकर्ता' इस विषय पर आधारित आपके विचारों का संकलन करने हेतु संस्करण के साथ प्रयास प्रारंभ करता तो वह बड़ी धृष्टता की परिसीमा साबित होती थी। और मेरी अपनी सीमा का भंग भी हो सकता था। इसलिए यह संकलन करते समय मैंने मा. ठेंगडीजी के विचारों का संकलन यथातथ्य रूप में आप ही के शब्दों में करने का प्रयास किया है।

खास कर के रा. स्व. संघ के कार्यकर्ताओं के लिए ही ये विचार व्यक्त किए हैं यह तो स्पष्ट है। इस विषय के विविध पहलुओं के संदर्भ में मा. ठेंगडीजी ने गत पचीस वर्षों में स्थान स्थान पर, अन्यान्य कार्यकर्ताओं के गुटों के सामने, जैसे रा. स्व. संघ के कार्यकर्ता हैं; भारतीय मजदूर संघ के या भारतीय किसान संघ के कार्यकर्ता हैं; अन्यान्य अवसरों पर जो विचार रखे हैं उन विचारों का यह संकलन है। फिर भी हमारे समाज में विविध क्षेत्रों में समर्पितता से कार्य करने वाले अन्यान्य जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं को भी इससे मार्गदर्शन मिल सकता है।

स्वाभाविक है कि अन्यान्य निमित्तों से व्यक्त हुए इन विचारकणों को एक सुसूत्र माला में गूँथने के लिए बीच बीच में एकाध दूसरा वाक्य तथा एकाध दूसरा परिच्छेद जोड़ना आवश्यक था। ऐसा जोड़ने के लिए जिन शब्दों का उपयोग किया गया है, केवल वे शब्द मेरे हैं। बाकी सारे शब्द तथा अभिव्यक्ति मा. ठेंगडीजी की ही है। एकाध दूसरे मुद्दे को पूरक ऐसे कुछ संदर्भ भी कई जगह, मूल विचारसूत्र से जोड दिए हैं। लेकिन मूल विचार के आंतरिक सत्त्व को धका न पहुँचे तथा मूल अभिव्यक्ति का स्तर ढ़ल न जाए इस बात पर ध्यान दिया है। और जो बातें मैंने जोड़ दी हैं, उनके बारे में मा. ठेंगडीजी के साथ चर्चा करके उनकी अनुमति भी ले ली है। 'कार्यकर्ता' इस विषय के संदर्भ में अभिव्यक्त और उपलब्ध ऐसा मा. ठेंगडीजी का पूरा विचारधन इस तरह एक सूत्र में संकलित करने का यह प्रयास है।

इस पुस्तक में जो विचार संकलित किए गए हैं, उनका केंद्रबिंदू है 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' का कार्यकर्ता। फिर भी अपने कार्य के अधिष्ठान की प्रेरणा लेकर, कार्यपद्धति की रगड में से ही कार्यकर्ता विकसित होता है और फिर इसी कार्यपद्धति को सचेत और हेतुपूर्ण करके ध्येयसंकल्प की पूर्ति की ओर कार्यकर्ता बढ़ता है, यह ध्यान में लेते हुए, 'संघकार्यकर्ता का अधिष्ठान' और 'अपनी कार्यपद्धति' इन दो विषयसूत्रों के साथ 'कार्यकर्ता' यह पूरा विषय संकलित किया है।

किसी भी कार्य के संपन्न होने के सम्बन्ध में भगवद्गीता में भगवान ने कहा है –

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १८.१४

ध्यान में आता है कि अपने संघकार्य के सम्बन्ध में जिन बातों का विचार आवश्यक रहता है उन सभी बातों का संकेत इस श्लोक में किया गया है।

'अधिष्ठान' का अर्थ है, हम संघ कार्यकर्ताओं के ध्येय-संकल्प का सैद्धान्तिक आधार। हमारा गन्तव्य क्या है? हम क्या सिद्ध करने जा रहे हैं?

'करणं च पृथक् विधम्' – अर्थात् हमारे अलग अलग साधन-माध्यम क्या हैं? 'पृथक् चेष्टा' का मतलब है, हम हमारे साधन-माध्यम-पद्धति के आधार पर तरह तरह के कैसे प्रयास करते हैं?

'कर्ता' यह तो हमारे कार्य का साधक (साध्य करनेवाला) घटक, केंद्रबिंदू है, वह हमारे माध्यम तथा प्रयासों से कैसे विकसित होता है? कैसे होना चाहिए?

और आखिर में 'दैवम्' याने ईश्वरीय समर्थन, तो हमारे इस कार्य की सिद्धि का आश्वासन भी हमें मिलता है।

इस पुस्तक में संकलित विचारों का केंद्रबिंदू 'कार्यकर्ता' ही है। फिर भी उसी को सामने रखकर हमारे पूरे संगठन-व्यूह का पुस्तक में आया विवरण अगर निचोड के रूप में बताना है, तो कह सकते हैं कि हमारे इस प्राचीन राष्ट्र को परम् वैभव तक ले जाना यह हमारा ध्येयसंकल्प है। इस संकल्प की पूर्ति के लिए संघशाखा का अभूतपूर्व संस्कारकारी माध्यम संघ ने विकसित किया है और इस माध्यम के आधारपर अपनी कार्यपद्धति के अनेकानेक आयामों की विशेषता सिद्ध की है। इस माध्यम के द्वारा ही स्वाभाविक रूप में निर्माण हुआ कार्यकर्ता–उसका व्यक्तिमत्त्व, मानसिक धारणाएँ तथा व्यवहार–इन सभी के साथ अपनी कार्यपद्धति को सचेत रखकर ध्येयसंकल्प की पूर्ति करने हेतु अपना जीवन समर्पित करता है।

इसी कारण यदि इस पुस्तक में आया संकलन का दर्शनकेंद्र (focus) अंततोगत्वा 'कार्यकर्ता' है, फिर भी 'संघ कार्यकर्ता का अधिष्ठान' तथा 'अपनी कार्यपद्धति' इन दोनों विषयों का जिक्र पृष्ठभूमि के रूप में आवश्यक ही रहा है। संघ जैसे व्यापक संगठन के कार्यकर्ता, उतने ही उन्नत विशाल ध्येयसंकल्प के अधिष्ठान के बिना लगातार वर्षों तक दृढ प्रतिबद्धता से, लगन से कार्य में जुटे रहना असंभव है। हमारा कार्य मनुष्यों के संगठन का कार्य है, तो मनुष्य की निजी सुख-कल्पना के माध्यस से ही हमारे संगठन के ध्येयसंकल्प का विचार प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। इसी लिए मनुष्य जीवन के अंतिम उद्दिष्ट के प्रकाश में ही हमारे अधिष्ठानरूप ध्येयसंकल्प का विचार यहाँ प्रस्तुत किया है। कार्यकर्ता ने इस विषय का गहराई से चिंतन करना आवश्यक है, कारण इस अधिष्ठानरूप ध्येयसंकल्प की निजी शक्ति ही लगातार जीवनभर कार्य करने की उसकी उमंग सचेत रखती है और उसे जीवन के अंतिम क्षण तक कार्यरत रखती है। इसी दृष्टि से, 'संघ-कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस विभाग में आए पूरे जीवनचिंतन को, सोचसमझकर कार्यकर्ता श्रद्धा से स्वीकार करे, और अपने कार्य की प्रेरणा निरंतर सजग रखे यह अपेक्षा है।

'अपनी कार्यपद्धति' के बारे में ऐसा कहा है, संगठन प्रक्रिया की इतनी सरल, सुलभ और स्वाभाविक पद्धति शायद ही अन्यत्र कहीं होगी। कार्यकर्ता

स्वयं खुद को पता न चलते हुए ही इस पद्धति के द्वारा विकसित होता है। कोई व्यक्ति किसी निमित्त, किसी स्वयंसेवक कार्यकर्ता के संपर्क से संघशाखा पर आता है (initiation); आहिस्ता आहिस्ता उसका संघ से परिचय (orientation) होना शुरू होता है। फिर आगे चलकर वह व्यक्ति सक्रिय बनता है (participation); धीरे धीरे उस पर कुछ न कुछ जिम्मेदारी सौंपी जाती है (execution) और वह जिम्मेदारी निभाते निभाते संघ के सिद्धान्तों का और व्यवहार का पूरा परिचय होकर उसमें संघकार्य के प्रति दृढ़ धारणा (conviction) निर्माण होती है। वह सही दृष्टि से कार्यकर्ता बनता है। अंग्रेजी में एक वाक्प्रयोग है। to learn swimming while you swim। याने, तैरते तैरते ही तैरना सीखना। इसी तरह स्वयंसेवक-कार्यकर्ता बनने की प्रक्रिया होती है। कार्यकर्ता निर्माण का ऐसा संघ का प्रयास प्रारंभ से ही चलता आया है। ध्यान में आता है कि कार्यकर्ता एक ओर बडी स्वाभाविकता से अनजाने विकसित होता है और दूसरी ओर ऐसा विकसित कार्यकर्ता अपना तत्त्वज्ञान अमल में लाने के लिए अपनी नीति-रीति-पद्धति को सजगतासे चरितार्थ करते हुए कार्य को बढावा देता है। ऐसी यह द्विआयामी प्रक्रिया है।

इस दृष्टि से विकसित होते होते ही कार्यकर्ता को अपनी पद्धति के विविध आयामों की जानकारी भी हो, इसी हेतु 'अपनी कार्यपद्धति' इस विभाग में पूरा विषय रखा है। अगर कार्यकर्ता इस कार्यपद्धति की मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता तथा प्रासंगिक सार्थता ध्यान में लेकर उसका सजगता से उपयोजन करेगा तो १९२५ से विकसित यह कार्यपद्धति ही हमें अपने ध्येयसंकल्प की पूर्ति में सफल करेगी यह विश्वास दुगुना हो जाएगा।

कार्यकर्ता के बारे में माना गया है कि वह लालटेन की काँच के समान होता है, याने अपने कार्य के दर्शन का, तथा प्रात्यक्षिक का वह माध्यम है। अपना ध्येयसंकल्प इतना विशाल, कार्यपद्धति इतनी सर्वव्यापी तथा परिणामकारी है तो, उन्हीं की तुलना में ही कार्यकर्ता का व्यक्तिमत्त्व, कर्तव्यसंकेत तथा व्यवहारसूत्र होने चाहिए। ऐसे ही सब पहलुओं का विचार, मनोवैज्ञानिक गहराई से 'कार्यकर्ता' इस कलशरूप विभाग में रखा है। और इस पूरे विषयव्यूह का केंद्रबिंदू जो कार्यकर्ता, उसपर विस्तार से प्रकाश डाला है। आशा है कि मा. ठेंगडीजी के निरंतर चिंतन का आधारभूत ऐसा, उन्हींके शब्दों में प्रस्तुत किया हुआ यह विषय, कार्यकर्ता के लिए व्यक्तिविकास, कर्तव्यसंकेत तथा व्यवहार इनके बारे में बहुत ही मार्गदर्शक रहेगा।

इस दृष्टि से कार्यकर्ताओं के सम्मुख विषय रखने की मा. ठेंगडीजी की जो शैली है वह, पूरा विषय आसानी से समझ पाने की दृष्टि से बहुतही उपयुक्त है।

मेरी दृष्टि से मा. ठेंगडीजी के विचार प्रकटन की विशेषता है, अन्यान्य विषयों का साधार और सोदाहरण विवेचन करने की आपकी पद्धति में। मूल विचारसूत्र के हर बिन्दु के लिए विविध रूपेण बहुत ही मार्मिक, उद्‌बोधक उदाहरण आप देते हैं। उनसे विषय रोचक तो होता ही है और सुननेवालों या पढ़नेवालों के मन में विषय आसानी से उतरता है। आपके गहरे और व्यापक व्यासंग से ऐसे अनगिनत मार्मिक तथा महत्त्वपूर्ण संदर्भ उचित स्थानपर प्रस्तुत होते हैं। खास कर के एकाध उदाहरण देते समय उसमें आए प्रसंग या संदर्भ का जो चित्रमय रूप आप सादर करते हैं उससे उदाहरण में अभिप्रेत तथ्य का मूर्तिमान रूप सामने खड़ा हो जाता है और बड़ी स्पष्टता से हम विषय समझ पाते हैं।

हम ऐसा भी कह सकते हैं कि मा. ठेंगडीजी दार्शनिक तो हैं ही लेकिन उससे भी अधिक मात्रा में आप भाष्यकार हैं। हमारी संस्कृति की यह विशेषता रही है कि अपनी आंतर्दर्शी प्रतिभा से, आंतरिक प्रेरणा से प्रस्फुरित कितना भी मूलगामी विचार किसी भी दर्शनकार ने समाज के सम्मुख रखा होगा, तो भी किसी भी दार्शनिक ने, अपने विचार बिल्कुल नए, स्वयंभू हैं, ऐसा दावा कभी नहीं किया। हरेक ने ऐसा ही कहा है कि पूर्वसूरियों ने बताए राह पर ही हम सत्य की खोज में आगे बढ़ रहे हैं। भाष्यकार तो केवल मूलविचार के विवरण की ही बात करता है। मा. ठेंगडीजी की विचारप्रस्तुति में ये दोनों भूमिकाएँ एकदूसरे में समाई हैं ऐसा लगता है। स्वामी विवेकानंद, योगी अरविंद, पू. गुरुजी जैसे महान दार्शनिकों ने अनेकानेक सूत्ररूप विचार हमारे सम्मुख रखे हैं। आज का वास्तव ध्यान में लेते हुए उन्हीं का युगसंगत तथ्य अपनी खास शैली में मा. ठेंगडीजी दोहराते हैं और उसको आसानी से ग्रहण करने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं। लेकिन दोहराते समय एक दृष्टि से उस तथ्य पर जो भाष्य आप करते हैं, वह विशेष महत्त्वपूर्ण तथा मूलगामी रहता है। जैसे कलाक्षेत्र में हम देखते हैं कि माध्यम की विशेषता से मूल जीवनानुभव विविध रूपों में प्रकट होता है। वैसे ही भाष्यकार की भूमिका में मूल विचारों के अब तक अव्यक्त रहे ऐसे कई नए आयाम मा. ठेंगडीजी ने अभिव्यक्त किए हैं। इसलिए मा. ठेंगडीजी के विचारों की महत्ता तथा विशेषता मूल बीजरूप विचारों में ही केवल नहीं है, बल्कि उनके प्रकटीकरण में भी है।

आज के असुविधाजनक, प्रतिकूल वायुमंडल में इस कार्य में पूरी ताकत अगर हमें लगानी है तो यह पूरा विचारव्यूह हम स्वयं समझे और अपने साथियों को समझाए ताकि हरेक कार्यकर्ता अधिक समय, शक्ति और मानसिक तथा

सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता के साथ इसी कार्य में जुटा रहे। कार्यकर्ताओं की सजग, क्रियाशील उमंग के आधार पर ही राष्ट्र को परम् वैभवतक ले जाने का हमारा वैश्विक ध्येयव्रत पूरा करने में हम सफल होकर रहेंगे ही।

मेरा यह सौभाग्य है कि इस विषय का पूरा संकलन करने की अनुमति मा. ठेंगडीजी ने दे दी। मैं मानता हूँ कि इस विषय के प्रति आप के मन में जो प्रतिबद्धता, जो लगन है, उसी के कारण यह सम्मति मिली है। मेरे लिए तो यह मौका परमानंद का रहा कि मा. ठेंगडीजी के विचारविश्व में गहराई से अवगाहन मैं कर सका। मेरे प्रति आप के मन की आत्मीयता का परिचायक ऐसा जो अवसर आपने मुझे दिया है उसके लिए बड़ी विनम्रता से अपने मन का कृतज्ञता का भाव मैं व्यक्त करता हूँ।

मैं आशा करता हूँ कि मेरा यह प्रयास सफल रहे और इस पुस्तक के अध्ययन से, हमारा अधिष्ठान कार्यपद्धति तथा स्वयंसेवकों की प्रेरणा, मानसिकता और व्यवहार, इन विषयों के संदर्भ में रा. स्व. संघ के कार्यकर्ता अधिक सचेत और सजग बने।

– बापू केंदूरकर

द्वितीय संस्करण के संदर्भ में

इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत करने में बहुतही आनंद हो रहा है। प्रथम संस्करण की प्रस्तावना में मा. मा. गो. तथा बाबुरावजी वैद्य ने, इस पुस्तक में आया पूरा विचारधन माने 'संघोपनिषद' ही है, ऐसा कहा है। स्वाभाविक है, कि अनेक कार्यकर्ता, अधिकारी गण तथा अन्य विचारकों ने उसका हृदय से स्वागत किया और करीबन छः महीनों के अंदर ही सभी प्रतियाँ उठाई गईं। दूसरे संस्करण की माँग यह, कार्यकर्ताओं की दृष्टि से इस पुस्तक की उपयुक्तता का सबूत ही है।

पुस्तक का मनन करनेपर अनेक कार्यकर्ता तथा अधिकारियों ने कुछ छोटे, मोटे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। वे सभी ध्यान में लेते हुए इस संस्करण में कुछ बातें जोड दी गई हैं। पुस्तक में आए विषय की, उपशीर्षकों के साथ, परिपूर्ण अनुक्रमणिका प्रारंभ में दी है। परिशिष्ट एक में, इस सारे विचारव्यूह का विषयों के अनुसार, संक्षेप में दर्शन हो, इसी हेतु, वह पृष्ठांकों के साथ प्रस्तुत किया है ताकि किसी कार्यकर्ता को इसमें से कुछ विशिष्ट पहलुओं का अलग सा अध्ययन करने में भी सहायता हो। परिशिष्ट दो में, पुस्तक में आए व्यक्ति-ग्रंथ तथा पत्रिकों के उल्लेखों की सूचि प्रस्तुत की है।

इसके अलावा कई स्थानोंपर, आशय अधिक स्पष्ट करने हेतु, कुछ बातें जोड दी हैं। प्रथम संस्करण में आए अनेक उद्धरणों के मूल संदर्भ, मैं नहीं दे सका था, उनमें से बहुत सारे संदर्भ देने का प्रयास मैंने यहाँ किया है। वैसे ही कुछ मराठी और अंग्रजी उद्धरणों का अनुवाद भी रह गया था, वह भी मैंने द्वितीय संस्करण में दिया है।

कुल मिलाकर, हम यह कह सकते हैं कि यह द्वितीय संस्करण याने प्रथम संस्करण का केवल पुनर्मुद्रण नहीं है। और आशा है कि इस संस्करण की अधिकतर उपयुक्तता अनुभव करते हुए, पाठक इस का भी स्वागत करेंगे।

इस संदर्भ में जिन्होंने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए वे सभी कार्यकर्ता तथा अधिकारियों के प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ और द्वितीय संस्करण की जिम्मेदारी निभाने के लिए 'भारतीय विचार साधना (पुणे) के पदाधिकारी तथा कार्यकर्ताओं का मैं आभारी हूँ।

– बापू केंदूरकर

ऋणनिर्देश

– श्री. अशोक भिडे (मुंबई) भारतीय मजदूर संघ के पुराने कार्यकर्ता – जिन्होंने कुछ साल पहले 'हमारा अधिष्ठान' इस विषय का प्राथमिक संकलन कुछ मात्रा में पूरा किया था, इस विषय का गहराई से पठन किया और अनेक छोटे छोटे पहलुओं के संदर्भ में मौलिक सूचनाएँ दीं।

– मा. वसंतरावजी तांबे - रा. स्व. संघ के महाराष्ट्र प्रांत प्रचारप्रमुख जिन्होंने अपने व्यस्त दैनंदिन दिनक्रम में से समय निकाल कर इस पूरे संकलन का, आलोचना के साथ पठन किया और अनेक मौलिक सुझाव दिए। वैसे ही मुंबई के कार्यकर्ता श्री प्रमोदजी क्षीरसागर ने भी उपयुक्त टिप्पणी की।

– श्री. बाळासाहेब भागवत (डोंबिवली) रा. स्व. संघ के पुराने कार्यकर्ता, जिन्होंने पूरे विषय-संकलन की, हिंदी भाषा की दृष्टि से आलोचना की और उस पर आवश्यक सभी संस्करण किए। वैसे ही पत्रकार श्री. शरद चव्हाण और पुणे स्थित निवृत्त शिक्षिका श्रीमती शकुंतला पुरंदरे, जिन्होंने हिंदी भाषा की दृष्टि से कुछ सहायता की।

– श्री. प्रभाकर महादेव भातखंडे (मुलुंड-मुंबई), संस्कृत साहित्य के व्यासंगी पंडित तथा साहित्यकार, जिन्होंने संकलन में आए अनेकानेक संस्कृत उद्धरणों के मूल संदर्भ तथा शुद्ध शब्दसंहिता उपलब्ध करा दी।

– श्री. श्याम आपटे (पुणे), रा. स्व. संघ के पुराने कार्यकर्ता तथा 'स्वस्तिश्री प्रकाशन' के संचालक, जिन्होंने माननीय ठेंगडीजी के बौद्धिक वर्गों की कुछ ,ध्वनिफितियाँ उपलब्ध करा दी। वैसे ही हमारे एक प्रचारक प्रसादजी जाफराबादकर ने भी ध्वनिफितियाँ उपलब्ध करा दी।

– मा. वेणुगोपालजी (कोइम्बतूर), भारतीय मजदूर संघ के अ. भा. कार्यकारी अध्यक्ष, जिन्होंने भा. म. संघ के केंद्रीय कार्यकारिणी की बैठकों में मा. दत्तोपंत ठेंगडीजी के किए हुए मार्गदर्शन की टिप्पणियाँ उपलब्ध करा दी।

– श्री. रवींद्रजी महाजन - स्वदेशी जागरण मंच - अ. भा. सहनिमंत्रक, जिन्होंने मा. ठेंगडीजी की कुछ पुस्तिकाएँ उपलब्ध करा दी।

– भारतीय-श्रम-शोध-न्यास (भा. म. संघ) पुणे, इस संस्था में काम करनेवाली महिला कर्मचारी सौ. सीमा शिंत्रे, जिन्होंने इस संकलन के पहले प्रारूप का प्राथमिक संगणकीय टंकलेखन किया था।

इन सभी की, इस संकलन प्रकल्प में परिपूर्णता लाने की दृष्टि से मुझे बहुतही सहायता मिली। इन सभी के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस संकलन प्रकल्प के प्रकाशन की जिम्मेदारी 'भारतीय विचार साधना पुणे,' इस संस्था ने स्वीकार की और मेरे मन की सारी चिंता मिट गई। इस संदर्भ में मैं मा. वसंतरावजी तांबे का और 'भारतीय विचार साधना' के कार्यवाह तथा 'संवाद ट्रेडप्रिंट्स' इस संगणकीय संस्था के संचालक श्री. शैलेंद्र बोरकर का आभारी हूँ।

मेरे लिए व्यक्तिशः यह सौभाग्य की बात रही है कि हमारे विनम्र अनुरोध पर, माननीय मा. गो. तथा बाबुरावजी वैद्यने - जो आज रा. स्व. संघ के अधिकृत प्रवक्ता हैं - अपनी अन्यान्य महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियों में बहुत ही व्यस्त दैनंदिनी होने के बावजूद इस विचार संकलन के लिए बहुत ही मार्मिक प्रस्तावना लिखी है; जिससे इस विचार संकलन की मौलिकता में बढ़ोत्तरी हुई है। मैं मा. बाबुरावजी के प्रति मेरे मन की अतीव कृतज्ञता की भावना प्रकट करता हूँ।

– बापू केंदूरकर

मा. दत्तोपंत ठेंगडी

माननीय श्री दत्तोपंत ठेंगडी (दत्तात्रेय बापूराव ठेंगडी) यह नाम, हिंदू जीवन दर्शन के संदर्भ में अब देशविदेशों में अपरिचित नहीं रहा है। भारतीय कालगणना के अनुसार दीपावली के पुण्य पर्व में (१० नोव्हेंबर १९२०) आप का जन्म हुआ। भारतीय स्वातंत्र्यसंग्राम से अनुप्राणित वायुमण्डल में शालेय काल से ही आप सार्वजनिक जीवन में सक्रिय रहे। शालेय जीवन में वानरसेना का कार्य, महाविद्यालयीन जीवन में सोशालिस्ट रिपब्लिकन पार्टी का स्थानीय नेतृत्व इस रूपसे आप के सार्वजनिक कार्य का प्रारंभ हुआ। उसी समय आप रा. स्व. संघ के संपर्क में आए और आगे चल कर १९४१ में विधि शाखा की उपाधि परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद संघ के प्रचारक इस नाते आप के कार्य का प्रारंभ हुआ। गत ६० साल इसी रूप में आप संघ और संघप्रेरित संस्थाओं में कार्यरत हैं।

संघ के स्वाभाविक विकासक्रम में विविध संस्थाओं का तथा रचनाओं का गठन और संचालन करने में आपकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जैसे अ. भा. विद्यार्थी परिषद (९ जुलै १९४९), भारतीय मजदूर संघ (२३ जुलै १९५५), भारतीय किसान संघ (४ मार्च १९७९), स्वदेशी जागरण मंच (२२ नोव्हेंबर १९९१), सामाजिक समरसता मंच (१४ एप्रिल १९८३)। उसके साथ ही भारतीय जनसंघ, अ. भा. अधिवक्ता परिषद, संस्कार भारती, सर्वधर्मसमादर मंच, स्वदेशी सायन्स मूव्हमेंट आदि की प्रतिष्ठापना की गतिविधियों में आप सक्रिय रहे हैं। इन सभी कामों में आप केवल कार्यकर्ता के ही रूप में सक्रिय रहे ऐसा नहीं, तो ऐसी सभी रचनाओं की पतवार के रूप में, राष्ट्रीय मूल्यों के अनुसार सैद्धान्तिक अधिष्ठान देने में भी आप का योगदान प्राथमिक महत्त्व का रहा है।

उसके साथ ही इसी काल में, पहले कुछ दिनों तक रा. स्व. संघ के परिधी के बाहर के इंटक, शे. का. फेडरेशन जैसे जनसंगठनों में भी आप ने काम किया। महाविद्यालयीन काल से साम्यवादी-समाजवादी संगठनों में प्रत्यक्ष कार्यानुभव लेते समय ही, खास करके मजदूर क्षेत्र का गहरा चिंतन आप ने किया। परिणामतः अपने देश के राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक सत्त्व के आधार पर निर्भर ऐसे मजदूर संगठन की आवश्यकता आप को महसूस होने लगी। उसी चिंतन के फलस्वरूप रा. स्व. संघ की प्रेरणा से भारतीय मजदूर संघ (१९५५) इस नाम से मजदूर संगठन आप ने शुरू किया जो आज देश में प्रथम क्रमांक पर खड़ा है।

१९६६ के पश्चात १२ वर्षों तक आप राज्यसभा के सदस्य रहे। इसी कार्यकाल में ही संसदीय शिष्टमंडल के सदस्य इस नाते रूस, हंगेरी इ. देशों में

आप का प्रवास हुआ। १९७७ में जिनिवा में संपन्न International Labour Organisation (ILO) की परिषद में सहभाग; युगोस्लाविया में चल रहे श्रमिकीकरण के प्रयोग का अध्ययन करने हेतु यात्रा; १९७९ में अमरीकी सरकार के निमंत्रण पर वहाँ के मजदूर आंदोलन का अध्ययन करने हेतु प्रवास; कॅनडा, ब्रिटन का प्रवास; १९८५ में अखिल चीन फेडरेशन ऑफ ट्रेड युनियन्स के निमंत्रण पर चीन जानेवाले भारतीय मजदूर संघ के शिष्टमंडल का नेतृत्व; आदि विविध प्रयोजनों से विदेश यात्रा के दौरान वहाँ मजदूर आंदोलनों का अध्ययन तो हुआ ही, उसी के साथ वहाँ की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति का अध्ययन करने का मौका भी आप को मिला।

इन सभी अनुभवों को ग्रहण करते तथा अध्ययन करते समय अपना मूल राष्ट्रीय विचार अधिक दृढ़, सचेत, युगानुकूल तथा क्रियाशील बनाने में इन सभी अनुभवों का उपयोग हो, यही आप का प्रयास रहा है और ठेंगडीजी के ऐसे सभी कार्य की आधार-भूमि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ही रही है।

और फिर ऐसे दैनंदिन कार्य के रगड़ में रहते हुए भी विविध विषयों पर मा. ठेंगडीजी का अध्ययन तथा चिंतन जारी रहता है। उसीके कारण हिंदू जीवनदृष्टि के अनुसार विभिन्न समाज क्षेत्रों में जो प्रात्यक्षिक रूप (model) कार्यवाही हमें करनी है, उसे आवश्यक ऐसे अनेकानेक आयामों का सही दिशादर्शन आप के भाषणों से तथा लेखन से प्रकट होता है।

इस तरह का मा. ठेंगडीजी का परिचय करा देने की बात मैंने जब आपके समक्ष रखी तो आपने कहा –

''जनरल अरुण वैद्य की हत्या के बाद शवदाह के समय कई भाषण हुए और उनका गौरव करते हुए श्रद्धांजलि अर्पण की गई। उसके पश्चात एक सेवानिवृत्त सेनाधिकारी ने मुझे बताया कि श्रद्धांजलि अर्पित करते समय वक्ताओं ने जनरल वैद्य के बहुत सारे सद्गुणों का उल्लेख किया। किन्तु सब से बड़ी महत्त्व की बात किसी के भाषण में नहीं आई। सेना में विविध छोटे बड़े ओहदों पर कई अधिकारी काम करते हैं, किन्तु उनके संदर्भ में सब से श्रेष्ठ tribute यह मानी जाती है कि He was a true soldier! असल में यही उसका सर्वोत्तम परिचय हो सकता है। इसी तरह मुझ जैसे कार्यकर्ता का, 'He is a true Swayamsevak' यही उचित परिचय हो सकता है और इससे मेरे लिए अधिक वांछनीय परिचय हो ही क्या सकता है?''

– बापू केंदूरकर

प्रस्तावना

माननीय दत्तोपंत ठेंगडी के विचारधन को प्रकाशित करने वाले पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का साहस करना निरा औद्धत्य है। यह किसी छोटे से दीप द्वारा चराचर सृष्टि को अपने तेज:प्रकाश से आप्लावित करने वाले भगवान् सहस्ररश्मि की आरती उतारने जैसा है। मैं जानता हूँ कि यह घिसापिटा दृष्टांत है, किन्तु यही मेरी भावना को यथार्थता से प्रकट करता है।

यह विचारधन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संदर्भ में है। इस में अधिष्ठान, कार्यपद्धति और कार्यकर्ता इन तीन दृष्टियों से संघ की चर्चा की गई है। वैसे ये तीनों विषय हम लोगों के सामान्य परिचय के हैं। इन के साधारण अर्थ भी सभी को ज्ञात हैं। किन्तु इन सर्वविदित सामान्य विषयों को मा. दत्तोपंत की सर्वस्पर्शी प्रतिभा का स्पर्श होते ही वे एक नई प्रखरता, नया तेज और नया रूपलावण्य लेकर अपने सामने आते हैं। लोहे को भी सुवर्ण में परिणत करने वाली यह प्रतिभा जितनी अभिजात है, उतनी ही दत्तोपंत के प्रचंड अध्ययन और प्रगाढ चिन्तन से वह विभूषित है। सुप्रसिद्ध कश्मीरी साहित्य-मर्मज्ञ मम्मट ने उत्तम काव्य की निर्मिति के तीन 'हेतु' बताये हैं। मम्मट की भाषा में वे हैं – शक्ति, निपुणता और अभ्यास। 'शक्ति' माने स्वयंभू प्रतिभा। 'निपुणता' आती है लोक-व्यवहारों, काव्यों तथा शास्त्रों के निरीक्षण से और अभ्यास होना चाहिये काव्यमर्मज्ञों की शिक्षा का। मम्मट के शब्द हैं –

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

– (काव्यप्रकाश, प्रथमोल्लास)

किन्तु ये तीन अलग अलग नहीं हैं। ऊपर की कारिका लिखने के तुरंत बाद स्पष्टीकरण देते हुए, मम्मट लिखते हैं ''इति हेतु: न हेतव:'' मतलब है, तीनों मिलकर एक ही 'हेतु' बनता है। दत्तोपंत के इस सम्पूर्ण विवेचन में भी, अभिजात प्रतिभा (शक्ति), लोक व्यवहारों के सम्यक् निरीक्षण से आई 'निपुणता' और संघ कार्य का स्वयं का समृद्ध अनुभव, तथा प. पू. गुरुजी के निकट सम्पर्क से प्राप्त ज्ञान संपन्नता और शिक्षा की उच्च कोटि की उपलब्धि, इन तीनों का एक संपृक्त रसायन भरा है। इस विवेचन में क्या नहीं है। सामान्य बुद्धि को चकित करने वाले सारे संदर्भ हैं। संदर्भों की व्याप्ति तथा विविधता अलौकिक है। अथर्ववेद से लेकर बायबिल तक, संत ज्ञानेश्वर से लेकर उमरखय्याम

तक, डायोजेनिस डेमॉक्रॅटिस से लेकर कार्ल मार्क्स तक, पातञ्जल योग सेलेकर इमर्सन-कार्लाइल तक, कालिदास से लेकर टेनिसन तक, ईसा मसीह से लेकर मोहम्मद साहब तक, संत रामदास से लेकर जोसेफ मॅझिनी तक, नारद भक्ति सूत्र से लेकर विश्वगुणादर्श चम्पू तक, गॉस्पेल ऑफ जॉन से लेकर शरु रांगणेकर के वंडरलैंड ऑफ इंडियन मॅनेजमेंट तक, अनेकों व्यक्तियों के संस्मरणों तथा अनेकों ग्रंथों के उद्धरणों का रत्नभण्डार इस करीब अढ़ाई सौ पृष्ठों के ग्रंथ में विद्यमान है। दत्तोपंत आराम कुर्सी पर बैठकर विद्वत्ता की उपासना करने वाले पढ़ाकू पंडित नहीं हैं। सक्रिय कार्यकर्ता हैं। संघ के प्रचारक, जनसंघ के संगठक, मजदूर संघ के संस्थापक, किसान संघ-स्वदेशी जागरण मंच, प्रज्ञा प्रवाह आदि मोर्चों एवं मंचों के सक्रिय मार्गदर्शक–इन सब भूमिकाओं को एक व्यक्ति ने निभाना–यही एक महान आश्चर्य है। यह सब करते हुए, वे कब पढ़ते होंगे, पढ़ा हुआ कैसे ध्यान में रखते होंगे और यथासमय उसकी उपस्थिति कैसी होती होगी, इन सब प्रश्नों के उत्तर ढूँढने का प्रयास करेंगे तो अलौकिकता की परिधि में प्रवेश किये बिना चारा नहीं। इस प्रकार की अलौकिकता से ओतप्रोत पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के लिए प्रवृत्त होना, यह धृष्टता नहीं तो और क्या है। केवल बापूसाहेब केंदूरकर के स्नेहपूर्ण आग्रह के कारण ही *''तनुवाग्विभवोऽपिसन्', 'चापलाय प्रचोदितः'* (रघुवंश १.९) अर्थात, वाणी की क्षमता अतीव सीमित होने के बावजूद भी मैं मर्यादातिक्रमण करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ।

मा. दत्तोपंत ने अपने विवेचन के लिए श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय के चौदहवे श्लोक को आधार के रूप में लिया है। वह श्लोक है —

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

कर्मसिद्धि के लिये अधिष्ठान, कर्ता, अनेकविध साधन, अनेक प्रकार की चेष्टाएँ ये चार और पाँचवाँ दैव, ये पाँच कारण होते हैं। इनमें पहले 'अधिष्ठान' और पाँचवाँ 'दैव', के अर्थों के संबंध में विभिन्नता है। श्रीमद्भगवद्गीता में 'अधिष्ठान' शब्द केवल एक बार और आया है, वह तीसरे अध्याय के ४० वे श्लोक में। वहाँ पर आए हुए 'अधिष्ठान' शब्द के अर्थ के बारे में कोई विवाद नहीं है। वहाँ 'अधिष्ठान' का अर्थ आश्रयस्थान ऐसा है। किन्तु १८ वें अध्याय के श्लोक में 'अधिष्ठान' का अर्थ पर्याप्त नहीं है। शांकरभाष्य में 'अधिष्ठान' का अर्थ 'शरीर' ऐसा किया है। शंकराचार्य बताते हैं कि ''इच्छाद्वेषसुखदुःख

ज्ञानादीनाम् अभिव्यक्तेः आश्रया अधिष्ठानं शरीरम्'', माने इच्छा-द्वेष, सुखदुःख और ज्ञान आदि की अभिव्यक्ति का आश्रय याने शरीर। संत ज्ञानेश्वर ने भी ''म्हणोनि अधिष्ठान भाखा। बोलिजे देह'' इन शब्दों में शंकराचार्य का ही अर्थ स्वीकृत किया है। लोकमान्य टिलक ने अपने 'गीतारहस्य' में अधिष्ठान का अर्थ स्थान (जगह) ऐसा दिया है। एक आधुनिक भाष्यकार ने 'अधिष्ठान' का अर्थ पृष्ठभूमि या कारण परम्परा ऐसा दिया है। इसका मतलब यह है कि 'अधिष्ठान' का अर्थ लगाने में प्रतिभावंतों को अवसर है। श्री दत्तोपंत ने 'अधिष्ठान' का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है – ''संगठन की प्रेरणा, उसका सैद्धान्तिक आधार, उसका ध्येयसंकल्प, ध्येयपूर्ति तक ले जाने वाला ऊर्जास्रोत तथा उसका गंतव्य स्थान। जो विचार या सैद्धान्तिक कल्पना, कार्य की नींव से लेकर कलश तक, संपूर्ण कार्य में ओतप्रोत है, उसे हम अधिष्ठान कहते हैं। उसी के संदर्भ में, उसी के प्रकाश में ही संगठन का विकास होता है और ध्येयपथ पर हर कदम के साथ, विकास की हर छोटी छोटी अवस्था से इस 'अधिष्ठान' का ही उपयोजित, प्रात्यक्षिक रूप ही व्यक्त हो जाता है, यह हमारी धारणा है।'' इसी परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आधारभूत सिद्धान्त का आपने अत्यंत सुश्लिष्ट रूप से निरूपण किया है।

मानव जीवन का लक्ष्य 'सुख' ही है यह निर्विवाद बात है। सुख प्राप्त हो सकता है, यह इसके लिये आधारभूत अवधारणा है। सुख प्राप्त ही नहीं हो सकता, जैसा खरगोश का सींग नहीं होता, यदि ऐसा कहें, तो कोई सुख की प्राप्ति के लिये चेष्टा नहीं करता। किन्तु सुख प्राप्ति के लिये सारे लोग प्रयत्नशील दिखते हैं, अतः सुख प्राप्त होने लायक हैं, ऐसी सभी की मान्यता है, यह स्पष्ट होता है। फिर प्रश्न उठता है कि सुख याने क्या? किसका सुख? मानव का सुख माना तो मानव याने क्या? क्या केवल इन्द्रियों का सुख? उत्तर है, नहीं। मानव केवल ऐन्द्रिय अस्तित्व नहीं। उसके मन, बुद्धि और आत्मा भी होते हैं। अतः मानव का सुख याने इन चारों अस्तित्वों से बने एकात्म मानव का सुख। इस एकात्म मानव को सुख की अनुभूति तब होती है, जब वह स्वार्थ से या स्वकेन्द्रितता से ऊपर उठता है। स्वकेन्द्रितता से ऊपर उठा हुआ मानव-व्यक्ति विश्वात्मक चेतना तक ऊँचा उठ सकता है। स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति, क्रमशः परिवार, समाज, राष्ट्र, संपूर्ण मानवता और अंततः चराचर विश्व के साथ एकात्म हो सकता है। अतः ज्ञानेश्वर महाराज कह सकते हैं – ''जो जे वांछील तो ते लाहो। प्राणिजात॥'' जिसे जिस बात की तमन्ना

है, वह उसे प्राप्त हो जाए। व्यक्ति का इस प्रकार का विकास 'धर्म' के द्वारा ही हो सकता है। इस संदर्भ में ठेंगडी जी 'धर्म' संकल्पना की चर्चा कर उसकी व्यापकता अंकित करते हैं, और निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं कि ''धर्म-प्रवण व्यक्ति-मानस और धर्माधिष्ठित समाजरचना की प्राथमिक महत्ता के परिप्रेक्ष्य में ही संघ कार्य के अधिष्ठान का विचार हम कर सकते हैं। यही ध्येयदृष्टि सामने रख कर, संघ कार्य का सिद्धान्त और उसका क्रियान्वयन कर पूरे कार्य की रचना हुई है। इसी को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कहा गया है।''

इस प्रकार का राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कैसे होगा, इस विषय में ठेंगडी जी राजसत्ता की भूमिका की विस्तृत चर्चा करते हैं, और बताते हैं कि इसमें राजसत्ता गौण है। आवश्यकता है सामूहिक नैतिक नेतृत्व की तथा राष्ट्रचेतनायुक्त समाज की तथा उसको संगठित करने की। इन दोनों के बीच राजसत्ता आएगी। संघ ने व्यक्तिगत मानस की चेतना (Consciousness) अधिकाधिक उन्नत करने का कार्य अपनाया है। इस हेतु ही उसने संघस्थान पर शाखा की पद्धति अपनाई है। संघस्थान पर योग्य संस्कार पाकर, व्यक्ति ''समाज के विभिन्न क्षेत्रों में, हिन्दू जीवन पद्धति, तथा जीवनमूल्य इनके आधार पर विविध स्वायत्त जनसंगठनों का, संस्थाओं का, रचनाओं का निर्माण करेंगे। इसी के द्वारा युगानुकूलता से धर्मस्थापना और धर्माधिष्ठित समाजरचना होते हुए राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य होगा।''

कार्यपद्धति

किन्तु, केवल ध्येय बताने से तो काम पूरा नहीं होगा। ध्येयपूर्ति के लिये रास्ता भी बताना चाहिये। यह रास्ता याने संघ की कार्यपद्धति है। श्रीमद्भगवद्गीता की परिभाषा में कार्यपद्धति याने 'करण' है। यह 'करण' है संघशाखा, दैनंदिन संघशाखा। यह साधन ''अतीव सरल, सुलभ और स्वाभाविक है।'' बाह्यतः इस साधन में आध्यात्मिकता का आविर्भाव नहीं है। किन्तु ''स्वयं के परे जाना, निजी अहंकार को समष्टि में मिलाना, यही आध्यात्मिकता का बुनियादी आयाम है, तो शाखा व्यवहार से जो बंधुता का, सामूहिकता का, आत्मलोप करने का संस्कार होता है, वह आध्यात्मिक साधना ही है।'' इस संदर्भ में प्रचार माध्यमों की उपादेयता की अत्यन्त मार्मिक चर्चा मा. दत्तोपंतजी की है और निष्कर्ष के रूप में बताया है कि ''प्रचार द्वारा हृदयपरिवर्तन नहीं हो सकता और संघ कार्य की सिद्धि के लिये न केवल मतपरिवर्तन पर्याप्त है, बल्कि मनपरिवर्तन

भी आवश्यक है।'' और मनपरिवर्तन के लिये प्रतिदिन हृदय पर संस्कार अंकित करने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से संघ में नित्य और नैमित्तिक कार्यक्रमों की व्यवस्था है। किन्तु कार्यक्रम याने कार्य नहीं होता, यह भी बात ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

संघ शाखा में लोग तो आते ही हैं। अन्यथा वह शाखा नहीं कहलाई जायेगी। किन्तु लोगों को केवल एकत्र करना याने लोकसंग्रह नहीं। और उतने मात्र से शाखा भी नहीं बनती। संघ को संस्कारयुक्त लोगों का संग्रह अपेक्षित है और ऐसी रचना भी अपेक्षित है कि जिससे ''हरेक काम के लिये व्यक्ति और हरेक व्यक्ति के लिये काम'' यह बात सिद्ध हो सके। संघस्थान यह संस्कारों की भूमि है। किन्तु कौन सा संस्कार? सबसे मूलभूत संस्कार है पारिवारिक आत्मीयता का संस्कार। दत्तोपंत बताते हैं कि ''संघ कार्य पारिवारिक भावना पर ही अधिष्ठित है।'' इस संबंध में प. पू. गुरुजी ने, बाद में बने मद्रास के संघचालक व्ही. राजगोपालाचारी के प्रश्न के उत्तर में जो पत्र लिखा उसका उदाहरण दत्तोपंत देते हैं। श्री राजगोपालाचारी ने पूछा था, ''What is your Constitution? What type of organization is it? Is it a political organization or a social organization or a trade union?'' आपके संगठन का संविधान क्या है? किस प्रकार का यह संगठन है? राजनीतिक, सामाजिक या मजदूर क्षेत्र का? श्रीगुरुजी ने अपने छोटे से उत्तर में लिखा, हमारा तो हिंदू पारिवारिक संगठन है। फरक है वह केवल अंशात्मक है, गुणात्मक नहीं। ''Ours is a Hindu family organization; the difference lies not in type but in degree.'' श्री राजगोपालाचारी का समाधान हुआ और वे मद्रास के पहले संघचालक बने।

संघ के अनुशासन के बारे में बाह्य जगत में काफी गलत धारणाएँ हैं। संघ को ठीक ढंग से न समझने वालों को लगता है कि धाक के अनुशासन बनता है। मुझे एक प्रसंग स्मरण आता है। १९५२-५३ की बात होगी। गोहत्या बंदी का कानून सरकार बनाये इस हेतु, संघ के द्वारा हस्ताक्षर अभियान चलाया गया था। उसकी समाप्ति के बाद एक गोभक्त प. पू. गुरुजी को मिलने आये और बात-बात में उन्होंने कहा, ''गुरुजी, आप एक ऐसा आदेश निकालो कि, संघ के स्वयंसेवक अपने घरों में डालडा वनस्पति का प्रयोग न करें।'' श्रीगुरुजी ने उत्तर दिया, ''संघ में ऐसे आदेश निकालने की पद्धति नहीं है।'' तो उस गोभक्त को बड़ा आश्चर्य लगा। वह तुरन्त बोला, ''आप क्या कहते हैं?

मैं जहाँ जहाँ जाता हूँ और अपनी बात रखता हूँ तो उत्तर आता है कि संघ का आदेश होगा तो हम करेंगे। और आप कहते हैं कि संघ में आदेश दिया ही नहीं जाता।'' श्रीगुरुजी ने उन्हें समझाते हुए कहा, ''देखिये, आदेश देने के लिये हमारे पास में कौन सी शक्ति (sanction) है? हमने आदेश दिया और उन्होंने नहीं माना तो हम उनको कौन सा दण्ड दे सकते हैं? अत: हम आदेश नहीं देते।'' उस व्यक्ति का फिर प्रश्न आया कि ''संघ में यह जो अनुशासन दिखता है वह कैसे आया है?'' हँसते हुए श्रीगुरुजी ने कहा, ''संघस्थान पर हम विशिष्ट पद्धति से कार्यक्रम करते हैं, उनसे एक वातावरण बनता है और उस वातावरण में से स्वयंसेवक अनुशासन सीख लेते हैं।'' उस व्यक्ति का समाधान हुआ और वह मौन हो गया। तथापि केवल वातावरण से अपेक्षाकृत फल नहीं मिलता। वातावरण तो आवश्यक ही है, किन्तु उसके साथ-साथ प्रत्यक्ष उदाहरण भी आवश्यक होता है। संघ के उच्चतम अधिकारी भी अनुशासन का पालन करके, अपना उदाहरण प्रस्तुत करते आये हैं। इससे अनुशासन निर्माण हुआ है और टिका भी है। दत्तोपंत ने इसी को 'पारिवारिक अनुशासन' कहा है। वे कहते हैं ''बहुत सारी संस्थाएँ व्यक्तिप्रधान होती हैं। एक व्यक्ति के बड़प्पन के लिये संस्था चलती है। एक नेता, अन्य सब अनुयायी होते हैं। एक आदेश देता है और अन्य सब उसका पालन करते हैं। हमारा उद्देश्य है, देशव्यापी संगठन खड़ा करना और वह भी ऐसे व्यक्तियों का, जिनमें सोचने, समझने, कार्य करने और समाज को नेतृत्व प्रदान की क्षमता है।'' ऐसा संगठन किसी एक व्यक्ति के आदेश से नहीं चल सकता। स्वयंप्रेरणा से अनुशासन की स्वीकृति आवश्यक होती है। समन्वय संघ की कार्यपद्धति में है। इसी कार्यपद्धति से संघ का ध्येय पूर्ण होगा, यह विश्वास दत्तोपंत ने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ प्रकट किया है। ''हमारा विश्वास है कि समाज संगठन तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का अपना ध्येय प्राप्त करने की दृष्टि से संघ की कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है। उसे दूसरी किसी भी पूरक कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं है। इसकी कोई वैकल्पिक पद्धति हो नहीं सकती।''

कार्यकर्ता

संघ की संपूर्ण रचना में कार्यकर्ता का सर्वाधिक महत्त्व है। संघ की शक्ति तथा प्रतिष्ठा संघ के कार्यकर्ताओं के कारण ही है। मा. दत्तोपंत के विवेचन में इसी मुद्दे को प्रधानता है। इस पुस्तक के २७२ पृष्ठों में से १२८ पृष्ठ 'कार्यकर्ता'

के हेतु दिये गए हैं। क्योंकि ''कार्यकर्ता ही अपने कार्य का माध्यम है और आधार भी है, ऐसा हम मानते हैं।'' अपेक्षित गुणों से युक्त कार्यकर्ता का निर्माण हो, इसी हेतु से संघ की कार्यपद्धति का निर्माण हुआ है। संघ ने कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिये विद्यालय नहीं खोले। न उस हेतु पुस्तकें लिखीं। किन्तु ''कार्यपद्धति का ढाँचा ही ऐसा बनाया गया है कि कार्यकर्ता स्वयं, न जानते हुए भी विकसित हो जाता है।'' सबसे अच्छी शिक्षाप्रणाली कौन सी, ऐसा मुझे से कोई प्रश्न करेगा तो मेरा उत्तर रहेगा कि जिस शिक्षाप्रणाली में विद्यार्थी को ऐसा नहीं लगता कि कोई हमें जबरदस्ती सिखा रहा है, और फिर भी उसे शिक्षा प्राप्त होती है, वह प्रणाली सर्वोत्तम। देशभक्तिशून्य, जातिभेद्ग्रस्त, स्वार्थपरायण हिन्दू समाज को डॉक्टर हेडगेवार यदि ऐसा आह्वान करते कि, हिन्दुओं, आप में इतने दोष हैं, आइये हमारी शाखा में, मैं आपके दोष हटाकर, आपको देशभक्तिपरिपूर्ण, समतायुक्त और निःस्वार्थ सेवक के रूप में परिवर्तित करने का दावा करता हूँ, तो एक भी व्यक्ति संघस्थान पर कदम नहीं रखता। उलटा उलाहना देता कि भले आए हमें देशभक्ति और निःस्वार्थ सेवाभाव सिखाने वाले। डॉक्टर हेडगेवार समाज का यह मानसशास्त्र जानते थे। अतः उन्होंने लोगों को खेलने के लिये बुलाया। दण्डादि शारीरिक कार्यक्रम करने की शिक्षा दी। और इन कार्यक्रमों की तथा कुल वातावरण की ऐसी रचना की कि, संघ के इन सामान्य कार्यक्रमों से देवदुर्लभ कार्यकर्ता तैयार हुए। एक बार प. पू. गुरुजी को सेना के एक वरिष्ठ अधिकारी ने पूछा कि जो साहस का कार्य करने के लिये हमारे पेशेवर सैनिक भी कतराते हैं, वह आपके स्वयंसेवक कैसे कर जाते हैं, आप उन्हें कौन सी शिक्षा (training) देते हैं; तो श्रीगुरुजी ने उत्तर दिया, ''हमारी कबड्डी से यह साहस आता है,'' संघ की कार्यपद्धति की विशेषता यह है कि ''मॅन विथ कॅपिटल एम्'' बन जाता है।

अपने विस्तृत विवेचन में दत्तोपंत कार्यकर्ता के अनेकानेक गुणों की तथा खतरों की, बड़ी मूलगामी और व्यापक चर्चा करते हैं। यह चर्चा इतनी गहन और सभी संगठनों के लिये हितप्रद है कि, सभी ने उसको अवधानपूर्वक पढ़ना चाहिये और उस पर मनन करना चाहिये।

किसी भी कार्य की सही पहचान, सिद्धान्त (philosophy) से या कार्यपद्धति (methodology) से नहीं होती। वह कार्यकर्ता से होती है। श्री ठेंगडी, एकनाथ जी रानडे को उद्धृत करते हैं। एकनाथ जी ने कहा, ''कार्य और कार्यकर्ता

इनमें इतना अनिवार्य संबंध है कि मैं यदि किसी कार्यकर्ता को देख लेता हूँ, उसके स्वभाव, गुणदोष आदि पूरी तरह समझ लेता हूँ, तो फिर उसके कार्यक्षेत्र में न जाते हुए भी कार्यक्षेत्र का पूरा पता चलता है।'' श्री ठेंगडी लालटेन की काँच का उदाहरण देते हैं, ''काँच लगने से पवन का झोंका आ गया तो भी वह ज्योति बुझेगी नहीं। हमको अच्छा प्रकाश मिलता है। इस काँच में से हम ज्योति को भी देख सकते हैं। लेकिन काँच पर यदि धूल जम गई तो न प्रकाश अच्छी तरह से बाहर आएगा न हम ज्योति को देख सकेंगे। .... कार्यकर्ता भी काँच के जैसा निष्कलंक और पारदर्शी होना चाहिये।'' संघ के संस्कारों के कारण ध्येय प्राप्ति की तीव्र इच्छा स्वयंसेवकों के मन में पैदा होती है और परिणामस्वरूप अपने निजी जीवन के बारे में वह निर्णय करता है कि हम इस कार्य में जुट जायेंगे। कार्यकर्ता का यह निजी आंतरिक संगठन ठीक बन गया कि फिर वह पीछे नहीं देखता, निराश नहीं होता, वह आगे ही बढ़ता है।

कोई प्रश्न पूछेगा कि, कार्यकर्ता ने हमेशा दूसरों के, समाज के हित की ही चिंता क्यों करनी चाहिये? ठेंगडीजी का उत्तर है — The best should suffer so that the rest may prosper.

कार्यकर्ता के लिये आत्मविश्वास सबसे महत्त्व का गुण है। ध्येय के साथ एकात्म होने से आत्मविश्वास निर्माण होता है। और आत्मविश्वास मन को प्रभावित करने लगा कि मनुष्य संकटों में भी अडिग रहता है। दत्तोपंत ने मुद्राराक्षस नाटक में आर्य चाणक्य की एक उक्ति का जो उद्धरण दिया है, वह एकदम सही है। अनेक लोग चाणक्य को छोड़ कर चले गए, किन्तु चाणक्य निराश नहीं हुए। बोले,

''एका केवलमर्थसाधनविधौ, सेनाशतेभ्योधिका।
नन्दोन्मूलन दृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम॥

सैकड़ों सैन्यदलों से भी बढ़कर जो मेरी बुद्धि है और जिसकी महिमा नन्दों के साम्राज्य को समाप्त करने के समय लोगों ने देखी है, वह मेरी बुद्धि केवल न जाए। पहले महायुद्ध में एक छोटे फ्रेंच सेना अधिकारी की हिम्मत का उदाहरण ठेंगडीजी ने दिया। उस अधिकारी ने सेनापति को संदेश भेजा कि – My right recedes. My center gives way. Situation is excellent, I shall attack. ''मेरी दाहिनी बाजू पीछे हट गई है, मध्य बाजू टूट गई है। परिस्थिति बहुत अच्छी है। मैं प्रत्याक्रमण करूँगा।''

इस संदर्भ में ठेंगडीजी ने गुरु गोविंदसिंह, नेपोलियन, जनरल दि गॉल, बाजीप्रभु, रोमन वीर व्हेटेशियस के जीवन के ऐसे प्रसंग वर्णित किये हैं कि पढ़ने वालों के दिल भी पराक्रम से परिपूर्ण हो जाएँगे।

किसी भी बड़े कार्य का प्रारम्भ छोटा ही रहता है। श्री दत्तोपंत बताते हैं कि उनतीस हजार फीट ऊँचे एवरेस्ट पर पहुँचने की कोशिश करने वालों का पहला कदम उन्तीस इंच का ही होता है। वह चलता है, बढ़ता है और अंततः शिखर पर पहुँचता है। कार्यकर्ता को यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए। इसी कार्यकर्ता को ठेंगडीजी ने व्यवहारी आदर्शवादी (practical idealist) कहा है। हम देखते हैं कि अनेक आदर्शवादी केवल ऊँची-उँची उड़ानें भरते हैं। जमीन पर क्या है यह उनकी आँखों से ओझल होता है। और ज्यादा व्यवहारी लोग केवल जमीन की स्थिति में ही उलझ जाते हैं। क्या है इसकी चिन्ता में वे इतना डूब जाते हैं कि, जो नहीं है किन्तु होना चाहिये, इसका विचार ही उनके मन में आता नहीं। ऐसे एकांगी सोचने वाले को बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। यहाँ मुझे अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ की स्काईलार्क कविता का स्मरण होता है। कवि, स्काईलार्क पक्षी को बुद्धिमत्ता का नमूना मानता है। क्यों ? कवि की पंक्तियाँ हैं –

''Type of the wise who soar but never roam
True to the kindred points of heaven and home.'' स्काईलार्क खूब ऊँचा उड़ता है, किन्तु भटकता नहीं। स्वर्ग और धरा दोनों पर उसकी समान निगाह रहती है।

कार्यकर्ता में आत्मविश्वास से क्या अहंकार निर्माण नहीं होगा ? यह खतरा अवश्य है। दत्तोपंत इसका उपाय बताते हैं, ''अपने कार्य के प्रति जो प्रतिबद्धता होती है, उससे व्यक्तिगत अहंकार को वह ध्येयनिष्ठ आत्मविश्वास में परिवर्तित करता है और यह परिवर्तन कार्यकर्ता की विकास प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण अवस्था होती है।'' दत्तोपंत की इस चिकित्सा से कौन असहमत होगा।

ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता का ध्यान अपने लक्ष्य पर ही केन्द्रित रहना चाहिए, इसमें शक नहीं। किन्तु क्या इसमें आजूबाजू की परिस्थिति का भान नहीं छूटेगा ? क्या यह एकांगी नहीं होगा ? ठेंगडीजी कहते हैं कि ऐसा होने की आवश्यकता नहीं है। सब तरफ उसका ध्यान रहे किन्तु उसकी एकाग्रता लक्ष्य पर ही रहे। अत्यन्त मार्मिक शब्दों का उपयोग कर वे बताते हैं कि ''Many dimensional vision होकर भी Single point concentration होना चाहिये।''

क्या व्यक्ति का बड़प्पन पद पर निर्भर होता है? कई मानते हैं कि, हाँ, स्थान से कीमत बनती है। संख्या ११११ में चारों स्थानों पर 'एक' यही अंक है, किन्तु स्थानभेद के कारण, उसके मूल्य में अंतर आया है। पहले 'एक' की कीमत एक हजार है, तो अंतिम 'एक' की कीमत केवल एक है। किन्तु दत्तोपंत को यह मूल्यांकन मान्य नहीं। वे बताते हैं ''*प्रासाद शिखरस्थोऽपि काको न गरुडायते*'' – ऊँचे महल पर बैठा कौआ, गरुड़ नहीं बनता, और आगे कहते हैं कि ''केवल पद या स्थान पर बड़प्पन नहीं। बड़प्पन कुछ आंतरिक या यथार्थ मूल्य होता है, ऐसी हमारी धारणा है।'' संघ में नेतृत्व की अवधारणा प्रशासनिक या संवैधानिक नहीं बल्कि नैतिक है। नैतिक नेतृत्व, हार-जीत की परवाह नहीं करता, यह बताते हुए उन्होंने पं. दीनदयाल उपाध्याय और डॉ. आंबेडकर के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

कार्यकर्ता ने निरन्तर आत्मपरीक्षण करते रहना चाहिये तथा विनम्र भाव से उसका व्यवहार होना चाहिये। कर्तृत्व होते हुए भी विनम्र भाव रहा तो, वह नम्रता व्यक्ति की ऊँचाई बढ़ाती है। भर्तृहरि का वचन सुप्रसिद्ध है। *नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः* (नीतिशतक ६०) याने नम्रता से वे ऊँचे होते हैं और दूसरों के गुणों का वर्णन कर अपने गुणों को प्रकट करते हैं। कार्यकर्ता समर्पित भाव धारण तो करता है। वह उसका भूषण है। किन्तु समर्पण का भी अहंकार उत्पन्न हो सकता है। उससे सावधान रहने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में वे अपना ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। और उसमें परिवर्तन कैसे आया यह बताते हैं। प.पू. गुरुजी अनेक दिन, ठेंगडीजी का बिस्तर स्वयं कैसे उठाकर रखते थे और उन्होंने ना कभी इसका उल्हाना दिया और न अपने काम में रुकावट डाली – इसकी कथा बड़ी मार्गदर्शक है। इसी संदर्भ में वे लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, मोहम्मद पैगंबर साहब, डॉ. हेडगेवार, दीनदयाल उपाध्याय आदि के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। विनम्रता की सीमा इतनी बढ़नी चाहिये कि वह कार्यकर्ता आत्मलोप की सीमा तक पहुँच जाय। ठेंगडीजी कहते हैं ''निरहंकारी ध्येयनिष्ठा से संपूर्ण आत्मलोप करनेवाला कार्यकर्ता ही, लोगों को पता न लगते हुए स्वाभाविक रूप से उनका नेतृत्व संपादन कर सकता है।''

समाज का सच्चा नेता, योग्यता और क्षमता होते हुए भी समाज से ज्यादा दूर नहीं होता। वह इतनी ही दूरी रखता है कि समाज को ऐसा लगे कि हम उसकी बराबरी कर सकते हैं। बाळासाहेब देवरस ने डॉ. हेडगेवार के बारे में

यह कहा था कि, हमें हमेशा ऐसा ही लगता था कि डॉक्टरजी हमसे केवल दो कदम आगे हैं। हम उनकी पंक्ति में आने के लिये अपना वेग बढ़ाते और उस स्थान पर पहुँचते तो ध्यान में आता था कि डॉक्टरजी और दो कदम आगे हैं। दत्तोपंत इस मुद्दे पर सन्त ज्ञानेश्वर महाराज की एक ओवी प्रस्तुत करते हैं – *मार्गाधारे वर्तावे। विश्व हे मोहरे लावावे। अलौकिक नोहावे। लोकांप्रती॥*

धीरे-धीरे कार्यकर्ता का कद बढ़ता है। उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। सुख के साधन उपलब्ध होते हैं। कुछ लोग जानबूझ कर ऐसे साधनों को ला देते हैं। फिर उन साधनों का ही लालच निर्माण होता है। ऋषियों की तपस्या में बाधा डालने के इन्द्रदेव के हथकंडे सर्वविदित हैं। अतः, कार्यकर्ता ने, साधनों की विपुलता से संभवनीय स्खलन से बचना चाहिये। पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र ने ठेंगडीजी को बताया था कि, किसी संस्था को अधःपतित करने का उपाय है, वहाँ सुखपरस्त कार्यकर्ता (comfort loving cadre) और प्रतिष्ठाग्रस्त नेता (status conscious leaders) निर्माण करना। ठेंगडीजी चेतावनी देते हैं कि ''कार्यकर्ताओं में कार्य के विकास के कारण प्राप्त होने वाली सुविधाओं में निहित हितसंबंध निर्माण होते हैं और वे व्यवस्थाएँ वैसी ही बनी रहने में भी हितसंबंध निर्माण होते हैं। वास्तव में ऐसी सभी व्यवस्थाओं का तथा सुविधाओं का अपने कार्यवृद्धि के लिये उपयोग करते समय भी न उसके प्रसंगवशात् अभाव के कारण मजबूरी निर्माण होनी चाहिये, न तो उन सुविधाओं का मोह भी होना चाहिये। .... अगर यह नहीं हुआ तो, एक तो प्राप्त हुए पद के अहंकार के कारण, या सुविधाओं के मोह के कारण, प्रमुख कार्यकर्ता अपना स्थान बनाए रखने के लिये चतुराई के प्रयोग करता है।''

इस पर और अधिक टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। माननीय दत्तोपंत प्रदीर्घ काल से कार्यकर्ता रहे हैं। उनके अनुभवों का निचोड़ इस पूरे प्रकरण में है। वह मूल में ही पढ़ना चाहिये। मुझे तो यह संपूर्ण पुस्तक, एक उपनिषद् की भाँति, प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त मौलिक ज्ञान से ओतप्रोत लगती है। हाँ, उपनिषद्। संघोपनिषद्।

– मा. गो. वैद्य

अनुक्रमणिका

कार्यकर्ता का अधिष्ठान

■ इन्हीं बातों को पुन: पुन: क्यों दोहराया जाए?

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हम जैसे कार्यकर्ता हरदिन संघशाखा पर अपनी मातृभूमि और परमात्मा इन दोनों की हृदय से प्रार्थना करते हैं। इस प्रार्थना में संघ की ध्येयसृष्टि, कार्य का स्वरूप, कार्य का साधन, स्वयंसेवक-कार्यकर्ताओं का जीवनविकास तथा उनके सामने रखा हुआ जीवितहेतु आदि सभी बातों को हररोज दोहराते हैं। सूत्ररूपेण देखा जाए तो *'परम् वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्।'* यह संघ का ध्येयसंकल्प है। यह ध्येय प्राप्त करने के लिए अत्यावश्यक पूर्वशर्त है– *'विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्।'* और इस धर्मसंरक्षण का साधनरूप आधार है– *'विजेत्री च न: संहता कार्यशक्ति:।'* और आशिष माँगी है, इसी हेतु कटिबद्ध 'वयं हिन्दुराष्ट्रांगभूता:' (स्वयंसेवक-कार्यकर्ता) समर्थ बने।

मतलब है, विशाल संगठन के बलपर ही निर्माण हुई, हम ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ताओं की कार्यशक्ति, धर्म के संरक्षण के आधार पर, राष्ट्र को परम् वैभवप्रत ले जाएगी।

तो वास्तव में रा. स्व. संघ क्या है? संघ का अधिष्ठानरूप सिद्धान्त क्या है? अंतिम गन्तव्य क्या है, आदि बातों की जानकारी तो हमें होती ही है। इन मुद्दों को फिर एक बार दोहराने की वैसे तो आवश्यकता नहीं है। लेकिन जैसे संत रामदास ने अपने विवरण में एक जगह कहा है –

कर्म केलेंचि करावें। ध्यान धरिलेंचि धरावें
विवरलेंचि विवरावें। पुन्हा निरूपण॥ १
तैसें आम्हास घडलें। बोलिलेचि बोलणें पडिलें।
कां जें बिघडलेंचि घडलें। समाधान॥ २ (दासबोध ११.५.१, २)

अर्थात्, जो बातें एक बार बताई जाती हैं, उनसे कुछ समाधान प्राप्त होता है। बाद में परिस्थिति में और परिणामस्वरूप मानसिकता में भी कुछ परिवर्तन आता

है, तो उन बातों के संदर्भ में पहले प्राप्त हुआ समाधान क्षीण होता है। कार्य करनेवालों के मन में आशंकाएँ पैदा होती हैं। ऐसी स्थिति में मन में स्थिरता लाने हेतु, पहले ही जो बातें बताई थीं, वे पुन: दोहरानी पड़ती हैं।

अपने रा. स्व. संघ के हम जैसे कार्यकर्ताओं के बारे में भी यही बात कभी कभी रहती है। जैसे ऊपर बताया है पहले प्राप्त हुआ समाधान कभी कभी ढल जाता है तो पहले से अवगत बातों का पुन: विवरण करना पड़ता है। स्वयंसेवक तो किसी बंद बॅग में या ग्लास हाऊस में रहता नहीं। उसके मनपर भी बाह्य वातावरण का असर होता रहता है। सभी के साथ संपर्क रखना और हरेक को संघस्थान पर लाने का प्रयास करना यह तो प्रत्येक स्वयंसेवक का काम ही है। ऐसी स्थिति में समाज में जो वायुमंडल रहता है, उसका कुछ न कुछ असर स्वयंसेवकों पर होना तो स्वाभाविक ही है। 'संघकार्य परिस्थितिनिरपेक्ष है' ऐसा तो हम सब मानते हैं। इसका मतलब है, अनुकूल या प्रतिकूल, परिस्थिति कैसी भी हो, संघकार्य की आवश्यकता है ही। लेकिन इसके साथ यह भी ध्यान में लेना आवश्यक है कि संघकार्य परिस्थितिनिरपेक्ष है ऐसा मानने वाले स्वयंसेवक का मन तो परिस्थितिसापेक्ष ही रहता है। स्वयंसेवक स्वयं अपनी बुद्धि से सोचविचार कर, अपने कार्य की परिस्थितिनिरपेक्षता जानता है, फिर भी उसका मन तो परिस्थितिसापेक्ष ही रहता है। अत: बार बार 'अपना कार्य क्या है? वह कितनी मात्रा में हुआ है और बाकी कितना रहा है?' आदि मुद्दों पर उसका लेखाजोखा stock taking लगातार चलता रहता है।

पहले जमाने की तुलना में आज प्रसारमाध्यमों की व्यापकता से अपने स्वयंसेवक भी कुछ जादा ही चिकित्सक बने हैं। पू. गुरुजी कहते थे, 'मैं अखबार नहीं पढ़ता।' वे मज़ाक में बोलते थे या वह सही था, हम लोग तो जानते नहीं। लेकिन उनके कहने से हमें जो बोध लेना आवश्यक है वह यह है, कि आसपास होने वाली गतिविधियों से विचलित न होते हुए अपना कार्य करते रहना। उससे ही सब ठीक हो जाएगा। लेकिन आजकल हम सब जरा ज्यादा ही जिज्ञासू बने हैं। देश में क्या हो रहा है, क्या नहीं होता, इसकी जरा ज्यादाही चिंता लोगों के मन में होती है। यह तो सच है कि स्वयंसेवकों को आसपास होने वाली सभी गतिविधियों के बारे में जानकारी होनी चाहिए, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। राजकारण, समाजकारण, अर्थकारण, विज्ञान, अत्याधुनिक तकनीकी, अवकाशविज्ञान, शिक्षाक्षेत्र आदि सभी क्षेत्रों के बारे में उनको साधारण जानकारी तो होनी ही चाहिए। लेकिन जैसे कि संघकार्य का भवितव्य ही इन

सभी बातों पर निर्भर है; ऐसी मनस्थिति में स्वयंसेवक प्रश्न पूछते हैं तब मन में विस्मय पैदा होता है। ऐसा लगता है, इतने दिन 'दक्ष-आरम्' करने वालों में इतना प्रोग्रेसिविजम आया कहाँ से। ये स्वयंसेवक अपना मूल सैद्धान्तिक विचार कैसे भूल जाते हैं।

तब फिर एक बार समर्थ रामदास जी की यह उक्ति याद आती है – 'बोलिलेचि बोलणे घडले। का जे बिघडलेचि घडले। समाधान॥' प्राप्त समाधान ढ़ल जाता है तो पहले ही बताया हुआ, पहले ही जो समझ में आया हुआ था वह फिर एक बार निःसंदिग्ध रूप में दोहराना पड़ता है।

और भी एक बात है। ऐसे बाह्य प्रतिकूल वायुमंडल में स्वयं को सम्हालना पड़ता है और इसमें एक दूसरे की सहायता होती है। इस दृष्टि से भी विषय पुनः पुनः सामने रखने की आवश्यकता होती है। मनुष्य का मन चंचल होता है। घोडे पर डटकर बैठक जमाकर अगर नहीं बैठे, तो घोड़ा हम को पीठपर से कब फेंक देगा उसका भरोसा नहीं रहता। मनुष्य के मन के बारे में यही बात है। उसको सजगता से लगातार नियंत्रण में रखना पड़ता है। बाह्य परिस्थिति देखकर, उसका अनिष्ट परिणाम हमारे मन पर न हो इस दृष्टि से हमारे जो सुसंस्कार हैं वे दृढ़ रखना आवश्यक है। मनुष्य के मन में कमजोरियाँ तथा अन्यान्य प्रकार की त्रुटियाँ कभी भी आ सकती हैं, लेकिन इन त्रुटियाँ या कमजोरियों का शिकार हम नहीं बनेंगे ऐसा दृढ़ संकल्प करने की आवश्यकता होती है और ऐसे संकल्प के लिए दूसरों से सहायता मिल सकती है। इसलिए भी परिचित बातें बार बार दोहराना आवश्यक होता ही है। इसी हेतु अपने 'कार्य का अधिष्ठान, अपनी कार्यपद्धति और कार्यकर्ता' ऐसे विषयों के कुछ सूत्र, जो पहले ही सामने रखे गए हैं, फिर एक बार दोहराने की कल्पना है।

हम सब जानते हैं कि संघ जैसा व्यापक स्वयंसेवी संगठन कुछ विशाल सैद्धान्तिक अधिष्ठान, कुछ ध्येयसंकल्पना, इन के आधार पर ही खड़ा होता है। ऐसे विशाल, व्यापक सैद्धान्तिक अधिष्ठान के कारण ही कार्यकर्ताओं को व्यापक दृष्टि प्राप्त होती है।

वैसे तो किसी गुनहगारी गुट का भी संगठन होता है। हितसंबंधी लगाव होते हैं। जो प्रमुख रहता है उसके प्रति निष्ठा भी होती है। अनुशासन भी होता है। लेकिन निजी स्वार्थ के परे ले जाने वाला कोई भी ध्येयसंकल्प सामने न होने के कारण, केवल निहित हितसंबंधों से बंधी हुई एक टोली, इसके अलावा ऐसे संगठन का कोई स्थान नहीं होता है। लेकिन संघ जैसे संगठन के सामने

व्यापक ध्येयसंकल्पना रहती है, कुछ सैद्धान्तिक अधिष्ठान होता है। उसीके कारण कार्यकर्ता की दृष्टि स्वार्थपरायणता के पार जा कर स्वाभाविकता से व्यापक बनती है।

इसलिए हमारे संगठन के लिए प्राथमिक महत्त्व की बात है 'हमारा अधिष्ठान।' हमारा अधिष्ठान जितनी मात्रा में विशाल, व्यापक, प्रेरणादायी तथा हेतुपूर्ण रहेगा, कार्य उतना ही सफल रहेगा। 'अधिष्ठान' शब्द का पूरा विवरण करना बहुत कठिन है। पश्चिम में 'अधिष्ठान' यह संकल्पना न होने के कारण स्थूलरूपेण ideology इस शब्द का प्रयोग करते हैं। (वास्तव में ideology इस शब्द का प्रयोग नेपोलिअन ने प्रथम अपने विरोधी विचारकों के तथा आदर्शवादियों के संदर्भ में बड़ी तुच्छता से किया था। बाद में कार्ल मार्क्स ने इस शब्द का उपयोग तत्त्वप्रणाली इस दृष्टि से किया, तब इस शब्द को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।) हमारे लिए अधिष्ठान का अर्थ होता है संगठन की प्रेरणा, उसका सैद्धान्तिक आधार, उसका ध्येयसंकल्प, ध्येयपूर्ति तक ले जाने वाला ऊर्जास्रोत तथा उसका अंतिम गंतव्य। जो विचार या सैद्धान्तिक संकल्पना, कार्य की नींव से लेकर कलश तक, संपूर्ण कार्य में ओतप्रोत है उसे हम अधिष्ठान कहते हैं। उसीके संदर्भ में, उसी के प्रकाश में ही संगठन का विकास होता है और अपने ध्येयपथ पर हर कदम के साथ, विकास की हर छोटी छोटी अवस्था से इस अधिष्ठान का ही उपयोजित, प्रात्यक्षिक रूप व्यक्त होता जाता है यह हमारी धारणा है।

■ मनुष्य जीवन का उद्दिष्ट क्या है ?

इस दृष्टि से हमारे संगठन के अधिष्ठान रूप ध्येय संकल्पना का विचार हम प्रारंभ करते हैं तो हम प्रारंभिक प्रश्नपर आते हैं। 'मनुष्यजीवन का उद्दिष्ट क्या है।' मनुष्यजीवन की किसी भी तत्त्व प्रणाली का यही प्रारंभिक प्रश्न होता है। हमारा संगठन मनुष्यों का संगठन है, तो संगठन के अधिष्ठान का विचार मनुष्यजीवन के अधिष्ठान के संदर्भ में ही हो सकता है।

इस संदर्भ में मुझे 'एलिस इन वंडरलैंड' इस नाम की, एक छोटी बच्ची की अंग्रेजी कहानी की याद आती है। यह जो एलिस नाम की छोटी बच्ची थी वह बाजार के भीड-भडक्के में अपनी माँ से बिछुड जाती है। बहुत घबरा कर इधरउधर देखते-देखते वह एक खुले निर्मनुष्य रास्ते पर आ पहुँचती है। सोच रही थी कि 'मैं घर कैसे पहुँच सकती हूँ। माँ कैसे मिलेगी।' वह रोने लगी। इतने में सामने से एक बिल्ली आई। बच्चों की कहानियों में मनुष्य और

पशुओं की भी बातचीत हो सकती है। तो एलिस ने बिल्ली से पूछा, ''बिल्ली मौसी, मुझे यह बताओ कि मेरे घर का रास्ता कौन सा है।' बिल्ली कहती है, 'यह बताओ कि तुम्हारे घर का ठिकाना कहाँ है, पता क्या है? पता बताओगी तो मैं तुझे तेरे घर का रास्ता ठीक तरह से बता सकूँगी।' एलिस कहती है, 'यही तो गड़बड़ है। मैं घरका पता-ठिकाना नहीं जानती।' उस पर बिल्ली ने कहा, 'यदि तुम खुद नहीं जानती कि कहाँ पहुँचना है, तो वहाँ का रास्ता मैं तुम्हें कैसे बता सकती हूँ?'

बच्चों की इस कथा का तथ्य यह है कि दुनिया में बहुत सारे लोगों को 'कहाँ पहुँचना है' यह निश्चित रूप से पता ही नहीं रहता। इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि कोई गुमराह हो गया है, गलत राहपर जा रहा है। अपने देश में भी किसी के बारे में यह कहना कठिन है कि उसका रास्ता गलत है, क्योंकि अंतिम गंतव्य का पता किसी के पास नहीं है, दौडधूप तो बहुत ही चल रही है, कहाँ जाना है यह पता नहीं है।

मनुष्यजीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है, गंतव्य क्या है, इस दृष्टि से उस की प्रेरणा क्या होगी, इस विषय में श्रेष्ठ लोगों ने जो विचार बताए हैं, वे अलग अलग हैं, किन्तु उन्हें प्रमुख रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक विशुद्ध भौतिकतावादी (materialistic) और दूसरा अभौतिकतावादी (non- materialistic)। मैं 'आध्यात्मिक' (spiritualistic) शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ क्योंकि जो लोग भौतिकतावादी नहीं हैं, वे सारे आध्यात्मिक होंगे ऐसा नहीं है।

लेकिन सही बात तो यह है कि दोनों दृष्टि से देखा जाए तो भी केवल मनुष्य का ही क्यों, समूचे जीवधारियों का जीवनोद्देश्य तो हमेशा के लिए तय हो गया है। प्राचीन ऋषिमुनि, महर्षि तथा द्रष्टा - तत्त्वज्ञ इन्होंने जीवन का जो लक्ष्य बताया है, वही आज कल के सुधारक, पुरोगामी, क्रांतिकारी, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के समर्थक, इन्होंने भी बताया है। इन सभी के विचारों का एक ही सूत्र है। वह है - 'जीवन का लक्ष्य सुख ही है।' समूचे जीवन की यात्रा सुख की दिशा में ही हो रही है। प्राचीन ऋषि और आज के हिप्पी संप्रदाय के लोग - दोनों के मन में एक ही लगन है। वे सभी सुख की ही खोज में हैं। इतना ही है कि उनके मार्ग अलग अलग हैं, क्योंकि उन की सुख की कल्पना अलग अलग है। दुनिया में ऐसा कोई भी व्यक्ति या जीवमात्र नहीं है कि जिस को दुख की कामना है। लेकिन हरेक की अलग अलग सुख कल्पना होने के कारण फलाना मार्ग अच्छा कि दूसरा, ऐसी मतभिन्नता को अवसर मिलता है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो पश्चिमी लोगों का प्रातिनिधिक विचार भौतिकतावादी, इहवादी है। इसका मतलब यह नहीं है कि भौतिकतावादी लोग हमारे देश में नहीं हैं, केवल वहाँ ही हैं। वास्तव में इहवादी तत्त्वज्ञान का जन्म ही हिन्दुस्थान में हुआ है। युरप में Materialistic Philosophy का प्रारंभ किया दो हजार साल पहले ग्रीक तत्त्वज्ञ डिमॉक्रेटिस ने। उससे भी हजारों साल पहले बृहस्पति ने हिन्दुस्थान में 'असतो सत् अजायत।' यह सूत्र बताया जिसे आज पश्चिमी विज्ञान भी Materialistic Philosophy का आद्य सूत्र मानता है। इस सूत्र का अर्थ है, Out of non-existence emerged existence', 'अनास्तित्वमें से अस्तित्व उभरकर आया।' मतलब, सृष्टि का निर्माण किसी सचेतन, आत्मिक तत्त्व से नहीं हुआ। वैसा कुछ निर्माणक कारण न होते हुए ही सृष्टि का प्रारंभ हुआ। तो हमारे यहाँ भी materialism रहा है और पश्चिमी विचारकों के समान ही हमारे materialist philosophers का कहना है। हमारे यहाँ materialism के आखिरी आचार्य चार्वाक माने गए हैं। जीवन में क्या करना, कैसे जीवन बिताना इस संदर्भ में उन्होंने कहा है –

यावत् जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:।

अर्थात् जब तक जीवन है तब तक सुख से रहो, आनंद से रहो। कर्जा लेकर भी उपभोग लो। हिन्दू होने के कारण उनकी उपभोग की कल्पना घृत याने घी पीने की थी। शराब पीने की नहीं थी। ऐसा उपभोग क्यों ले? वे कहते हैं कि मरने पर तुम्हारा शरीर जलाया जाएगा। फिर तुम वापस नहीं आने वाले हो। याने eat, drink and be merry ! ऐसा चार्वाक ने भी कहा है। यही बात पश्चिम में अलग शब्दों में कही गई, जिसे उपभोक्तावाद ऐसा उन्होंने कहा। आजकल consumerism ऐसा उसका नाम है।

उपभोग यही सुख है इस विचार के श्रेष्ठ प्रणेता इस नाते उमरखय्याम पहचाने जाते हैं। वास्तव में उमरखय्याम ने जो रुबाइयाँ लिखी हैं वे ओछी नहीं हैं, उनमें बहुत दार्शनिक तत्त्व हैं। उनकी रुबाइयों की यह विशेषता है कि अनपढ़ व्यक्ति और अच्छे अच्छे विचारक भी चाव से गाते एवं पढ़ते हैं। यह माना जाता है कि खय्याम केवल उपभोग के पीछे था। किन्तु उपभोग लेते लेते वह कहता है कि जैसे गुलाब सूख जाता है, गुलाब के साथ वसंत ऋतू भी सूख जाता है। बहुत दुख की बात है कि यौवन की सुगंध ग्रंथी समाप्त हो जाती

है और इस लताकुंज में बुलबुल कहाँ से आई और कहाँ निकल जाती है, पता नहीं चलता, इसलिए वह अपनी साकी से कह रहा है,

Ah! Come with old Khayyam and let the wise
To talk; for one thing is cerain that life flies
One thing is certain and the rest all lies!
The rose that has once blown, for ever dies! *

सुख क्या है, जीवन का स्वरूप क्या है यह आध्यात्मिक चर्चा, बुद्धिमान लोगों को करने दो। एक बात निश्चित है, फूल एक ही बार खिलता है और हमेशा के लिए खत्म हो जाता है। बस! यही केवल सत्य है।

How time is slipping underneath our feet .....
..... And lo!, the bird of time is on its wing.

जीवन बह रहा है, बड़ी तेजी से हाथ से निकल रहा है। इस लिए,

Ah! Love! Come and fill the cup that clears
Present from past regrets and future fears
Tomorrow? why? tomorrow, I may be
One with yesterday's seven thousand years. *

आओ! भूतकाल का बोझ और भविष्य की चिंताएँ वर्तमान से दूर करनेवाला यह प्याला भर दो। पता नहीं 'कल' होगा या नहीं? उस 'कल' के साथ मैं हजारों वर्षों के अतीत में समा जाऊँगा। और इसलिए वह कहता है –

Here with a loaf of bread beneath the bough
A flask of wine, a book of verse and thou
Beside me singing in the wilderness
And wilderness is paradise enow! *

बस्स! एक रोटी का टुकडा, एक मदिरा का प्याला, हाथ में एक कविता की पुस्तक और साथ में तुम। और तुम कैसी? तो मेरे बाजू में इस वीराने में गा रही हो ऐसी, तब यह वीराना ही स्वर्ग बन जाता है।

---

* उमरखय्याम के रुबाइयों के फिट्जेरल्ड के किए अनुवाद से.

तात्कालिक उपभोग का इतना सुंदर वर्णन अन्यत्र शायद नहीं हो सकता है। तो यह एक विचार हो सकता है। जिसको जादा गहराई से सोचना ही नहीं, उसको बहुतही जँचता है, प्रभावित भी करता है। सामान्य जनों का विचार यही होता है। भौतिकतावादियों का कहना यही है कि उपभोग से ही सुख मिलता है। जिव्हा इंद्रिय है - रसगुल्ला विषय है; दोनों का संयोग होता है तो बड़ा आनंद होता है। कान इंद्रिय है – लता मंगेशकर का गायन विषय है; दोनों के सहयोग से बड़ा आनंद मिलता है। आँखें इंद्रिय हैं - कश्मीर की घाटियाँ विषय है; आँखों से देख लूँ तो बड़ा आनंद मिलता है। भौतिकतावादियों ने कहा है कि अपने इंद्रियानुकूल विषय सेवन करते जाइए। जैसे जैसे पूर्ति होगी वैसे वैसे सुख प्राप्त होगा। शोपेनहोअर ने तो सुखप्राप्ति का समीकरण equation भी अपने World as Will and Representation इस ग्रंथ में हमारे सामने रखा है –

$$\frac{\text{Desires fulfilled}}{\text{Desires entertained}} = \text{Extent of Satisfaction}$$

मन में पैदा हुई इच्छाएँ और तृप्त, सफल हुई इच्छाएँ इन में जो नाता रहेगा, उससे सुख की मात्रा मालूम होती है। एक बात निश्चित है कि सुख की मात्रा का सदैव अपूर्णांक ही रहेगा। इसको पूर्णांक के नजदीक ले जाने के लिए, या तो desires entertained - मन की इच्छाएँ कम करनी पड़ेंगी, नहीं तो सफल होने वाली इच्छाओं की desires fulfilled मात्रा बढ़ानी पड़ेगी। तो इस विचारधारा के अनुसार सुख याने प्राप्त समय का शारीरिक सुख।

■ फिर हमारी सुख की कल्पना क्या है ?

हमारे यहाँ माना गया है कि जीवन ऐसे टुकड़ों टुकड़ों में बाँटा नहीं जा सकता, न मनुष्य का व्यक्तिमत्त्व याने केवल उसका शरीर है। मनुष्य याने शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन सभी घटकों का मेल है। जैसा जीवन एकात्म है वैसा मनुष्य का व्यक्तिमत्त्व भी एकात्म है। तो हमारे यहाँ सोचा गया कि क्या 'इस समय का शारीरिक सुख' यह सुख की परिभाषा ठीक है? नहीं! जीवन एकात्म है, मानवी व्यक्तिमत्त्व भी एकात्म है तो सुख की केवल शारीरिक कल्पना हो ही नहीं सकती। जिनको स्वयं के जीवन के बारे में इतना गहराई से सोचना नहीं, उन्हें लगता है कि सैद्धांतिक दृष्टि से तो यह ठीक है, लेकिन व्यावहारिक रूप से दुनिया में ऐसी परिपूर्ण सुख की कल्पना नहीं चलती। लेकिन उनके

ध्यान में नहीं आता कि यह कहना गलत है। आप माने या ना माने, जीवन और मानवी व्यक्तिमत्त्व तो एकात्म ही होता है।

वास्तव में हमारे यहाँ सुख-दुख की जो एक सरल कल्पना रखी है, 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्॥' वह परिभाषा तो न केवल मनुष्य के बारे में बल्कि पशुपक्षियों के बारे में भी सही साबित होती है। आपने भूगोल में पढ़ा होगा कि सायबेरिया वगैरह जैसे ठंडे प्रदेशों में जब सर्दी का मौसम आता है तब उधर के पक्षी दूर गर्मी के प्रदेशों में आकर सर्दी की प्रतिकूल संवेदना से स्वयं को बचाते हैं।

जब तक शारीरिक सुख प्रेरणाओं का संदर्भ है तब तक मनुष्य और प्राणी इनमें कोई फर्क नहीं है।

आहारनिद्राभय मैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। (महाभारत शांतिपर्व २९४.२९)

लेकिन यह समानता केवल आहार, निद्रा, भय और शरीरसुख यहाँ तक ही सीमित है। मानव के संदर्भ में सार्वकालीन, सार्वदेशीय अनुभव रहा है कि पशु जैसे केवल शारीर उपभोग से मानव को सुख प्राप्त नहीं होता। क्योंकि केवल तात्कालिक इंद्रिय सुख प्राप्त होने से लोग सुखी नहीं होते। हमारे एक मित्र डायबेटिक रुग्ण को रसगुल्ला खाने की बहुत लालसा हुई और रसगुल्ले सामने भी आए। एक तरफ मन कहता है, अब तो खा लूँ। दूसरी ओर मन सोचता है, अब आनंद मिलेगा। लेकिन बाद में इन्शुलिन इन्जेक्शन लेते समय मुँह टेढा हो जाएगा और आनंद चला जाएगा।

हमारे ऋषियों ने कहा है, ऐसा आने जानेवाला आनंद काम का नहीं है। ऐसा नहीं है कि दस बजे सुख, सव्वा दस बजे दुख, फिर साढे दस बजे सुख, ऐसा आने जानेवाला सुख वांछनीय नहीं हो सकता। अगर प्राणियों से जादा बुद्धि मनुष्य को दी गई है तो मनुष्य का कर्तव्य है कि वह विचार करे कि मेरा सुख किस बात में है?

विषयेंद्रिय संयोगात् यत् तदग्रे ऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम्। (भ.गी. १८-३८)

अर्थात्, विषय और इंद्रियों का संयोग होता है। अग्रे माने प्रारंभ में अमृतसमान सुख का आभास होता है। लेकिन ऐसा वैषयिक सुख परिणामतः विषसमान होता

है जिसे भगवान ने राजस सुख कहा है और उससे दूर रहने का अनुरोध अर्जुन से किया है।

और भी एक बात है। अपने यहाँ तो कहा है –

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयं एवाभिवर्धते। (महाभारत आदिपर्व ७९.४९)

जैसे अग्नि को शांत होने के लिए अगर आप घी डाले तो अग्नि और भड़क उठता है। वैसे ही पूर्ति करने से वासनाएँ भड़क उठती हैं।

तो यह जो सरल रास्ता बताया गया कि 'मन में आई वासना की पूर्ति करे, तो सुख प्राप्त होगा,' ऐसा नहीं होता है।

दूसरी भी एक बात है। उपभोग की वासना भड़कती जाती है और उपभोग की क्षमता घटती जाती है। यह प्रकृति का नियम है। तो अंत में 'भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः। तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।' अर्थात् तृष्णा तो जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गए ऐसा कहना पड़ता है। हमारे यहाँ उदाहरण आता है ययाति का। सारा जीवन विषयोपभोग में बिताया। फिर भी वासनाएँ तृप्त नहीं हुई और भड़कती रहीं। बुढ़ापे में शर्मिष्ठा को देखा तो वासना भड़क उठी। लेकिन बुढ़ापा था। तो अपने पुत्र को बुलाया और बड़ी निर्लज्जता के साथ, बेशरमी से उसकी जवानी माँग ली अपने बुढ़ापे के बदले और फिर जीवन विषयोपभोग में लगा दिया, लेकिन अंत में दुख भुगतना पड़ा। पश्चिम में उदाहरण है कॅसानोव्हा का। तो उपभोग से वासनातृप्ति होगी और केवल उपभोग से सुख मिलेगा यह बात गलत है।

सुख का दूसरा साधन जो अर्थ है उसके बारे में यही अनुभव रहता है। ऐसा कहा जाता है कि अर्थ से ही सबकुछ प्राप्त होता है। लेकिन जिन्होंने अर्थार्जन किया, क्या उनको पूरी तरह शान्ति मिली? महम्मद गजनी का उदाहरण सब के सामने है। उसने लूटमार करके दुनियाभर की संपत्ति इकट्ठा कर उसको भंडार में जमा किया और मृत्यु का क्षण आया तो दुखी हो गया। कहने लगा "हे खुदा! मैंने सारा जीवन कष्ट उठाते हुए अपने पराक्रम से यह सारी संपत्ति जुटाई। अब यह सब यही छूटी जा रही है।' गजनी की यह दशा देख कर मृत्युशय्या पर ही धनागार के पास ले जाया गया। आँसू भरी आँखों से संपत्ति की ओर देखते देखते, रोते रोते ही उसकी मृत्यु हो गई। धन यहीं रह गया और दुख भोगते हुए उसका अंत हुआ।

आज के पश्चिमी, खास कर के अमरीकी समाज की अवस्था भी इससे भिन्न नहीं है। पैसा विपुल है, लेकिन सुख नहीं।

जब मैं अमरीका गया था, तब उधर के दो तीन स्वयंसेवकों ने एक वृद्धाश्रम का अनुभव बताया, उससे यही बात सिद्ध होती है। वे उत्सुकतावश एक वृद्धाश्रम में जानकारी के लिए गए। वहाँ के सभी वृद्ध संपन्न थे, लखपति, करोडपति थे। उन्होंने इन स्वयंसेवकों का हृदय से स्वागत किया, गपशप हुई। एक घण्टे के बाद स्वयंसेवक निकले तो वास्तव में कई लोग आँसू बहाने लगे। कहने लगे आप दोबारा जरूर आइए। स्वयंसेवकों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कारण पूछा तो जवाब आया, 'हमसे मिलने के लिए कौन आता है? हमारे लड़के भी कभी आते नहीं। हमारा जो बँक बॅलन्स है उस में से हमारा खर्च चलता है। बेटे अपने परिवार में मग्न हैं। हमारी फिक्र नहीं करते। दो चार सालों में एकाध बार आते हैं, या ख्रिसमस के समय फूलों का तोहफा भेजते हैं। अन्यथा उनको हमारी याद तक नहीं रहती।'

इसपर जब मैंने स्वयंसेवकों से पूछा कि ऐसा क्यों होता है? तब उन्होंने विवरण दिया कि वहाँ हर व्यक्ति अपना अपना सुख जानता है। ये वृद्ध लोग अपनी जवानी में, वैवाहिक जीवन में बच्चों को प्रेम, वत्सलता तो नहीं देते, बल्कि अपने विषयसुख में बाधा के रूप देखते हैं। अब बचपन से अगर बच्चों को अनुभव होगा कि हम unwanted हैं, तो उसका तो यही नतीजा निकलता है। वे जल्द से जल्द अपने माँ-बापसे अलग होते हैं। उनकी फिक्र वे करेंगे ही क्यों? केवल उनकी मृत्यु के बाद वसीयत के बारे में झगड़ा करने के लिए आते हैं।अंग्रेजी में एक कहावत है, When there is a will (इच्छाशक्ति) there is a way! उसी तरह प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार ॲगथा ख्रिस्तीने 'Will' शब्द का श्लेषपूर्ण उपयोग करते हुए बड़े उपरोध से अमरीकी जीवन के बारे में मार्मिक निरीक्षण किया है। वह कहती है, 'When there is a will (मृत्युपत्र/वसीयतनामा) there is a murder!

■ उपभोग के परे उच्चतम सुख की खोज में

जैसे कि पहले बताया गया कि पश्चिमी लोगों का प्रातिनिधिक सुखविचार भौतिकतावादी, इहवादी है। लेकिन पश्चिम में ऐसे भी कुछ उदाहरण हैं कि अपार संपत्ति एकत्र करने के बाद जब यह अनुभव आया कि इससे सुख नहीं मिला तो पश्चिम के कई लोगों ने बड़े बड़े ट्रस्ट और फौंडेशन बना दिए और जनकल्याण

के काम के लिए अपनी संपत्ति अर्पित करते हुए मन की शांति प्राप्त कर ली। केवल भौतिक संपन्नता के उपभोग से सुख शांति नहीं प्राप्त होती, इसी का यह सबूत है।

लगभग बीस साल पहले १९८० के आसपास विश्वप्रसिद्ध पूँजीपति हेन्री फोर्ड का नाती 'हरे राम हरे कृष्ण' आंदोलन का अनुयायी बन कर भारत आया था। उसे संवाददाताओं ने पूछा, ''आप 'हरे राम हरे कृष्ण' आंदोलन के चक्कर में कैसे पड़ गए?'' वह बोला, 'इसीसे मुझे शांति मिलती है।' दूसरे संवाददाता ने पूछा कि 'आप को इसमें शांति मिलती है फिर आप के पास जो अकूत संपत्ति है, उसका क्या होगा?' उन्होंने उत्तर दिया, 'संपत्ति मात्र संपत्ति है, यह तो भगवान कृष्ण की है।' (Wealth? whose wealth? It is of Lord Krishna. All the wealth belongs to Lord Krishna!)

दूसरा भी एक उदाहरण है। रूस के तानाशाह स्टॅलिन की बेटी स्वेतलाना हिन्दुस्थान आई थी। हम अनुमान लगा सकते हैं कि स्टॅलिन की लड़की के पास संपत्ति और बाकी सब चीजों का क्या कोई अभाव हो सकता है? लेकिन यहाँ के संवाददाताओं ने जब उससे पूछा कि 'तुम यहाँ क्यों आई हो? चाहती क्या हो? तुम्हारी इच्छा क्या है?' तो उसने कहा कि, ''मेरी एक ही इच्छा है कि पवित्र गंगा नदी के किनारे कुटिया बनाकर शांति से अपने जीवन का अंतिम काल बिता सकूँ।'' अब यह ध्यान में लेना आवश्यक है कि अमरीका जैसे भौतिक दृष्टि से समृद्ध देश के धनपति का नाती और रूसी तानाशाह स्टॅलिन की लडकी स्वेतलाना, दोनों भी ऐसा क्यों सोचते और कहते हैं?

तो वास्तव में विचार करने की बात है कि अर्थ और काम के पीछे लगने और उससे प्रभावित होने से क्या कोई सुखी हो सकता है? गोस्वामी तुलसीदास ने बहुत अच्छी उपमा दी थी। उन्होंने कहा कि – 'डासतीह, निशि बीत गई सब, कबहुँ न नाथ नींदभरी आयो'। अच्छी नींद और सुखसे सोने के लिए बिस्तर अच्छा होना चाहिए। किंतु 'कबहुँ न नाथ नींद भर आयो।' बिस्तर अच्छा करते करते ही रात निकल गई। सोने का मौका ही नहीं मिला। हम यदि ठीक ढंग से देखें तो ऐसा ही दिखाई देता है कि बिस्तर ठीक करते करते ही जिंदगी खत्म हो जाती है। सोने का मौका ही नहीं मिलता।

टॉलस्टॉय की सुप्रसिद्ध कहानी है। एक राजाने किसी गरीब आदमी से कहा कि सूर्योदय से प्रारंभ करके, वह जितनी जमीनपर दौड़ेगा उतनी सारी जमीन उसकी हो जाएगी। गरीब आदमी ने सोचा, 'अच्छा मौका है। सूर्योदय से

लेकर सूर्यास्त तक दौडूंगा तो वह सारी जमीन मेरी हो जाएगी। एक दिन ही तो दौड़ना है। बाद में तो सारी जिंदगी सुख से बिताऊँगा।' इस अभिलाषा से दिन भर आगे आगे दौड़ता रहा। फेंफडों में तकलीफ होने लगी। थकावट से दम उखड़ने लगा। सूर्यास्त दिखाई देने लगा तो सोचा कि और तेजी से दौड़ना चाहिए। आखिर इतनी तेजी से दौड़ा कि हाँफते हाँफते उसका दम उखड़ गया और गिरकर मर गया। इसपर टॉलस्टॉय ने लिखा है कि उसके समाप्त होने के बाद जब उसको गाड़ने के लिए जमीन का नाप लिया गया तो साढे तीन गज जमीन में काम हो गया। मनुष्य को केवल साढ़े तीन गज जमीन की ज़रूरत होती है।

ये सभी उदाहरण एक दृष्टि से देखा तो नकारात्मक-अकरणात्मक negative हैं। याने कि एक तो भौतिकता में, उपभोग में सुख नहीं है यह बताने वाले हैं; या तो भौतिकता में सुख नहीं है यह महसूस होने के बाद उच्चतम सुख की खोज में व्यक्ति निकल पड़ा है, यह बतानेवाले हैं। लेकिन मनुष्य में यह 'स्व' के परे, शरीर के परे जाने की धारणा, उपभोग के परे जाने की धारणा तो सकारात्मक positive मूल स्वरूप में भी होती हैं।

दूसरों के प्रति जो करुणा का भाव, आत्मीयता के कारण व्यक्ति के मन में उत्पन्न होता है वह ऐसी ही सकारात्मक, मूलभूत धारणा के कारण मन में पैदा होता है। और ऐसी सकारात्मक ऊर्मि के कारण व्यक्ति सहजता से अपनी निजी सुखसुविधाओं का क्षणमात्र विचार न करते हुए तत्काल, दूसरों के लिए त्याग करने को प्रवृत्त होता है। ऐसे उदाहरण पश्चिम में भी हैं। हम ख्रिश्चन मिशनरिओं को दोष देते हैं और वह एक दृष्टि से योग्य ही है क्योंकि वे धर्मपरिवर्तन करके देश में राजनीतिक अस्वास्थ्य पैदा करने के तथा विघटनकारी प्रवृत्तियों को तेज बनाने के प्रयास में लगे हैं। लेकिन ख्रिश्चन मिशनरिओं की मूल प्रेरणा में तो करुणा ही होती है। इस करुणा के कारण ही ये लोग क्या क्या काम करने के लिए प्रेरित होते हैं वह कोई कह नहीं सकता। केवल एक उदाहरण सामने प्रस्तुत करता हूँ।

युरोपीय देशों में से बहुत सारे कुष्ठरोगियों को दक्षिण समुद्र में एक छोटेसे द्वीपपर भेजा जाता था। वहाँ उनकी हालत बहुतही खराब होती थी। ख्रिश्चन धर्मगुरु पोप महाशय ने व्हॅटिकन सिटी से एक परिपत्रक युरोप के सभी चर्चेस को भेजा। उसमें आवाहन किया था, 'ये भेजे हुए लोग सभी कुष्ठरोगी बहुतही दुर्भाग्यवश हैं। उनका देखनेवाला वहाँ कोई नहीं है और उनको परमेश्वर का,

प्रभू येशू का संदेश पहुँचाने वाला भी कोई नहीं। प्रभुकृपा से वे वंचित हैं। तो ऐसे अभागे लोगों की सेवा करने तथा उन तक प्रभू का संदेश पहुँचाने हेतु आपमें से कोई जाएगा तो बहुत ही अच्छा होगा।'

अब दूर दक्षिण समुद्र के एक छोटे से द्वीप पर जाना था। सुविधा का पूरा अकाल, प्रतिकूल हवामान और कुष्ठरोगियों के साथ रहना। निश्चितही जो जाएगा वह स्वयं कुष्ठरोग का शिकार बन जाएगा। फिर युरोपीय सुखसुविधाओं को छोड़ कर कौन जाएगा। लेकिन बेल्जम में एक युवा तैयार हुआ। माँ-बाप का इकलौता लड़का, सभी सुखसुविधाओं से, संपन्नता से भरा हुआ परिवार, दीखने में सुंदर आकर्षक व्यक्तिमत्त्व, ऐसी सब स्थिति होने के बावजूद, यह केवल मन में उत्पन्न हुई करुणा की प्रेरणा से उधर जाने के लिए तैयार हो गया। उधर गया, कुष्ठरोगियों के साथ रहकर उनकी सेवा की और बाद में स्वयं भी कुष्ठरोग का शिकार बनने के कारण उसमें ही उसकी मृत्यु हो गई। उसकी डायरी प्रसिद्ध हुई है। अब इस युवा को अपनी इतनी अच्छी जिंदगी कुष्ठरोगियों के लिए बर्बाद करने से ही सुख मिला। यह स्वयं के परे जाने की सकारात्मक प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्ति को उचित आवाह्न मिला, वह प्रेरित हो गई और क्रियान्वित हो गई। इस युवा को भौतिक सुविधा में सुख नहीं मिलता ऐसी तो बात नहीं है। लेकिन उससे भी उच्चतम सुख की प्रेरणा मन में स्वाभाविकता से पैदा हुई और वह घर से निकल पड़ा।

पश्चिम में ऐसे कई शास्त्रज्ञ-वैज्ञानिक हुए हैं कि जिन्होंने कुछ परिणामकारी दवाएँ पैदा की हैं। लेकिन मनुष्य पर उनका परिणाम क्या हो सकता है, इसकी तलाश में, किसी अन्य व्यक्ति पर उनका प्रयोग करने के बदले, स्वयं अपने ही ऊपर उन्होंने उनका प्रयोग किया, ताकि अन्य किसी को खतरा न पैदा हो। तो अन्य मनुष्यों को कई विकारों से बचाने के लिए पैदा की हुई दवाओं का प्रयोग जोखिम उठाते हुए स्वयं पर करना यह कैसी बात है? उसी, स्वयं के परे जाने के मूल स्वाभाविक सकारात्मक प्रेरणा की यह परिचायक है।

अपने यहाँ ऐसा उदाहरण है सिद्धार्थ का। दुनिया के दुख के दर्शन हुए, मन में करुणा उमडकर आई और अपना युवराजपद, अपनी सुंदर पत्नी और नन्हा बालक और राजमहल की सभी सुखसुविधाएँ छोड़कर दुख के कारणों की खोज में बाहर निकल पड़ा। तपस्या की। सिद्धार्थ का गौतम बुद्ध बन गया। ज्ञानी हो गया। जिस उच्चतम सुख के दर्शन हुए वह संपूर्ण मानव जाति को देने के लिए उर्वरित पूरी जिन्दगी उन्होंने बिता दी।

इन सभी बातों को अनुभव करते हुए ही हमारी संस्कृति की परिभाषा में सभी तत्त्वचिंतकों ने यह बात दोहराई है कि केवल शारीरिक उपभोग से मनुष्य को ठोस (solidified), परिपूर्ण (comprehensive), निरामय (unmixed), निरंतर (eternal), अखंड (unintermittent) सुख, आनंद नहीं मिलता। इस का कारण है कि पशु और मानव इन में जो समानता है वह आहार, निद्रा, भय, मैथुन यहाँ तक ही सीमित रहती है। आगे चलकर मनुष्य में संवेदनशील मन है, योग्यायोग्य विवेक करने वाली बुद्धि है, और स्वयं के परे जाने वाली आध्यात्मिकता की प्रेरणा है। भगवद्गीता में कहा है –

इंद्रियाणि पराण्याहु: इंद्रियेभ्य: परं मन:।
मनसस्तु परा बुद्धि: यो बुद्धे: परतस्तु स:॥ (भ.गी. ३-४२)

अर्थात् हम मानव हैं, हमारे पास इंद्रियों के परे मन है, बुद्धि है और स्वयं के परे ले जाने वाला आत्मतत्त्व भी है। सुख प्राप्त करना है तो मनबुद्धि के आधार पर उसका वैविध्य (variety) प्रकार (type) घनत्व (intensity) और स्थायित्व (durability) आदि कई पहलुओं पर भी हमें विचार करना पड़ता है। •

कोई कलावंत-चित्रकार या शिल्पकार है। वह घंटों तक, कई दिनों तक स्वयं को भूल कर अपनी कलानिर्मिति की समाधि में मस्त रहता है। उसको न प्यास की, न भूख की भावना रहती है। भूखे कंगाल स्थिति में रहकर कलंदर-वृत्ति से, अपने मन में जो संकल्पचित्र या संकल्पमूर्ति होती है उसको साकार करने का ध्यास मन में रहता है। शरीर सुख की कल्पना तो क्या, शारीरिक आवश्यकताओं के भी परे जाकर वह अपने मन की तमन्ना, मन का सुख, भोगने के पीछे पड़ जाता है।

वैज्ञानिकों के तो कई उदाहरण हैं। स्नान करते समय भी शोध के सोच विचार में आर्किमिडीज मग्न ही था और जब उसकी बुद्धि चमक उठी और अपना प्रसिद्ध सूत्र, साक्षात्कार जैसा उसके प्रज्ञाचक्षुओं के सामने आया तो नहाने के टब से उसी नग्नावस्था में स्वयं को भूलकर 'युरेका युरेका' (मुझे मिल गया)

• बेन्थाम नाम के तत्त्वज्ञ-विचारक ने सुख की मात्रा की सात कसौटियां बताई हैं। वे हैं – Intensity (तीव्रता), duration (कालावधि), certainty or uncertainty (निश्चिता या अनिश्चितता), propinquity or remoteness (निकटता या दूरता) fecundity (उत्पादकता/ उपजाऊपन), purity (शुद्धता), extent (व्याप्ति)।

ऐसे चिल्लाते हुए वह बाहर आया। न्यूटन का भी उदाहरण प्रसिद्ध है। शोध प्रक्रिया में खुद को खो बैठे न्यूटन को, खाना खाया है या नहीं, उसकी याद तक नहीं रही। तो शरीर के परे जा कर मिलने वाला बुद्धि का आनंद तत्त्वज्ञ, विचारक, शास्त्रज्ञ सभी को मिलता है।

स्वयं को जीवन का जो तथ्य प्राप्त हुआ है, जो सत्य का साक्षात्कार हुआ है उस पर अडिग निष्ठा रख कर अपनी बुद्धि के निर्णय पर डटे रहकर, आवश्यकता हो, तो शरीर की कुर्बानी करने की परंपरा मानवी संस्कृति में सदियों से चलती आई है। देव-असुरों के युद्ध में देवत्व की विजय के लिए अपनी हड्डियों का शस्त्र बनवाने हेतु शरीरार्पण करनेवाले ऋषि दधिचि का उदाहरण हमारे सामने है। मानव और पशुपक्षी सभी जीवों में एक ही आत्मतत्त्व है इस भूमिका से ही शिबी राजाने बाज के कब्जे से कबूतर को बचाने के लिए अपने शरीर का मांस काटकर दिया। पूरी मानवता के हित में स्वयं को जिस सत्य का साक्षात्कार हुआ वह सत्य कहने के लिए सॉक्रिटिस ने बिना शिकायत हेमलॉक विष का प्राशन करने की सजा स्वीकार कर ली। और 'God forgive them, because they know not what they are doing' 'उन्हें क्षमा कीजिए, कारण उन्हें मालूम नहीं है, वे क्या कर रहे हैं।' ऐसा कहते हुए मानवता के लिए प्रभू येशू ने क्रूस पर आत्मार्पण किया। कोपरनिकस, गॅलिलिओ, केपलर, आईन्स्टीन जैसे शास्त्रज्ञों को भी अपने वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अडिग रहने के लिए, स्वतंत्र विवेकी बुद्धि के लिए बहुत ही क्लेश भुगतने पड़े। ब्रूनो जैसे शास्त्रज्ञ को तो समाज ने चिता पर खड़ा करके जिंदा जलाया। फिर भी शरीर की चिंता न करते हुए आखिरी साँस तक अपना सत्य सिद्धान्त ही बताता रहा। हमारे धर्मवीर संभाजी ने हिन्दू धर्म के लिए ऐसीही यातनाएँ और मृत्यु का धीरोदात्त वृत्ति से स्वीकार किया।

अभी अभी के इतिहास में, हमारे स्वतंत्रता संग्राम में, क्रांतिकारकों के अनगिनत उदाहरण हैं जिन्होंने शरीर के परे जा कर अपनी मातृभूमि के लिए कुर्बानी करने में ही जीवन के परमोच्च आनंद का अनुभव किया। रामप्रसाद बिस्मिल इस क्रांतिकारक ने तो फाँसी जाने के पहले ही कुछ क्षण अपने दिल की तमन्ना एक कविता में व्यक्त की है –

सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है जोर कितना बाजू-ए-कातिल में है
खींच कर लायी थी सब को कत्ल होने की उम्मीद
आशिकों का आज जमघट कूचा-ए-कातिल में है।

अर्थात्, हमें तो (मातृभूमि के लिए) सर काटकर देने की ही तमन्ना है और आज सभी को फाँसी हो जाएगी यह उम्मीद ही हम सब को इधर खींचकर ले आई है। इन कातिलों की गली में यह देशप्रेमियों का मेला जमा हुआ है। अब देखते हैं कि इन कातिलों के हाथों में कितना जोर है। संघ के गीत में भी इसी भूमिका से कहा है –

तेरा वैभव अमर रहे माँ
हम दिन चार रहें ना रहें॥

तो ऐसे कई उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के जीवन में शरीर सुख के परे जाकर, भोग के पार जाकर प्राप्त होने वाला एक उच्चतर, उच्चतम ऐसा मानसिक, बौद्धिक या आत्मिक आनंद रहता है। ये तो सब महान लोगों के उदाहरण हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि उदाहरण सामने आने के बाद भी हम जैसे सामान्य व्यक्ति को लगता है कि वे तो असामान्य थे। हम तो सामान्य हैं। हमारे लिए ऐसे उदाहरणों का क्या उपयोग? हम थोड़े ही इतना त्याग कर सकते हैं? लेकिन प्रश्न स्वयं के परे जाने की मूल स्वाभाविक प्रवृत्ति का है और वह तो हम जैसे सामान्य व्यक्तियों में भी होती है।

मैं जब बंगाल में प्रचारक इस नाते गया तब कुछ साल पहले का, १९३० के दरमियान का ऐसा एक उदाहरण मुझे बताया गया था। दक्षिण कलकत्ता के बकुल बागन रोड पर गटर के खुले मॅनहोल से एक छोटा सा बच्चा अंदर गिर गया। अब सब लोग देख रहे थे। चिल्ला रहे थे। गटर तो गहरा था और उसमें जो गैस जमा होती है, वह भी खतरनाक होती है। तो कोई भी आदमी उस बच्चे को बाहर निकाल कर बचाने की हिम्मत नहीं कर पाया। इतने में नफार कुंडू नामक एक सामान्य मजदूर उधर आए। उन्होंने देखा, बच्चा मरने वाला है, क्षणमात्र भी न सोचते हुए अपनी साइकिल उन्होंने बाजू में फेंक दी और वे उस मॅनहोल में उतरे। बच्चे को बाहर निकाला। लेकिन इस प्रयास में, अंदर जो विषैली गैस भरी थी उसके कारण दम घुटकर उनकी स्वयं की मृत्यु हो गई। अब उस बच्चे को बचाने के लिए अपनी जान की कुर्बानी करने से नफार कुंडू को क्या मिलने वाला था? लेकिन दूसरों का सुखस्वास्थ्य देखने के लिए स्वयं के परे जाने की स्वाभाविक, सकारात्मक, आत्मिक प्रवृत्ति सामान्य व्यक्ति में भी ऐसे ही उभरकर आती है।

शरीर-मन-बुद्धि के परे जो आत्मतत्त्व मनुष्य में रहता है उसकी अनुभूति तो सामान्य मनुष्य को दैनंदिन निजी जीवन में भी आती है। क्या हम आसपास के परिवारों में, क्वचित अपने स्वयं के परिवारों में भी यह नहीं अनुभव करते हैं कि घर में केवल आधी या एक रोटी होती है। माँ और बच्चा दोनों भूखे हैं, तो अपनी भूख दबाकर बच्चे को वह आधी रोटी खिलाने में माँ को आनंद मिलता है। या अपनी बहन की शादी के प्रयास में स्वयं को वैवाहिक सुख नकार कर अविवाहित रहने वाला भाई हम नहीं देखते हैं? तो केवल भौतिक सुख यही एक सुख नहीं है, उससे भी उच्च ऐसी सुख की कुछ मात्रा है, यह अनुभव अपने अपने पारिवारिक जीवन में सामान्य व्यक्ति भी करता है।

■ दूसरी ओर उपभोग का अभाव भी अयोग्य

लेकिन दूसरी ओर यह भी अनुभव रहा है कि उपभोग की कमी या अभाव होना अथवा वासनाओं का समुचित समाधान (reasonable satisfaction) न होना भी एक बोझ (liability) हो जाता है। फ्राइड ने repression की बात इसी संदर्भ में उठाई है। हमारे शास्त्रों ने भी कहा है – अर्थ और काम का अभाव नहीं होना चाहिए। इनका अभाव होने से भी मनुष्य दुखी होता है। अर्थ के विषय में यहाँ कहा गया है –

भूखे भजन न होहि गोपाला।

जो आदमी भूखा है वह गोपाल का भजन क्या करेगा? समर्थ रामदास ने कहा है –

प्रपंच सोडोनि परमार्थ केला।
तरि अन्न मिळेना खायाला।
मग त्या करंट्याला।
परमार्थ कैचा ?॥ (दासबोध १२.१.३)

तुम्हारे पास पैसा ही नहीं तो खाओगे क्या? परिवार का पेट कैसे भरोगे? और परिवार की चिंता में ही यदि तुम्हारा सारा समय बीत जाता है तो परमार्थ और भगवान का चिंतन कब करोगे?

जिस प्रकार अर्थ का पूर्ण अभाव रहने से नहीं चलता, उसी प्रकार 'काम' का पूर्ण अभाव रहने से भी नहीं चलता। हमारे यहाँ 'काम' को बहुत ही उच्च

स्थान दिया गया है। लेकिन 'काम' की हिन्दू अवधारणा सिगमंड फ्राइड के 'काम' की अवधारणा से भिन्न है। फ्राइड का 'लिबिडो' एक अलग चीज है। हमारे द्रष्टाओं ने कहा है कि सारी सृष्टि का निर्माण 'काम' के कारण ही हुआ है। कहते हैं कि पहले केवल 'वह' (आत्मतत्त्व-ब्रह्म) था, अकेला था।

लेकिन कहा है *'स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्।* (बृहदारण्यकोपनिषद १.४.३) मतलब वह अकेले में रम नहीं सकता था, इस लिए उसने किसी दूसरे के सहवास की इच्छा की और उसे लगा कि, *'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।* (तैत्तिरीय उपनिषद ब्रह्मानंदवल्ली-६). मतलब मैं अनेक बन जाऊँगा। प्रजा निर्माण करूँगा। अर्थात मैं एक से अनेक बन जाऊँ तब जरा मजा आएगा। तब लीला कर सकूँगा। भगवद्गीता में भगवान ने तो कहा है कि मैं स्वयं धर्म के अविरोध में 'काम' हूँ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। (भ. गी. ७-११)

तो एक तरफ मनुष्य का मन अर्थ और काम के प्रभाव में भी नहीं रहना चाहिए। दूसरी तरफ अर्थ और काम का अभाव भी नहीं होना चाहिए। समाज में इस संतुलित अवस्था के लिए ही धर्मचक्रप्रवर्तन होता है।

अभावो वा प्रभावो वा यत्र नास्त्यर्थकामयो:।
समाजे स्वात्मरूपत्वात् धर्मचक्रप्रवर्तनम्॥

एक तरफ अनियंत्रित उपभोग से सुख नहीं प्राप्त होता और दूसरी तरफ वासनाओं का समुचित उपशम भी होना चाहिए, repression नहीं होना चाहिए। अब जो कामी है, केवल वासनाओं के पीछे है वह शांत नहीं होता। तो क्या उपभोग बिल्कुल छोड़ देना? नहीं। इसलिए हमारे यहाँ कहा गया है कि उपभोग सीमित, नियंत्रित हो। किस तरह? तो बताया है –

आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ (भ.गी. २-७०)

अर्थात समुद्र में निर्झर-नाले, नदियों का पानी अविरत आता रहता है। लेकिन उसके कारण वह अनियंत्रित हुआ, अमर्याद हुआ, उछल कूदकर सीमा लांघ रहा है ऐसा नहीं होता है। अपनी सीमा को वह कायम रखता है। उसी प्रकार विभिन्न वासनाएँ जिसके मन में प्रवेश करती हैं किन्तु जिसका मन समुद्र

के समान, सीमा का उल्लंघन नहीं करता, वही व्यक्ति शांति प्राप्त करता है। तो एक extreme पर जा कर ययाति और कॅसानोव्हा का अनिर्बंध उपभोग भी नहीं और दूसरे extreme पर जा कर फ्राइड ने जो repression बताया है वह भी नहीं। उपभोग सीमित, संतुलित रहना आवश्यक है, यह हमारी संस्कृति की मान्यता है।

■ त्याग यह जीवन मूल्य

और केवल उपभोग से सुख प्राप्त नहीं होता, तो फिर जिस व्यक्ति का, या समाज का उपभोग यही जीवनमूल्य value of life है, क्या वह व्यक्ति और समाज सुखी हो सकता है? नहीं। और फिर उपभोग सीमित, नियंत्रित रखना है तो कुछ मात्रा में त्याग करना ही पड़ता है; अब हर व्यक्ति कम ज्यादा मात्रा में अपने निजी जीवन में किसी न किसी स्वरूप में त्याग करता ही है। उसे त्याग करना ही पड़ता है लेकिन मनुष्य कुछ गलत या संकुचित बातों के कारण, या अलग अलग प्रेरणा लेकर भी त्याग के लिए प्रवृत्त हो सकता है। टेनिसन ने एक लड़ाई का वर्णन किया है। उसमें सैनिकों से आवाहन किया है –

> Fight on! O, brave knights!
> Fair eyes are beholding thee!

अर्थात सुंदर नारियाँ तुम्हें देख रही हैं जिसका ख्याल रखकर लड़ो। Incentive-motivation क्या है तो सुंदर औरतों के सामने अपना performance अच्छा हो। तो इसलिए त्याग करो।

तो त्याग करना और त्याग यह जीवनमूल्य है यह स्वीकार करके त्याग करना इनमें अंतर है। कई लोगों को देखकर मन में आता है और कई लोगों के बारे में हमने सुना भी है कि 'साहब! इस हमारे गुरु ने हम को त्याग के लिए प्रवृत्त किया। हम त्यागी जीवन बिता रहे हैं और यह पैसा बनाने के, बंगला खड़ा करने के, उपभोग के पीछे पड़ा है।' तो क्या ऐसे व्यक्ति का यह degeneration है? ऐसा नहीं। वह त्याग कर रहा था। लेकिन It was an act of sacrifice! It was not his value of life. माने वह त्याग की **केवल कृति** कर रहा था। त्याग को **जीवनमूल्य इस** नाते वह चरितार्थ नहीं करता था। मार्टिन ल्यूथर किंगने कहा है – One can be self-centred even while peforming

the highest self-sacrifice! याने सबसे बड़ा आत्मबलिदान करते हुए भी कोई व्यक्ति स्वकेंद्रित रह सकता है। इसलिए कहा गया है कि त्याग यह जीवनमूल्य होना चाहिए। इसका अर्थ भी गहराई से समझ लेना चाहिए। त्याग यह जीवनमूल्य होने का मतलब, कभी कभी, मौके पर, यत्रतत्र त्याग करना यह नहीं है। केवल self-sacrifice यह निकष criterion नहीं माना जा सकता है। और हमने यह भी नहीं कहा कि जो कोई भी त्याग करता है वह सुखी होता है। तो फिर त्याग यह जीवनमूल्य होना इसका मतलब है, दूसरों को सुखी करने के लिए त्याग करने में ही आनंद का अनुभव करना। ऐसे त्याग में ही आनंद है ऐसी भावना, अखंड भावना।

और ऐसा जीवनमूल्य उसी का हो सकता है, जो स्वकेंद्रित नहीं है, जिसकी प्रेरणा स्वार्थ नहीं है। हो सकता है उसका प्रेरणाकेंद्र परिवार होगा, या समाज होगा और उसके consciousness का और भी विकास होगा तो उसकी प्रेरणा का केन्द्र समूची मानवजाति हो सकती है। उससे भी विकास होकर वह संन्यासी बन जाता है, तो चराचर विश्व उसके लिए प्रेरणाकेन्द्र बन जाता है। तो फिर जो व्यक्ति स्व के ऊपर उठकर, स्वार्थ के, अहंकार के ऊपर उठता है, वही आदमी value of life के नाते त्याग कर रहा है, ऐसा कहा जा सकता है। इसका मतलब, त्याग यह जीवनमूल्य लेकर सीमित-नियंत्रित उपभोग लेते हुए जो जीवन बिताता है वही अखंड आनंद की भावना का अनुभव करता है।

यह पूछा जा सकता है कि स्वकेंद्रित होने या न होने से क्या फरक पड़ता है? तो यह मन के level of consciousness की बात है। स्वार्थी मन का भी व्यक्ति को पता नहीं चलता। अति परमार्थी मन में भी अंदर छिपे हुए स्वार्थ का पता नहीं चलता। लेकिन मन की विभिन्न अवस्थाओं का मनुष्य के ऊपर अलग अलग असर होता है। विशिष्ट परिस्थिति में व्यक्ति की अलग अलग प्रतिक्रियाएँ होती हैं।

स्वकेंद्रित व्यक्ति की प्रतिक्रिया सदैव स्व का संदर्भ लेते हुए ही होती है। पड़ोसी का सुखी परिवार देखकर उसमें असूया का भाव तथा ईर्ष्या उत्पन्न होती है। कई आत्मकेंद्रित लोगों को दूसरों का कष्ट, दुख देखकर sadistic आनंद मिलता है। दूसरों के कार्य की लोगों से सराहना हुई तो इनको अच्छा नहीं लगता। लेकिन जो व्यक्ति 'स्व' के ऊपर, अहम् के ऊपर उठता है उसकी प्रतिक्रिया अलग होगी। हमारे शास्त्र में चार परिस्थितियों की प्रतिक्रिया बताई है। पातञ्जल योग में कहा है –

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां।
सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां।
भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (१-३३)

अर्थात दूसरे का सुख देख कर मन में मैत्री का भाव तथा आनंदमयता, दूसरे का दुख देख कर मन में करुणा, दूसरे का पुण्य तथा अच्छे कर्म, समाजसेवा आदि देख कर आनंद का भाव; और किसी ने पापकर्म किया तो मन में उपेक्षा का भाव, 'किया होगा, छोड़ो', आदि प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं।

तो फिर जो स्वयंके ऊपर उठता है वही सुखी होता है यह शास्त्रपूत अनुभव रहा है।

■ व्यक्ति की चेतना का स्तर बढ़ाना – धर्मप्रवणता

अब इस स्वकेंद्रितता से ऊपर कैसे उठें? यह तभी होता है, जब मनुष्य का मन धर्मप्रवण हो, समाजसमर्पित रहे, विश्वसमर्पित रहे, ब्रह्मसमर्पित रहे। जैसे कि पहले बताया है, यह समर्पण का भाव कौन से स्तर पर निर्माण होगा यह व्यक्ति के level of consciousness पर निर्भर है।

अस्तित्व के उच्चतम स्तर से एकात्म होने वाले, जिनका level of consciousness पूरे विश्वात्मकता की ओर बढ़ गया है ऐसे कई महानुभावों के उदाहरण हमारी संस्कृति में हैं। शिबी राजा का उदाहरण तो पहले ही बताया गया है। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने बचपन में जब देखा कि कुत्ता अपने पाथेय में से रोटी का टुकड़ा लेकर भाग रहा है तो वह भी घी की कटोरी लेकर उस कुत्ते के पीछे भागा, ताकि घी के बिना खाई सूखी रोटी से कुत्ते के पेट में दर्द न हो। संत एकनाथ तो काशी की गंगा रामेश्वर तक ले जा रहे थे। उससे उनको बहुत ही पुण्य प्राप्त होने वाला था। फिर भी रास्ते में जब उन्होंने प्यास से तड़पते हुए गधे को देखा तो अपना निजी पुण्यसंपादन, मोक्षसाधना आदि सब भूलकर, इतने दूर से, बड़े कष्ट से लाया हुआ गंगाजल से भरा हुआ कलश उस तड़पते हुए गधे के मुँह में खाली कर दिया।

पश्चिमी जीवन में भी ऐसे कुछ उदाहरण नजर आते हैं। जब लिंकन पहली बार राष्ट्राध्यक्ष चुनकर आए और शपथ ग्रहण करने के लिए बड़े शानोशौकत के साथ घोडागाडी में जा रहे थे तो रास्ते के किनारे से उन्होंने 'ची ची' ऐसी बारीक आवाज सुनी। अब पूरे paraphernalia लवाजिम के साथ जाने वाले

जुलूस में उन्होंने गाडी रोकने की आज्ञा दी। नीचे उतरे, तो देखा एक सूअर का छोटा बच्चा रास्ते की बाजू के कीचड़ में फँस गया था। अगर उसको तुरंत बाहर न निकाला जाता तो वह मर जाता। क्षणमात्र भी न सोचते हुए अपनी प्रतिष्ठा, राष्ट्राध्यक्ष पद का मान, ये सभी बातें भूल कर स्वयं के कपड़ों की परवाह न करते हुए लिंकन ने कीचड में जाकर उस सूअर के बछड़े को बाहर निकाला और बचाया।

तो स्वयं से उच्चतम, ऊपरी, व्यापक organism से एकात्म होना यही सुख की अवधारणा इन लोगों में दिखाई देती है।

हमारे देश में यह सनातन विचार चलता आया है कि मनुष्य की चेतना का अखंड विकास होना चाहिए। मनुष्य जब पैदा होता है तो उसके स्वयं के अलावा और किसी का भी ध्यान नहीं रहता और जब वह बड़ा होने लगता है तो क्रमश: माँ, बाप, भाई तथा अपने परिवार के साथ एकात्मता की भावना उसमें बढ़ती जाती है। उसकी चेतना का और विकास होता है तो समाज के साथ एकात्म होता है। चेतना और भी विकसित होती है तो वह राष्ट्र के साथ एकात्म होता है। आगे चलकर इस चेतना का विकास होते होते वह इस स्थिति तक पहुँच जाता है कि संपूर्ण मानवता के साथ वह स्वयं को एकात्म समझने लगता है। उसके भी ऊपर उठकर वह संपूर्ण चराचर विश्व के साथ एकात्म हो जाता है और उसे 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' यह अनुभूति प्राप्त होती है। जब हम धर्मप्रवण मानस की बात करते हैं तब मनुष्य की चेतना का इस प्रकार का विकास हो यह हम चाहते हैं। और यह साफ है कि हम जब धर्मप्रवण मानस का संदर्भ देते हैं तब धर्म का, केवल उपासना पद्धति इस नाते हम उल्लेख नहीं करते। धर्म याने religion भी नहीं है।

यह सच है कि पश्चिमी लोगों को हमारे 'धर्म' इस अवधारणा को समझने में कुछ कठिनाई महसूस होती है। सी.इ.एम्. जोड जैसे चिंतक ने कहा है This distinctly Hindu concept (i.e. Dharma) does not admit of summary description अर्थात 'धर्म' यह खास कर हिन्दू अवधारणा है जो समूचे विवरण को अवसर नहीं देती।

अपने यहाँ भी पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित लोगों के लिए न्यायमूर्ति गजेंद्रगडकर, न्यायमूर्ति रामा जॉयस जैसे कई विचारकों ने 'धर्म' यह संकल्पना स्पष्ट की है। न्यायमूर्ति रामा जॉयस कहते हैं – *'Dharma'* is a Sanskrit expression of the widest import. There is no corresponding word in any other

language. It would also be futile to attempt to give any definition of that word. It can only be explained. अर्थात 'धर्म' इस संस्कृत संज्ञा का 'अभिप्रेत अर्थ बहुत ही व्यापक है। उसका समानार्थी कोई भी शब्द अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। इस अवधारणा की परिभाषा करने का प्रयास भी व्यर्थ हो सकता है। इसका केवल विवरण हो सकता है। तो हमारे यहाँ 'धर्म' यह जीवन पद्धति के रूप में देखा जाता है। अध्ययन करने पर ध्यान में आता है कि व्यक्ति और समाज को उन्नतिशील बनाने की यह प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के संस्कारों से मनुष्य और समाज जीवन को श्रेष्ठ बनाने वाली व्यवस्था, यही इस धर्मकल्पना की परिभाषा हो सकती है। इस तरह मनुष्य के मन को 'स्व' के ऊपर उठाना, धर्मप्रवण बनाना यही हमारी संस्कृति की विशेषता है।

हमारी संस्कृति ने सदैव मनुष्यमात्र के ही नहीं, बल्कि संपूर्ण विश्व के सुख का विचार किया है और यह सुख अखंड चिरंतन (eternal) घनीभूत (solidified) निरंतर (unintermittent) होना चाहिए ऐसा भी कहा है। अनेक विचारकों ने उसके बारे में अपने विचार रखे हैं। समर्थ रामदास ने कहा है –

जन्मा आलियाचे सार्थक। करावे काही पुरुषार्थाचे कौतुक।
जेणे करिता समस्त लोक। मस्तक डोलती।

मतलब, जिस के कारण जीवन के अंत में भी सुख का ही अनुभव होगा ऐसा अखंड आनंद ही आनंद होना चाहिए। भगवान के नाम में भी आनंद (सच्चिदानंद) है। ऐसे आनंद को, सुख को हमारे यहाँ technical term शास्त्रीय संज्ञा दी गई है। घनीभूत, परिपूर्ण, चिरंतन, निरंतर आनंद याने 'मोक्ष' और कहा गया है कि यही संपूर्ण जीवन का लक्ष्य है।

■ धर्मप्रवण व्यक्तिमानस – धर्माधिष्ठित समाजरचना

ऐसा आनंद व्यक्ति को प्राप्त हो और वह प्राप्त करने के लिए समाज में व्यक्ति के लिए अनुकूल सुविधाएँ उपलब्ध रहें यह हमारी संस्कृति का प्रयास रहा है।

जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपनी रुचि, प्रतिभा, प्रकृति, परिस्थिति, अपने अपने शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक स्तर आदि सभी बातों का विचार करते हुए मार्ग का निर्धारण करना चाहिए। इस

लिए व्यक्ति की मनोरचना ऐसी होनी चाहिए कि जिसपर अर्थ-काम का याने केवल भौतिकता का प्रभाव न हो और यह जिम्मेदारी व्यक्ति की है; लेकिन समाजरचना भी ऐसी हो, जिसमें भौतिकता की दृष्टि से अर्थ और काम का अभाव न हो और यह जिम्मेदारी समाज की है। इस दृष्टि से व्यक्तिमानस धर्मप्रवण होना और साथ ही साथ समाजरचना धर्माधिष्ठित होना आवश्यक माना है।

इसका मतलब है व्यक्तिजीवन केवल भौतिक स्वार्थ से भरा हुआ न हो और सामाजिक जीवन, पारस्परिक व्यवहारों में सामाजिक न्याय को चरितार्थ करते, विकसित हो। इस दृष्टि से देखा जाए तो हमारे समाज की सभी गतिविधियों का, योगक्षेम का अधिष्ठान 'धर्म' यही रहा है। जैसे कि अभी बताया है कि धर्म का अर्थ जीवनपद्धति है और वह हमारी संस्कृति का सत्त्व, आत्मतत्त्व ethos है। अभी अभी तक पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित, अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग धर्म की ओर तुच्छता से देखते थे, obscurantism मानते थे किन्तु वे भी अगर गंभीरता से अध्ययन करेंगे तो उनको भी धर्म का सही महत्त्व ध्यान में आएगा।

धर्म की निंदा करने वाले लोगों में पं. नेहरू अग्रसर थे। लेकिन जीवन के अंतिम चरण में उन्होंने धर्मशास्त्रों का अध्ययन शुरू किया था। प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक और उस समय के केंद्रीय नियोजन मंडल के सदस्य श्री श्रीमन्नारायण की एक छोटी सी पुस्तक के Foreword में पं. नेहरू ने लिखा है – In India, it is important for us to profit by modern technical processes and increase our production both in agriculture and industry. But in doing so, we must not forget that the essential objective to be aimed at, is the quality of the individual and the concept of *Dharma* underlying it. ''भारत में आज हमारे लिए, अत्याधुनिक तकनीकी का लाभ उठाकर खेती और उद्योग क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाना यह अतीव महत्त्वपूर्ण रहा है। लेकिन यह करते हुए, हम यह न भूलें, कि हमारा अपरिहार्य उद्दिष्ट तो व्यक्तिजीवन की गुणवत्ता का विकास और उसके आधारभूत धर्म की संकल्पना है।''

(यह foreword पं. नेहरू ने मृत्यु के पूर्व दो दिन डेहराडून के सर्किट हाऊस से श्री. श्रीमन्नारायण को भेजा था।)

इसी प्रकार ज्यादातर लोग ऐसा मानते हैं कि डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर धर्म के घोर विरोधक थे किन्तु यह ख्याल गलत है। वे धर्म के प्रबल समर्थक

रहे हैं और उन की धर्मकल्पना भी, इसी मातृभूमि में विकसित कल्पना थी। उन्होंने कहा है कि उनके समाजविज्ञान का आधार धर्म है।

Positively my social philosophy may be said to be enshrined in three words : liberty, equality and fraternity. Let no one, however, say that I have borrowed my philosophy from the French Revolution. I have not. My philosophy has roots in religion and not in political science. I have derived them from the teachings of my master, the Buddha ....

सारांश में बताना, तो वे कहते हैं कि उनके सामाजिक तत्त्वज्ञान का आधार जरूर, 'स्वातंत्र्य, स्वातंत्र्य और बंधुता' यही तत्त्वत्रयी है। लेकिन यह तत्त्वत्रयी उन्होंने फ्रेंच राज्यक्रांति के राजनीतिक तत्त्वज्ञान से नहीं, तो अपने स्वामी भगवान बुद्ध के तत्त्वज्ञान से प्राप्त किया है।

अत: धर्माधिष्ठित समाज माने अपने शाश्वत जीवनमूल्यों के आधार पर आज की परिस्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार समाजधारणा के लिए संस्थात्मक रचनाएँ institutional framework समाज में निर्माण हो। इसमें यह बात साफ ही है कि युगधर्मानुकूल संस्थाओं का निर्माण और रचना करने के लिए धर्मप्रवण व्यक्तिमानस की आवश्यकता प्राथमिक महत्त्व की है।

इन युगधर्मानुकूल संस्थाओं के निर्माण की बात ठीक ढंग से ध्यान में लेनी आवश्यक है। महर्षि मनु के बताए हुए कुछ नियमों के संदर्भ में समाज में आज-सर्वत्र असंतोष व्यक्त किया जा रहा है कारण मनु के सूत्रों का दुरुपयोग करके समाज में से कई निहित स्वार्थी, हितसंबंधी तत्त्वोंने स्वयं के लिए अनुकूल ऐसी सामाजिक विषमता का निर्माण किया और उसमें से उच्चनीच भाव पर आधारित जातिव्यवस्था का निर्माण किया। उस व्यवस्था की आज निंदा होना स्वाभाविकही है। लेकिन यह देखना आवश्यक है कि मूल में भगवद्गीता में वर्णों के बारे में 'गुणकर्म विभागश:'ऐसा शब्द आया है। 'जन्मपर आधारित' ऐसी बात ही भगवंतने की नहीं है। लेकिन उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस समय बनाए हुए नियमों में कालांतर से परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन लाने की आवश्यकता निर्माण हो सकती है यह स्वयं मनु ने भी मान लिया है। उन्होंने कहा है –

परित्यज्येदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ (मनुस्मृति ४-१७६)

मतलब है – अर्थ काम यदि धर्म के अनुसार न हो तो उनका त्याग करना चाहिए। और धर्म के प्रति भी साधारण जनों में रोष या क्षोभ उत्पन्न हो तो उस धर्म में भी परिवर्तन लाना आवश्यक होता है।

अब इस संदर्भ में महर्षि मनु ने 'धर्म' इस शब्द का प्रयोग 'युगधर्म' इस नाते किया है यह स्पष्ट है।

■ 'आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च।'

यह युगानुकूल धर्म की पुन:प्रस्थापना की समाज वैज्ञानिक प्रणाली भारत में विकसित हुई, वह केवल हिंदू समाज के संदर्भ में नहीं, तो पूरे मानव समाज के लिए उपयुक्त वस्तुपाठ के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है।

पूरे मानव समाज के लिए एक आदर्श वस्तुपाठ खड़ा करना यह हमारा राष्ट्रीय ध्येयसंकल्प बताया है तो फिर हमारे समूचे जीवन का, मानवी जीवन का ध्येय क्या है इस प्रारंभिक प्रश्न के संदर्भ में ही हमारे ध्येय, संकल्प का विचार संभव हो सकता है। इस दृष्टि से हमारे ऋषिमुनियों ने जो ध्येय बताया है वह द्विआयामी है। कहा है –

आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च।

याने व्यक्ति इस नाते स्वयं का परमसुख याने मोक्ष और साथ ही समाज संगठन इस नाते जगत् का भी कल्याण। ये दो अलग बातें नहीं हैं। व्यक्ति के परमसुख के कारण जगत्कल्याण की सहायता होती है। जगत्कल्याण हो तोही व्यक्ति का परमसुख उसमें निहित होता है। दोनों परस्पर पूरक बातें हैं और यह धर्म के आधार पर होता है ऐसा आश्वासन हमारे ऋषिमुनियों ने दिया है। यहाँ व्यक्तिजीवन का उद्देश्य रहा है परमसुखदायी मोक्ष। सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन का ध्येय रहा है, धर्मस्थापना। अब कभी कभी ऐसा पूछा जाता है कि 'हमारा गंतव्य स्थान मोक्ष है किन्तु स्वामी विवेकानंद जैसे श्रेष्ठ पुरुष ने कहा है कि जब तक इस देश का कुत्ता भी भूखा होगा, मैं मोक्ष की कामना नहीं करूँगा। इसी प्रकार से ही पू. डॉक्टरजी ने पू. गुरुजी की जीवनसरणी बदल दी । इन दोनों बातों का तालमेल कैसे हो सकता है?' अब अपने कार्यकर्ताओं के मन में यह आशंका उपस्थित होना स्वाभाविक है। जिन महापुरुषों का उदाहरण सामने आता है वे परमसुख की साधना करने वाले अत्यंत श्रेष्ठ पुरुष हैं। ऐसे

सत्पुरुष और भी हैं। अब ये श्रेष्ठ पुरुष अगर कहते हैं कि जब तक दुनिया के अन्य जीव दुखी हैं तब तक मुझे केवल अपना परमसुख भी नहीं चाहिए, तो इसका मतलब है कि वे अस्तित्व के व्यापक स्तर पर चैतन्य के साथ एकात्म हुए हैं। वैसे ही तो हमारी संस्कृति में परमसुख याने मोक्ष की साधना की पूर्वशर्त pre-requisite जो सामने रखी है वह तो 'सर्वभूतहितेरतता' यानी सभी भूतमात्रों के सुख के, हित के प्रयास करने में मग्नता, यही बताई है। तो मोक्ष की कामना और समाजकार्य इन दोनों बातों में कोई द्वंद्व हो ही नहीं सकता। ऐसे चैतन्य के उच्चतम, व्यापक स्वरूप से एकात्म होने से व्यक्ति के निजी जीवन की सुखकल्पना बदल जाती है, यह बताने वाले कितने ही उदाहरण हैं! इस प्रकार के श्रेष्ठ पुरुषों का कहना होता है कि जब तक उनका ध्येय सिद्ध नहीं होगा तब तक उन्हें मोक्ष की भी इच्छा नहीं है। संत ज्ञानेश्वर ने भक्तों का वर्णन करते समय कहा है कि ये भक्त भगवद्भक्ति के आनंद में और यह भक्ति का संदेश सर्वदूर फैलाने में इतने रम जाते हैं कि वे मोक्षसुख भी नकारते हैं, 'मोक्षाते परौते सर म्हणती।' मोक्ष यदि सामने आकर खड़ा हुआ तो उसको भी 'दूर हट जाओ' ऐसा कहते हैं।

तो व्यक्तिगत साफल्य और समाजहित इन दोनों में कोई द्वंद्व नहीं होता। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं।

अपने गीतारहस्य इस विख्यात ग्रंथ में इस विषय का लोकमान्य तिलकजी ने जो जिक्र किया है वह भी ऐसे ही विचारों से मेल खाने वाला है। सारांश में बताना है, तो वे कहते हैं कि, मनुष्य सर्वभूतहित के अंतिम स्तर तक पहुँच गया तो भी न केवल स्वदेशाभिमान की बल्कि कुलाभिमान की भी उसे आवश्यकता रहती ही है। कुल, स्वदेश, विश्व ये मानवी समाज की दृष्टि से भिन्न भिन्न स्तर होते हैं और हर स्तर का अपना एक कार्य रहता है। और मानवता के विकासचक्र में हरेक स्तर के कर्तव्य की निरंतर आवश्यकता बनी रहती है, चाहे समाज कितना भी विकसित हो। कारण कुल के स्तर पर जो विशिष्ट संस्कार तथा कार्य होता है, वह देश के स्तर पर नहीं होगा। वैसे ही देश के स्तर पर जो कार्य होता है, वह सर्वभूतात्मक दृष्टि के आधार पर, विश्व के स्तर पर नहीं होगा। इसलिए समाज की पूर्णावस्था में भी विश्व के स्तर पर, सर्वभूतात्मैक्य के आध्यात्मिक साफल्य के स्तर पर रहने वाले व्यक्तियों को भी अपने कुल के या समाज के संदर्भ में जो कर्तव्य रहेंगे उनसे विमुख होना उचित नहीं होगा।

मानवी जीवन के ध्येय के संदर्भ में हमारी संस्कृति ने यह जो व्यक्ति और समाज की परस्परपूरकता, परस्परावलंबित्व ध्यान में लिया है वह महत्त्वपूर्ण है। समाजपरिवर्तन प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज दोनों घटक बुनियादी आयामों के रूप में माने गए हैं। कोई छोटा या बड़ा नहीं। प्रमुख या दुय्यम नहीं।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का व्यापक संदर्भ

इस धर्मप्रवण व्यक्तिमानस और धर्माधिष्ठित समाजरचना की प्राथमिक महत्ता के परिप्रेक्ष्य में ही संघकार्य के अधिष्ठान का विचार हम कर सकते हैं। यही ध्येयवृष्टि सामने रखकर, संघकार्य का सिद्धान्तन तथा उसका क्रियान्वयन, पूरे कार्य की रचना हुई है। इसी को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कहा गया है।

यह जो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की बात आती है उसका संदर्भ context भी ध्यान में लेना चाहिए। इस संदर्भ में जो विशेषता है, अगर वह हम ध्यान में न लेते तो हमारा ध्येय 'राष्ट्रीय पुनर्निर्माण' यह क्यों रखा गया है और हमारे मिशन का महत्त्व क्या है यह हम ठीक ढंग से नहीं समझ सकेंगे। जैसे कि बताया है कि मनुष्य की चेतना का क्रमशः विकास होते होते वह विश्वसमर्पित हो और आगे चलकर पूरा विश्व सुखशांति का अखंड अनुभव करे यह हमारी सुख की कल्पना है। लेकिन इसके लिए समूची मानवजाति तो धर्मप्रवण बनाना आवश्यक है। हमारी संस्कृति का वैश्विक ध्येयव्रत world mission यही रहा है कि संपूर्ण विश्व को धर्म का संस्कार हमें देना है। तो हमारी राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की बात इसी ध्येयव्रत के परिप्रेक्ष्य में ध्यान में लेना आवश्यक है। जैसे कि अपने प्रसिद्ध उत्तरपाडा भाषण में श्री अरविंद ने कहा था – 'हिन्दू राष्ट्र और सनातन धर्म ये दोनों अभेद्य हैं।' लेकिन हम आज ऐसा अनुभव करते हैं कि अंग्रेजों ने 'हिन्दू' के बारे में किया हुआ गलत प्रचार और 'साहेबवाक्यं प्रमाणम्' ऐसा मानकर उसका स्वीकार करने वाले हमारे आंग्लविद्याविभूषित लोग इनके कारण हिन्दू राष्ट्र का जो World mission है वह हम नहीं समझ सके। इसके कारण बहुतही गलतफहमियाँ हैं, कई संघ स्वयंसेवकों के मन में भी हैं। एक बार एक मित्रने पूछा कि 'संघ का काम कितने दशकों से चल रहा है, फिर भी कोई उसका प्रभाव नहीं दिखाई देता। तो अपने हिन्दू राष्ट्र की स्थापना कब होगी?' मैंने कहा कि 'बेटा, जब तुम्हारा जन्म होगा।' तो चौंककर वो बोला, 'मेरा जन्म तो हो चुका है।' तो मैंने कहा कि 'हिन्दू राष्ट्र भी तो ऋग्वेदपूर्व काल से चल

रहा है। जब से इतिहास ने आँखें खोलीं तब से यह हिन्दू राष्ट्र है ही। तो नई स्थापना कौनसी होनी है।' फिर उन्होंने पूछा कि, 'अभी अभी तो डॉ. हेडगेवार जन्मशताब्दि में कहा गया कि डॉ. हेडगेवार हिन्दू राष्ट्र के ये हैं, वो हैं, वो फिर वह क्या था?' हमने कहा कि 'डॉ. हेडगेवार हिन्दू राष्ट्र के निर्माता नहीं है। हम ऐसे ओछे लोग नहीं है कि किसी एक व्यक्ति को राष्ट्रपिता कहेंगे। भारत हमारी माता है, तो राष्ट्रपिता के रूप में अगर हम किसी व्यक्ति को स्थापित करेंगे तो वह बेइज्जती की बात होगी। इतना ओछापन हमारे पास नहीं है। डॉ. हेडगेवार हिन्दू राष्ट्र के ज्ञापक कारण हैं। जैसे किसी अंधेरे कमरे में कई चीजें रहती हैं, फिर भी अंधेरे की वजह से दिखाई नहीं देतीं। फिर कोई आकर बत्ती जलाए, तो चीजें दीखने लगती हैं। तो बत्ती केवल ज्ञापक कारण है। उन चीजों का निर्माणक कारण नहीं है। उसी तरह यह हिन्दू राष्ट्र एक सनातन सत्य है, लेकिन गलतफहमियों के अंधेरे के कारण दिखाई नहीं देता था। उसको दिखाने का कार्य ज्ञापक कारण होकर पू. डॉक्टरजी ने किया है।'

■ हिंदू और मानव-पर्यायवाची शब्द

तो हिन्दू राष्ट्र यह सनातन सत्य है। फिर भी कई जानेमाने स्वयंसेवकों के मन में भी तरह तरह के भाव आते रहते हैं। अपने एक स्वयंसेवक Archaeology के, पुरातत्त्व संशोधन शास्त्र के, एक विद्वान विशेषज्ञ के मन में आशंका थी कि हिन्दू शब्द का प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख तक नहीं है। तो फिर हिन्दू शब्द को प्राचीनता की antiquity की दृष्टि से पावित्र्य sanctity, प्रामाण्य क्या हो सकता है? मैंने बताया, 'यह बात तो हिन्दू शब्द के लिए discreditable नहीं है। मैं जब पढ़ाई के लिए पहली बार नागपुर आया तब दूकानों पर साईन बोर्ड रहते थे 'आर्वी के घी की दूकान', 'बुलढाणे के घी की दूकान'। जब महायुद्ध के काल में बाजार में वनस्पति डाल्डा आने लगा तब दूकानों पर साईनबोर्ड बदल गए। अब, 'आर्वी या बुलढाणा के शुद्ध घी की दूकान' ऐसे बोर्ड आए। तो जब तक वनस्पति घी बाजार में नहीं था तब तक नागपुर के बाजार में आने वाला सब घी शुद्ध ही रहता था। तो फिर घी शुद्ध है यह विशेषकर बताने की जरूरत नहीं थी। लेकिन जब डाल्डा वनस्पति घी के कारण भिन्नता, विशेषता बताने की जरूरत पड़ी तब बोर्डपर 'शुद्ध घी' ये शब्द आए। हमारे पुरखों ने हमेशा मानव का मानव के रूप में ही विचार किया है। यहाँ हमेशा मानव की

दृष्टि से ही सोचा गया। यहाँ के 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस उद्घोष में भी पूरी दुनिया के लोगों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा करने की ही तमन्ना थी। ऋग्वेद काल की प्रार्थनाओं से लेकर अभी अभी प्रस्तुत किए हुए पं. दीनदयालजी उपाध्याय के 'एकात्म मानवदर्शन' तक, पूरी मानवजाति के, विश्व के कल्याणकारी विचार हमारे विचारकों ने दिए हैं। किसी एक जाति का, पंथ का, राष्ट्र का भी नाम उसमें आता नहीं। यह केवल मानवदर्शन है। भगवान मनु ने भी अपने धर्मशास्त्र को हिन्दुधर्मशास्त्र नहीं कहा। 'मानवधर्मशास्त्र' ही कहा है।

हमने अपनी पृथक् पहचान identity रखने का विचार नहीं किया। संपूर्ण मानव जाति से हम स्वयं को एकात्म ही मानते थे। हमारी प्रार्थना थी –

पुमान् पुमांसं परि पातु: विश्वत:। (ऋग्वेद ६.७५.१४)

मतलब, पौरुषयुक्त पुरुष ही पुरुष का सर्वतोपरि रक्षण करे।

कालांतर से हिन्दुस्थान के बाहर कुछ भूभागों में ऐसे लोग निर्माण हुए, जो स्वयं अपने को शेष मानवजाति से एकात्म न समझते हुए अपनी अलग पहचान रखना चाहते थे और स्वतंत्र identity को अन्य लोगों पर भी, आवश्यक हो, तो तलवार के बल पर भी थोपने की प्रवृत्ति उनमें निर्माण हुई। ऐसे लोग जब भारत में आए तब उन लोगों से हम भिन्न हैं, यह स्पष्ट करने की आवश्यकता हमारे लिए भी उत्पन्न हुई। इसलिए अपनी identity का परिचायक अलग शब्द उपयोग में लाना पड़ा। वह भी हिन्दुओं ने स्वयं निकाला नहीं। पराये लोगों ने 'हिन्दू' यह नाम हम को दिया।

जैसे अन्य प्रकारों का घी बाजार में आना शुरू होने के बाद शुद्ध घी का उल्लेख विशेषकर करना पड़ा, वैसे ही इस सनातन समाज का दुनिया के अन्यान्य पृथकतावादी समाजों से संबंध आना शुरू हुआ, तो अपनी अलगता बताने की जरूरत महसूस होने लगी और अन्य समाज भी हमारी विशेषता का अनुभव करने लगे, तो उन्होंने सिंधू Indus नदी के प्रदेश के रहिवासी इस नाते हमें Indus से निर्माण हुआ 'हिन्दू' यह नाम दिया। वास्तव में मानवता के अतिरिक्त हमारी अलगता बताने की हमारी मानसिकता ही नहीं है। स्वातंत्र्यवीर सावरकर, जिन्हें कट्टर fanatic हिन्दू कहा जाता है, उन्होंने कहा है, 'तुम कहते हो कि तुम मुसलमान हो और मैं हिन्दू हूँ इसलिए मैं कहता हूँ मैं हिन्दू हूँ और तुम मुसलमान हो। वरना मैं तो विश्वमानव हूँ।'

एक अन्य वक्तव्य में सावरकरजी ने कहा है – "In fact, the Earth is our motherland and humanity our nation; but as long as law of evolution lays down the Iron Command that the weak and the coward are always the victims of the strong and the courageous, the banner of nationality will refuse to be replaced by that of universality...."

संक्षेप में बताना तो वे कहते हैं कि वास्तव में यह धरती हमारी मातृभूमि है और मानवता यह हमारा राष्ट्र है। लेकिन जब तक दुबले और कायर जीव प्रबल तथा साहसिक जीवों से शिकार बनाए जाए यह सृष्टि की कड़ी आज्ञा जारी है तब तक राष्ट्रीयता का झंडा मानवता के नाम पर नहीं हटाया जा सकता।

दूसरी जगह उन्होंने कहा है – 'इतना ही नहीं, तो यदि मुसलमानत्व, ख्रिश्चनत्व, इत्यादि का त्याग करने के लिए अन्य जनसमूह तैयार होंगे तो मेरा हिन्दुत्व भी मानवता में विलीन हो जाएगा; वैसी मेरी राष्ट्रीयता भी मानवत्व में तब विलीन होगी जब इंग्लिशत्व, जर्मनत्व आदि 'त्व' लुप्त होकर मनुष्यत्व ही केवल मनुष्य मात्र में रहेगा। आज भी जो सच्चा मानवतावादी होगा उसके साथ सभी भेदभाव छोड़कर मैं व्यवहार करूँगा।'

हमने हमेशा, विश्व की परिभाषा में ही सोचा है। हम लोग तो चींटियों को भी शक्कर खिलाने वाले हैं। और इसलिए 'वसुधैव कुटुंबकम्' ऐसा हम कहते आए हैं। 'सर्वेऽपि सुखिन: सन्तु। सर्वे सन्तु निरामया:'।' यह हमारी समस्त मानव जाति के लिए शुभकामना रही है।

हम मानते हैं कि हरेक व्यक्ति का सुखप्राप्ति का मार्ग अलग है। फिर भी हरेक को अपने अपने मार्ग से सुख प्राप्त करने का मौका मिलना आवश्यक है, यह अपनी धारणा है। और यह सुख प्राप्त करते समय दूसरों की सुखसाधना में बाधा उत्पन्न करना नहीं, यह भी बाध्यता हमारी संस्कृति ने बताई है। संत ज्ञानेश्वर ने अपने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ के आखिरी हिस्से में 'पसायदान' में यह ध्येयवाद पूरी तरह से प्रकट किया है।

दुरितांचे तिमिर जाओ। विश्वस्वधर्म सूर्ये पाहो।
जो जे वांछील तो ते लाहो। प्राणिजात।

इस दृष्टि से देखा तो 'पसायदान' यह हिन्दू राष्ट्र का manifesto ही है ऐसा हम कह सकते हैं। •

हमारे राष्ट्रीयत्व का प्रारंभ यही तो विश्व संस्कृति का प्रारंभ था। हमारा राष्ट्र यही दुनिया का पहला सुसंस्कृत राष्ट्र है। इसके कारण ही हमारा राष्ट्रीयत्व और विश्वसंस्कृति इन दोनों आयामों का विचार हमारे यहाँ हमेशा साथ साथ होता आया है। जैसे पहले बताया है, शेष मानव जाति से हम अलग हैं यह बताने वाले मनुष्य समूहों के संपर्क में आने के बाद ही हमारी अलगता का परिचय देने वाली 'हिन्दू' यह संज्ञा हमें प्राप्त हुई। इन गतिविधियों के कारण हमारा राष्ट्रीयत्व हिन्दुत्व हो गया।

वास्तव में हिन्दू और मानव ये हमारे लिए पर्यायवाची शब्द रहे हैं। (Hindu and human are synonimous) मानव जाति में जितनी उपासना पद्धतियाँ होंगी उन सभी का स्वीकार करता है हिन्दुत्व! अपनी विशेषताओं को न छोड़ते हुए, वे सभी हिन्दुत्व में सुख से समाई जा सकती हैं। आखिर हिन्दू विचार और अहिन्दू विचार इनमें क्या अंतर है? '<u>केवल</u> जीजस के द्वारा' यह अहिन्दू विचार है। 'जीजस के द्वारा <u>भी</u>' यह हिन्दू विचार है। '<u>केवल</u> महंमद साहब के द्वारा' यह अहिन्दू विचार है। 'महंमद साहब के द्वारा <u>भी</u>' यह हिन्दू विचार है। either-or-ism अहिन्दू पद्धति है। as-well-as-ism यह हिन्दू पद्धति है। इसी के आधार पर समस्त मानव जाति का सही संगठन हो सकता है। संपूर्ण मानवजाति एक परिवार है यह धारणा निर्माण हो सकती है।

• इस दृष्टि से पूरे 'पसायदान' याने प्रसाद के दान की माँग का भावार्थ हम संक्षेप में देख सकते हैं। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने परमात्मा से अनुरोध किया है कि मुझे प्रसाद दीजिए। क्या है वह प्रसाद? तो दुष्टों की कुटिलता नष्ट हो जाए और उनकी सत्कर्म की ओर आस्था निर्माण हो। दुनिया के सभी जीवों की परस्परों के प्रति मित्रता, स्नेह, सद्भाव बढ़े। पाप का विनाश हो, विश्व को स्वधर्मरूपी सूर्य का प्रकाश प्राप्त हो। जिस को जिस बात की तमन्ना है वह पूरी हो जाए। ईश्वरनिष्ठों का समूह, सर्वदूर विश्वकल्याण बरसते हुए, सभी जीवों को निरंतर मिलता रहे। ये ऐसे सज्जन हैं कि वे साक्षात कल्पवृक्षों के बगीचे हैं, सभी इच्छाएँ पूरी करनेवाले चिंतामणिओं की बस्ती हैं; अमृतमय वाणी के सागर हैं; कलंकरहित चंद्रमा हैं; तापहीन सूरज हैं। ऐसे सज्जन सभी जीवों के मानो प्रिय रिश्तेदार बनकर रहते हैं। इस दृष्टि से तीनों लोक, याने स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल - सुख से परिपूर्ण होकर आदिपुरुष परमात्मा का संकीर्तन निरंतर करते रहे।

■ वैश्विक ध्येयव्रत की आधारभूमि

इस वास्तविकता का संदर्भ मन में रखते हुए भी हमें यह ध्यान में लेना आवश्यक है कि जिन्हें विश्व की चिंता करनी है उन्हें भी कहीं न कहीं अपना base of operation बनाना होता है। पक्षियों में यदि किसी की सब से ऊँची उड़ान होगी तो वह गरुड की होगी, लेकिन आकाश में बहुत ऊँची उड़ान भरने के बावजूद वह अपना घोंसला आकाश में नहीं अपितु धरती पर या किसी पेड़ पर बनाता है। अर्थात संपूर्ण विश्व के कल्याण का उद्देश्य होते हुए भी हमें मुहिम की आधारभूमि base of operation अति आवश्यक है। छत्रपति शिवाजी महाराज के सामने हिन्दवी स्वराज्य का लक्ष्य था, किन्तु उन्होंने महाराष्ट्र को base of operation बनाया था। जोसेफ मॅझिनी के सामने संपूर्ण इटली की स्वतंत्रता का लक्ष्य था। फिर भी base of operation के नाते उन्होंने इटली का एक भाग पिडमाँट रियासत से जंग शुरू किया। प्रिन्स बिस्मार्क के सामने संपूर्ण जर्मनी को संयुक्त और स्वतंत्र बनाने का उद्देश्य था। इसलिए उन्होंने base of operation प्रशिया को बनाया। अब केवल महाराष्ट्र तक सीमित रहने का उद्देश्य शिवाजी महाराज का नहीं था, केवल पिडमाँट तक सीमित रहने का मॅझिनी का उद्देश्य नहीं था और न ही केवल प्रशिया तक सीमित रहने का उद्देश्य प्रिन्स बिस्मार्क का था। किन्तु उद्देश्य बड़ा व्यापक होने के बावजूद भी पहले कहीं न कहीं अपना base of operation सीमित करना ही पड़ता है। इस दृष्टि से हमारा mission जो विश्वकल्याण है उसका base of operation भारत तथा हिन्दू राष्ट्र ही हो सकता है।

लोकमान्य तिलक ने एक दूसरे निमित्त से इस विषय के संदर्भ में जो विचार रखे हैं वे यह base of operation का प्रमेय दोहराने वाले हैं। उनके विचार संक्षेप में बताना हो तो ऐसा कह सकते हैं कि जब तक आसपास विद्यमान अन्य राष्ट्र विकास के निम्न स्तर पर होंगे, तो मानवता की दृष्टि से विकसित ऐसे राष्ट्र ने, मानवकल्याण के हेतु सदैव ऊपरी स्तर पर रहना संभव नहीं होता है। क्योंकि अन्याय का मुकाबला करने के लिए परस्पर सम्बन्धों में जैसा का वैसा व्यवहार करना आवश्यक रहता है। सभी को भूतात्मैक्य की पहचान हो, यह तो सार्थ अपेक्षा है। लेकिन आत्मोन्नति की यह परम अवस्था जब तक सभी को प्राप्त नहीं होती, तब तक अन्य समाजों का स्तर ध्यान में लेते हुए महापुरुषों ने अपने अपने समाज को अपने अपने काल के अनुरूप देशाभिमानादि धर्म का ही संस्कार देना न्यायोचित होता है। (संदर्भ - भारतीय संस्कृति कोश, खंड ५)

माने, मन में भले ही विश्वकल्याण का संकल्प हो, अगर हमारी उदारता और व्यापकता सही रूप में अन्य राष्ट्र नहीं समझ सकेंगे तो विश्वकल्याण के लिए ही base of operation के नाते हम अपना राष्ट्रजीवन समर्थ करें यही लोकमान्य तिलकजी के कहने का सार है।

विश्वकल्याण के हमारे इस World Mission के बारे में न केवल हमें विश्वास है, बल्कि दुनिया के आज के कई जानेमाने चिंतकों को भी विश्वास है; जैसे कि मशहूर विचारक अर्नोल्ड टॉयन्बी हैं। टॉयन्बी ने दुनिया की अट्ठाईस संस्कृतियाँ और उपसंस्कृतियों का गहराई से अध्ययन किया था। इस अध्ययन के उपरान्त वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दुनिया का मार्गदर्शन करने की क्षमता केवल भारत में ही है। उन्होंने कहा है कि दुनिया में जितने भी सारे भेद-विभेद हैं वे भारत में भी मौजूद हैं, लेकिन एक चीज दुनिया में नहीं है, जो केवल भारत में ही है। वह है विभेदों को विविधता के रूप में देखना और विविधता के अंतर्गत बहने वाली एकात्मता का साक्षात्कार पाना। याने Unity in diversity ! इस देन की वजह से भारत अपनी सभी समस्याओं को मिटाने में सफल रहेगा और फिर ऐसा भारत दुनिया के सामने एक मॉडेल बनकर रहेगा। इसलिए टॉयन्बी ने हम से आवाहन किया है कि तुम अपना कल्याण तुरन्त करो ताकि उस पर विश्व का कल्याण निर्भर है।

अर्नोल्ड टॉयन्बी जैसे विचारकों ने यह जो आवाहन किया है, उसका तथ्य भी ध्यान में लेना चाहिए। अपनी सांस्कृतिक परंपरा के आधार पर, दुनिया को स्वस्थ, संपन्न, समर्थ मानवी समाज के विकास के लिए एक नमूना जगद्गुरू के नाते उपलब्ध करा देना, यह हमारा वैश्विक ध्येयव्रत (World Mission) है, ऐसा हम भी कहते हैं। लेकिन दुबले समाज की दुनिया में कोई नहीं सुनेगा, इस लिए टॉयन्बी ने कहा है कि तुम अपना कल्याण तुरन्त करो, समर्थ बनो। हम विश्वमानवतावादी भले ही होंगे। विश्वकल्याण की कामना से विश्व में संस्कृति का और शांति का संदेश फैलाने में हम सफल नहीं होंगे, अगर इस वैश्विक ध्येयव्रत की आधारभूमि जो हिन्दू राष्ट्र है, उसका समर्थ संपन्न पुनर्निर्माण करने में सफल नहीं होंगे। कवि कृ. रा. चौहान के एक गीत में कहा है –

तुम हिंदू हो विश्वबंधु हो परधर्मों के मित्र उदार
किन्तु नहीं हाँ दुर्बलता की अब सुनता संसार पुकार

फिर भी राष्ट्र की सबलता की, सामर्थ्य की हमारी संकल्पना भी ध्यान में लेना आवश्यक है। हमारा जो वैश्विक ध्येयव्रत है, वह जरूर एक तरह से दुनिया का नेतृत्व करना है, लेकिन ऐसे नेतृत्व का मतलब, भौतिकतावादी लोग सोचते हैं वैसे military supremacy, political supremacy या प्रादेशिक प्रभुत्व का नहीं है। पू. गुरुजी ने विश्वव्यवस्था-विश्वराज्य की हमारी संकल्पना सामने रखी है –

''हमारी संकल्पना के अनुसार, जागतिक व्यवस्था में सभी स्वयंशासित और स्वयंपूर्ण ऐसे विभिन्न राष्ट्रों का समान सूत्र में बंधा हुआ संघराज्य विकसित हो यह कल्पना है और इसके लिए वैश्विक ऐक्यभाव का भव्य संकल्प सामने रखने वाला हिन्दू विचार आधारभूत शिला के नाते रहेगा। भूतल के छोटे से छोटे भी हरेक जीवनचैतन्य की विशेषता के पूर्ण और मुक्त विकास को अवसर मिले, मानवता के सौख्य के लिए पराकाष्ठा का प्रयास करने की उदात्त उमंग हर व्यक्ति के अंतरंग में उभडकर आए, यही वह हिन्दू विचार है। अगर कोई वैश्विक ध्येयव्रत हो सकता है तो यही है।''

हमारा मतलब केवल मानवकल्याण के लिए एक मॉडेल-एक आदर्श दुनिया के सामने खड़ा करना इतना ही है। इसी को 'विश्वगुरुत्व' ऐसा कहा गया है।

दूसरी जगह पू. गुरुजी ने बताया है –

''हमारे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का प्रारंभ मनुष्य निर्माण से ही होना आवश्यक है। सभी प्रकार के मानवी मनोमालिन्य पर मात करने की क्षमता व्यक्ति में निर्माण हो; प्रेम, आत्मसंयमन, त्याग, सेवा, चारित्र्य इन सभी पारंपरिक गुणों से भरे हिन्दू व्यक्तित्व का परिचायक ऐसा प्रकाशमान प्रतीक इस नाते वह खड़ा हो यह हमारा उद्दिष्ट है। हमारी राष्ट्रीयता का यह तथ्य, यह गौरवशाली दर्शन हम अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देंगे तो ही प्राचीन काल के जैसे हमारी मातृभूमि को जगद्गुरू के स्थान पर विराजमान करने में हम सफलता प्राप्त करेंगे। अतीत में हमारी संस्कृति ने ऐसा नेतृत्व दिया था।''

■ पश्चिमी समाजविज्ञान की अवधारणाओं की तुलना में

संघकार्य के आधारभूत हमारे समाजविज्ञान की यह विशेषता पश्चिमी सिद्धान्त की तुलना में सही ढंग से ध्यान में आ सकती है। संक्षेप में बताना हो तो योरप में रेनेसान्स की प्रक्रिया के पश्चात् मानवी बुद्धि तथा प्रतिभा मुक्त हो गई और आधुनिक वैज्ञानिक युग का प्रारंभ हुआ। रेने डेकार्ट, सर फ्रान्सिस

बेकन, आयझॅक न्यूटन जैसे वैज्ञानिक तत्त्वज्ञों ने अणुप्रवण (atomised) और यांत्रिकी (mechanistic) विश्वरचना की जो नई वैज्ञानिक प्रणालियाँ सामने रखीं उनके आधारपर गत तीन सदियों में कुछ सामाजिक प्रणालियाँ पश्चिम में विकसित होती आई हैं। और आम तौर पर पश्चिमी समाज में व्यक्तिवाद तथा इहवाद का प्रभावी माहौल बना रहा।

उसमें से एक प्रणाली, जो उदारमतवादी, व्यक्तिवादी मानी जाती है, उसमें समाज़रचना का मूलभूत घटक basic entity व्यक्ति माना गया है। फिर व्यक्ति को समाज की आवश्यकता ही क्यों प्रतीत होती है? जैसे क्लब का उदाहरण है। मूलभूत घटक व्यक्ति है किन्तु वह अकेले में पूर्ण सुख प्राप्त नहीं कर सकता, किसी न किसी साथी की आवश्यकता उसे प्रतीत होती है। ताश खेलना हो तो भी अकेले में ज्यादा देर तक खेल नहीं हो सकता और साथी की आवश्यकता प्रतीत होती ही है। मतलब यह कि अपने ही सुख के अनुभव के लिए बाहर से कुछ साथियों की कुछ समय के लिए आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए वह क्लब में प्रवेश करता है और क्लब से contract करता है। क्लब मनोरंजन की कौन कौन सी सुविधाएँ देता है और इनके बदले में मैंने क्लब को कितना चंदा देना चाहिए। इसी आधार पर Social Contract की प्रणाली समाज में विकसित हुई। जब तक सुखसुविधाएँ मिलती रहती हैं तब तक समाज से नाता रहता है। अगर समाज व्यक्ति को सदस्य को सुखसुविधा नहीं प्रदान करता तो उससे कोई संबंध बनाए रखने का बोझ सदस्य पर नहीं रहता। वह संबंध आसानी से तोड़ा जाता है। तो समाजरचना का club and member यह model बन गया।

अब इस अतिरिक्त व्यक्तिवाद के परिणामस्वरूप अपनी सबलता के आधारपर निजी हितसंबंधों को सफल करने हेतु समाज के दूसरे दुर्बल घटकों का शोषण करने में कोई आपत्ति नहीं यह पूँजीवादी समाजतत्त्वज्ञान निर्माण हुआ।

इसी की प्रतिक्रिया के रूप में शोषणरहित समाजनिर्मिति के दावे के साथ कार्ल मार्क्स ने साम्यवादी विचारप्रणाली का सिद्धान्तन किया और समाजरचना का एक नया मॉडेल खडा किया जिसमें समाज और व्यक्ति का नाता machine और cog-wheel यंत्र और उसका दाँतवाला चकाह जैसे माना गया।

समाजरचना की जिन दो प्रणालियों का उल्लेख आया है - माने पूँजीवादी लोकतांत्रिक रचना और साम्यवादी रचना - उन दोनों का दृष्टिकोण तो समान याने भौतिकतावादी ही है और वे अस्तित्व की एकात्मता भी मानती नहीं हैं। इसके

कारण लोकतंत्र में व्यक्ति और समाज इनमें मूलभूत द्वंद्व माना गया है और साम्यवाद में समाज के अन्यान्य हितसंबंधी गुटों की, वर्गों की और उन में होने वाले वर्गसंघर्ष की प्रणाली विकसित हुई।

और भी एक बात है। लोकतांत्रिक पूँजीवादी समाजरचना में व्यक्तिस्वातंत्र्य पर जोर दिया गया और साम्यवादी जीवनसरणी में समता पर जोर दिया गया। लेकिन इहवादी हितसंबंधों के कारण दोनों में सामाजिक अस्वास्थ्य तो पैदा हुआ ही।

स्वातंत्र्य और समता इन दोनों मूल्यों पर एकान्तिक जोर देने से जो खतरा पैदा होता है उसकी ओर डॉ. आंबेडकरजी ने हमारा ध्यान खींचा है। जैसा कि पहले बताया है कि डॉ. आंबेडकरजी ने अपना 'स्वातंत्र्य-समता तथा बंधुता' का तत्त्वज्ञान राजनीतिक तत्त्वज्ञान इस नाते फ्रेंच्य राज्यक्रांति के तत्त्वज्ञान से लिया नहीं था। वह उन्होंने इसी भूमि में पैदा हुए बौद्ध तत्त्वज्ञान से लिया था। डॉ. आंबेडकरजी ने इस विषय का जिक्र करते समय लोकतंत्र में विकसित व्यक्तिस्वातंत्र्य की अतिरिक्तता और साम्यवादी जीवनसरणी में विकसित केवल समता की अतिरिक्तता, दोनों को सही परिप्रेक्ष्य में देखा है और उन दोनों में संतुलन लाने हेतु बंधुता के तत्त्वपर जोर दिया है। वे कहते हैं 'In my Philosophy, liberty and equality have a place; but unlimited liberty destroyed equality and absolute equality left no room for liberty. I give the highest place to fraternity as the only safeguard against the denial of liberty or equality. Fraternity was another name for brotherhood of humanity, which was again another name for *Dharma* Only brotherhood can protect freedom and equality. This brotherhood is also called social oneness. It is humanity, it is *Dharma!*'

संक्षेप में बताना तो वे कहते हैं कि उनके तत्त्वज्ञान में स्वातंत्र्य, और समता इन मूल्यों को जरूर स्थान है, लेकिन अमर्याद स्वतंत्रता के कारण समता को खतरा पैदा होता है और अतिरिक्त समता स्वतंत्रता की जकडबंदी कर देती है। और इसलिए वे बंधुता को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि बंधुता ही स्वतंत्रता और समता को ऐसे खतरे से बचा सकती है। उनकी दृष्टि से यह बंधुता ही धर्म, मानवता तथा सामाजिक एकात्मता है। यह बंधुता ही स्वतंत्रता और समता की रक्षा कर सकती है।

इन शब्दों में डॉ. आंबेडकरजी ने एक दृष्टि से लोकतांत्रिक पद्धति तथा साम्यवादी प्रणाली इन दोनों मार्गों में जो कमी है वह अधोरेखित की है।

हमारे द्रष्टाओं ने कहा कि संपूर्ण अस्तित्व एक है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' विविध नामरूप धारण करने वाले विविध घटक उसी के आविष्कार हैं। जैसा सोना और विविध अलंकार। अलंकार विविध हैं किन्तु मूल तत्त्व सोना तो एक ही है। आटे की बात लीजिए। आटे से रोटी आदि कितने भी पदार्थ बने, सभी का मूल तत्त्व एक ही होता है, वह यानी आटा। इसी तरह अस्तित्व का मूल तत्त्व एक ही, पर आविष्कार भिन्न भिन्न। इसलिए कहा गया – All is one! All are one ऐसा नहीं कहा है।

अब All is one इस साक्षात्कार के कारण विश्व का अंग मानव समाज; मानव समाज का अंग राष्ट्र या विवक्षित मानवसमूह; उसका अंग एकेक व्यक्ति ऐसी धारणा प्रचलित हुई। व्यक्ति basic है या समाज basic है यह विचार ही नहीं उत्पन्न हुआ। दोनों basic माने गए हैं। एक के बिना दूसरे की तथा दूसरे के बिना पहले की कल्पना ही नहीं की जा सकती। व्यक्ति का शरीर और एकेक अंग इनमें जिस तरह का अविभाज्य तथा सेंद्रिय संबंध होता है उसी तरह का अविभाज्य सेंद्रिय एकात्मता का संबंध समाज और व्यक्ति इन में है। इसी कारण हमारे यहाँ समाजरचना का model शरीर और अंग यह माना गया है। इसी व्यक्ति-समाज संबंध को 'अंगांगी भाव' यह संज्ञा है।

पश्चिमी विचारविश्व में विज्ञान के तत्त्वों का उपयोजन करके जो यांत्रिकी विश्वरचना की इहवादी समाजवैज्ञानिक प्रणालियाँ बनीं उनका और एक परिणाम था। मानवी मन यह दुय्यम और matter only is material ऐसा प्रमेय सामने रखा गया। परिणामत: ऐसा माना गया है कि मनुष्य के मन में परिवर्तन लाने के लिए अलगसा प्रयास करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि सामाजिक परिस्थिति के कारण ही मनुष्य के मन का ढाँचा बनता है। भौतिकतावादी विचारों के प्रभाव से मानवी मन को जादा महत्त्व न देते हुए भौतिक परिस्थिति को ही समाजवैज्ञानिकों के चिंतन में अधिक स्थान मिला। मनुष्य का मन दुय्यम बात है, ऊपरी ढाँचा super-structure है जो सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की नींव पर socio- economic foundation पर निर्भर रहता है। इस दृष्टि से एक बार सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन लाया गया तो मनुष्य में परिवर्तन अपने आप आएगा ऐसा माना गया है। इसलिए उनके विचार में मनुष्य के मन को संस्कारित करना इतना

जरूरी नहीं माना है जितना socio-economic order में परिवर्तन लाना माना है।

अब पूँजीवादी लोकतांत्रिक प्रणाली में मान्यता है कि समाज में जो कुछ परिवर्तन लाना है, जो कुछ सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाएँ बनानी हैं वे शासन के द्वारा ही बनाई जा सकती हैं। Reforms through legislation यह इसका सूत्र रहा है। भले यह legislation लोकतांत्रिक पद्धति से निर्माण हुआ हो। फिर भी इस पद्धति में शासन ही सर्वेसर्वा बन जाता है। प्रत्यक्ष में तो प्रसारमाध्यम तथा अन्य माध्यमों को प्रभावित करते हुए पूँजीवादी लोगों के द्वारा ही लोकतंत्र के अंतर्गत होने वाला निर्वाचन प्रभावित होता है ऐसा पश्चिम के सभी देशों का अनुभव रहा है। इस तरह पूँजीवादी लोग तथाकथित निर्वाचित लोकतांत्रिक शासन के माध्यम से अपने स्वार्थी इरादे पूरे कर सकते हैं।

लेकिन अपने विषय की दृष्टि से और भी एक महत्त्व का पहलू है। शासन पर समाज की पूरी जिम्मेदारी छोड़ने पर मनुष्य की स्वयंप्रेरणा क्षीण तथा कुंठित हो जाती है। सामान्य व्यक्ति निष्क्रियसा होता है। उसकी उपक्रमशीलता पर शासनकेंद्री समाजव्यवस्था का प्रतिकूल सा असर होता है। इसी संदर्भ में हमें याद आती है - मार्गरिट थॅचर ने अपने Election Manifesto में नारा दिया था कि 'I will make work attractive!' ताकि शासन से प्राप्त बेरोजगारी का निर्वाह-वेतन लेकर निष्क्रियता से घर में बैठे युवकों को काम करने के लिए प्रवृत्त किया जाए।

दूसरी जो प्रणाली है या थी, वह है साम्यवादी समाजरचना की। उसमें भी भौतिकवादी जीवन दृष्टिकोण के आधार पर ऐसा ही माना है कि समाजपरिवर्तन शासकीय राजनीतिक सत्ता के माध्यमसे ही हो सकता है। इसलिए राजनीतिक सत्ता एक बार हाथ में लेंगे तो सभी व्यवस्थाएँ बराबर हो जाएँगी ऐसा उनका विचार है। इसलिए एक बड़ा रोमांचकारी romantic शब्द बहुत ही मशहूर हुआ है। वह है revolution! कहा है, क्रांति होगी तो जग सुखी होगा। यह साम्यवादी विचार पश्चिमी लोगों के मानसपुत्रों ने हमारे यहाँ भी प्रसृत किया। कोई क्रांति चाहता है, कोई समग्र क्रांति चाहता है।

इस प्रणाली के कारण भी शासन सर्वेसर्वा हो गया और व्यक्ति नगण्य, निर्माल्यवत् बन गया। व्यक्ति का स्वातंत्र्य तथा उसकी स्वयंप्रेरणा कुचल दी गई और एकाध विराट यंत्र का एक छोटासा घटक स्क्रू होता है उतना ही स्थान व्यक्ति को प्राप्त हुआ।

तो ये दोनों पश्चिमी समाजवैज्ञानिक प्रणालियों की मानसिक पृष्ठभूमि है, पहले परिस्थिति में, व्यवस्था में परिवर्तन लाना, फिर उसके द्वारा मनुष्य के मन में परिवर्तन आएगा। पश्चिमी समाज में साधारण तौर पर यही प्रातिनिधिक विचार रहा है।

पश्चिम में समाजपरिवर्तन की पूरी जिम्मेदारी शासनपर सौंपी गई है। अब जिम्मेदारी और अधिकार समकक्ष-समानता से संतुलित रहना अनिवार्य तथा स्वाभाविक ही होता है। किसी को कुछ जिम्मेदारी दे दी तो उसको उतनी मात्रा में अधिकार भी देना आवश्यक होता है। Responsibility and authority must be corresponding यह तो प्रकृति का नियम है। अगर शासन को ही राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना है तो शासन को सर्वाधिकार देना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में शासन तानाशाही कर रही है यह शिकायत करने का कोई नैतिक अधिकार समाज को रहता नहीं। ऐसा कहा जाता है कि Power corrupts and absolute power corrupsts absolutely सत्ता भ्रष्ट करती है और निरंकुश सत्ता पूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है।

और भी एक बात है।

शासन के माध्यम से, शासन के भरोसे राज्य निर्माण हो सकता है, लेकिन राष्ट्र निर्माण नहीं हो सकता, न किसी राष्ट्र का पुनर्निर्माण भी हो सकता है। शासन के आधारपर राष्ट्र निर्माण हुआ ऐसा एक भी उदाहरण दुनिया के आज तक के इतिहास में नहीं दिखाई देता है और कुछ आंतरराष्ट्रीय परिस्थिति के कारण, कुछ राज्यों का निर्माण हुआ, शस्त्रों के आधार पर कुछ राष्ट्रों का विभाजन हुआ और उन विभाजित टुकडों को आज की परिभाषा में राष्ट्र बताया गया, तो भी वे राष्ट्र नहीं, राज्य हैं यह स्पष्ट है। अतः ऐसे शासन के आधार पर अलग बनाए गए राष्ट्र के हिस्से आज पुनः एकत्र आ रहे हैं, ऐसा अनुभव है। जैसे कि जर्मनी, व्हिएटनाम इन राष्ट्रों के बारे में हुआ, कोरिया के बारे में भी होना संभव है। उसके साथ ही जिधर सैनिकी सत्ता के आधार पर अनेक राष्ट्रों को मिलाकर जबरदस्ती एक राष्ट्र बनाने का प्रयास हुआ, उधर एक राज्य जरूर बना लेकिन एक राष्ट्र नहीं बना और मौका आनेपर उस एक राज्य में जबरदस्ती से एकत्रित लाए हुए राष्ट्र अब अपनी अपनी निजी राष्ट्रीयता के आधारपर अलग हो रहे हैं। जैसे सोव्हिएट युनियन में हुआ, युगोस्लाविया में, झेकोस्लोवाकिया के बारे में हुआ। इसी प्रक्रिया से बंगला देश की निर्मिती हुई।

तो शासन के द्वारा राष्ट्र का निर्माण नहीं होता यह तो स्पष्ट है। इस दृष्टि से हमें लगता है, हमें जो परिवर्तन इस देश में, समाज में लाना है, वह शासन के द्वारा होना असंभव है। पश्चिमी विचार प्रभाव से १९४७ के बाद हमारे राजनीतिक नेतृत्व की ऐसी धारणा बनी है कि परिवर्तन शासन के द्वारा ही हो सकता है। शासन की बागडोर अपने नेताओं के हाथ में आने के पश्चात जनता में भी यह भ्रांतिपूर्ण धारणा फैल गई कि अब अपना शासन ही सब कुछ करेगा। शासन 'कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्' याने बनने बिगड़ने में समर्थ है और समाज की धारणा तथा परिवर्तन शासन के माध्यम से ही होगा। लेकिन यह विचार केवल अधूरा ही नहीं, बल्कि गलत भी है।

हमारी संस्कृति का विचार है कि सामाजिक भौतिक परिस्थिति मनुष्य के मन पर जरूर परिणाम करती है। लेकिन मनुष्य का मन भी सामाजिक परिस्थिति पर असर करता है। दोनों की एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती हैं। फिर भी उसमें, भगवान ने मनुष्य के मन को ही इच्छाशक्ति प्रदान की है और वही निर्णायक तत्त्व हैं जिसके आधार पर मन socio-economic order पर अधिक निर्णायक decisive असर करता है। इसलिए मनुष्य के मन को संस्कारित करना, अधिक मानवी बनाना, 'स्व' के ऊपर उठाकर उन्नत करना यह हमारी संस्कृति की विशेष योजना है।

इस दृष्टि से हिंदू समाजविज्ञान में राजनीतिक सत्ता माध्यम का सीमित महत्त्व माना गया है। राष्ट्रनिर्मिति के अनेक साधनों में से, माध्यमों से एक, इतना ही शासन या राजसत्ता का महत्त्व माना गया है। एकमात्र या प्रमुख साधन नहीं माना गया है। समाज की धारणा शासननिरपेक्ष होती रहे यही हमारा आदर्श रहा है। इसलिए हमारे यहाँ सर्वसामान्य नागरिकों की राष्ट्रीय चेतना महत्त्वपूर्ण मानी गई है। ऐसी राष्ट्रीय चेतना से युक्त समाजजीवन की अन्यान्य इकाइयों के माध्यम से, अलग अलग जनसंघटनाओं के, mass organisations के माध्यम से, स्वायत्त रचनाओं के द्वारा ही समाज की धारणा होगी एवं गतिविधियाँ चलती रहेंगी और उन्हीं के माध्यम से समाज में एक नित्यसिद्ध राष्ट्रवादी जनसत्ता बनी रहेगी। समाज ऐसी ही नित्यसिद्ध राष्ट्रवादी जनसत्ता के द्वारा स्वयंशासन के आदर्श को चरितार्थ करता रहेगा यह हमारी अवधारणा है। एक दृष्टि से देखा जाए तो, अतीत में हमारे समाज में बहुकेंद्री सत्ता की रचना multi- dimensional power structure थी। इसके कारण वह राजसत्ताकेंद्री नहीं बना।

ऐसे स्वयंशासित समाज में बीच बीच में कुछ विकृतियाँ, बाधाएँ निर्माण हुईं तो उनको दूर करने में समाज की सहायता करना इतना ही शासन जैसे भृत्य का कार्य अवश्य होगा। शासन समाज का नौकर है, भृत्य है, स्वामी नहीं है। इस दृष्टि से प्रजानुरंजन शासन का कर्तव्य माना गया है, प्रजा नियंत्रण नहीं।

हाँ, यह ठीक है, यदि सामान्य जनता सचेत है, राष्ट्रीय जागृति का स्तर ऊँचा है, सचेत राष्ट्रवादी जनसंगठन सक्रिय हैं और वैकल्पिक सत्ताकेंद्र के नाते काम कर रहे हैं तो राजनीतिक नेताओं के द्वारा भी सत्कार्य करवा लेना संभव हो सकता है। लेकिन सचेत राष्ट्रवादी शक्ति जैसे attendent factors सहायक तत्त्व यदि अनुपस्थित हैं, तो केवल राजनीतिक सत्ता के द्वारा सबकुछ होगा ऐसा मानना कितना खतरनाक हो सकता है, इसका अनुभव हम लोग आज कर रहे हैं। मैं कॉलेज में था तो हमें एक कविता पढ़ाई जाती थी, जिसमें कहा गया था कि, 'अर्थातुराणां न पिता न बन्धुः'। जो केवल अर्थप्राप्ति के लिए आतुर है वह नहीं देखता कि यह पिता है, बंधु है। और 'कामातुराणां न भयं न लज्जा।' कामातुर लोगों को कोई भय भी नहीं होता, न कोई लज्जा होती है। वैसे ही आज के संदर्भ में कहना पड़ता है कि, 'सत्तातुराणां न दलं न राष्ट्रम्।'. अर्थात सत्तातुर राजनीतिक लोगों के लिए न कोई दल है, न कोई राष्ट्र।

हमारी संस्कृति की जो मान्यता है कि स्वायत्त, आत्मनिर्भर जनसंगठन राजसत्तापर निर्भर न रहे, समाज सत्ताकेंद्री न रहे, इस दृष्टि से वर्तमानकाल में भी थोड़े अलग रूप में हमारे देश में चर्चा हुई है। राजनीतिक दल का एक अंग इस रूप में विभिन्न जनसंगठन काम करें या नहीं, ऐसी चर्चा हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के समय से होती रही है और हमारी संस्कृति का, इस संदर्भ में जो आग्रह रहा है उसके अनुसार सोच विचार करने वाले हमारे नेताओं ने सही ढंग से विचार भी किया है। एक दो महत्त्वपूर्ण उदाहरण हमारे सामने हैं।

पहली बार यह सवाल आया १९३६ में लखनऊ काँग्रेस के समय। पं. नेहरू और कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव लाने की सोची कि किसान सभा तथा मजदूर संगठन काँग्रेस के अंग wings के रूप में काम करें। लेकिन महात्माजी ने ऐसा प्रस्ताव रखने को ना कहा। उनका कहना था, जो जनसंगठन हैं उनको स्वायत्त, स्वतंत्र रहने दीजिए। इतना ही नहीं तो रचनात्मक कार्यों के लिए जो संस्थाएँ स्वयं महात्माजी ने शुरू की थीं, वे भी काँग्रेस के प्रभुत्व में उन्होंने कभी नहीं रखीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् किसान मजदूर प्रजा पक्ष और सोशलिस्ट पार्टी इनका जब विलीनीकरण हुआ और प्रजा समाजवादी पक्ष बना तो प्रश्न उठा

कि हिन्द मजदूर सभा का क्या होगा? क्योंकि अभी तक वह सोशालिस्ट पार्टी के अंग के रूप में कार्य करती थी। डॉ. लोहिया ने कहा कि हमारा यह सिद्धान्त है कि Trade union must be a wing of political party. किन्तु आचार्य कृपलानीजी ने, जो कि गांधीवादी थे, कहा कि ऐसा होगा तो मैं आप के साथ नहीं रह सकता। तब कृपलानीजी का बल ज्यादा था इसलिए जब तक प्रजा समाजवादी पक्ष रहा तब तक हिन्द मजदूर सभा का स्वतंत्र अस्तित्व रहा। अपने भारतीय मजदूर संघ के बारे में भी बहुत बार चर्चा हुई है। राजनीतिक लोगों को यह लगना तो स्वाभाविक है कि दल के लिए तैयार कार्यकर्ता, readymade cadre कहीं मिलता है तो अच्छा ही है किन्तु हम लोगों को मार्गदर्शन करते समय पू. गुरुजी का हमेशा आग्रह रहता था कि जनसंगठन तो अलग, स्वतंत्र ही रहना चाहिए।

अब म. गांधी, आचार्य कृपलानी और श्रीगुरुजी इन तीनों ने एक साथ बैठकर तो यह निष्कर्ष नहीं निकाला था। अलग-अलग समय पर अलग अलग परिस्थिति में, अलग अलग लोगों से, लेकिन उन तीनों ने एक ही बात कही। इसका मतलब है हमारे सनातन राष्ट्रजीवन का जो ढाँचा है, उसका जो धारणातत्त्व है, जिसके आधार पर वह सदियों से, जीवमान रहा है उसकी इन तीनों को सही, पक्की पहचान थी। राजनीति तथा राजसत्ता का सीमित महत्त्व उन्हें अवगत था और इसके कारण ही समाजजीवन राजसत्ता केन्द्री बनाना उनको मंजूर नहीं था।

अन्यान्य जनसंगठन राजनीतिक दलों से जुटे नहीं रहना चाहिए, इस प्रमेय के पीछे म. गांधी, आचार्य कृपलानी, पू. गुरुजी जैसे हमारे क्रियाशील महानुभावों का जो मनोवैज्ञानिक तथा व्यावहारिक तर्कवाद है वह भी ध्यान में लेना आवश्यक है।

सत्ता के उपभोग के कारण सत्ताधारी दल के लोगों का स्खलन होना अधिक मात्रा में संभवनीय रहता है। जैसे कि बताया गया है Power corrupts and absolute power corrupts absolutely! तो फिर ऐसे स्खलन होने पर हितसंबंधों की खींचातानी के कारण, राजनीतिक दल के टूट जाने की संभावना भी अधिक मात्रा में रहती है। अगर जनसंगठन राजनीतिक दल के साथ जुटे रहे तो उनका टूट जाना तो अटल ही होता है। इसलिए यह ठीक नहीं है कि राजनीतिक दल से जनसंगठन जुटे रहे।

हमारी यह मान्यता रही है कि समाज का व्यवहार राजसत्ता पर पूर्णरूपेण निर्भर न हो बल्कि नैतिक नेतृत्व के नियंत्रण-मार्गदर्शन के आधारपर हो। सर्वसामान्य

राष्ट्रीय जनचेतना से उभडकर आई नित्यसिद्ध राष्ट्रवादी शक्ति के रूप में समाज में एक नैतिक नेतृत्व स्वाभाविक रूप से खड़ा होता है। यह नेतृत्व ऐसा होता है कि जिसके हाथ में न कोई राजनीतिक सत्ता हो, न कोई आर्थिक सत्ता हो। है तो केवल समाज के प्रति आत्मीयतापूर्ण कर्तव्यभावना।

अयं निजो परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

अर्थात्, यह अपना, यह पराया, वह मानसिकता तो छोटे मन की मानसिकता है। जो उदारचरित होते हैं, उनके लिए तो पूरा विश्व ही एक परिवार जैसा होता है। इस भावना से ऐसा नैतिक नेतृत्व निर्माण होता है।

महात्माजी से एक बार किसी ने पूछा कि नैतिकता वगैरह की बात तो ठीक है, लेकिन राजनीति में उससे क्या करना है? तो गांधीजीने कहा कि जीजस खाईस्ट और सीझर दोनों का काल देखें तो दोनों में लगभग एक सदी का ही अंतर है। लेकिन सीझर का नाम आज किसे याद है? जीजस का नाम लेनेवाले तो दुनिया के हर कोने में मौजूद हैं।

ऐसा नैतिक नेतृत्व करने वाले वर्ग को ही आचार्य जावडेकर ने 'यति वर्ग' कहा है। आचार्य विनोबा भावे ने 'आचार्य कुल' इस नाम से इसका उल्लेख किया है। पू. गुरुजी ने इसी को 'ऋषि संस्था' यह नाम दिया है।

यह ऐसे सत्पुरुषों का वर्ग था कि जिनके मन में समाज में से किसी एक ही वर्ग के लिए खास लगाव नहीं था। वे वर्ग-भावना के ऊपर उठकर पूरे समाज का विचार करते थे और यह हिन्दू समाज की सामाजिक रचना की विशेषता थी। पू. गुरुजी ने कहा है – 'यदि समाज की पूरी गतिविधियाँ ठीक ढंग से चलनी हैं, तो समाज में ऐसे लोगों के गुट की नितांत आवश्यकता रहती है, जो समाज में से सभी घटकों के तथा विभिन्न वर्गों के हितसंबंध सही ढंग से समझ सकते हैं और सभी वर्गों में आपस में योग्य संबंध प्रस्थापित करने की क्षमता रखते हैं क्योंकि समदृष्टि होने के कारण उनका अपना कोई भी निजी स्वार्थ उसमें नहीं होता है।'

तो अपनी समाजधारणा, समाज का योगक्षेम एवं राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की कल्पना में सर्वसाधारण नागरिकों की राष्ट्रीय जनचेतना नींव जैसी होती है। ऐसी राष्ट्रीय जनचेतना के आधार पर जो स्वायत्त, स्वयंशासित जनसंघटन स्वाभाविक रूप से खड़े होते हैं वे ज्यादातर व्यावसायिक स्वरूप के होते हैं किन्तु कुछ

गैरव्यवसायी भी होते हैं, जैसे धार्मिक, पांथिक आदि। ये दोनों घटकों के बिना समाज में नैतिक नेतृत्व निर्माण नहीं हो सकता।

ऐसे नैतिक नेतृत्व के मार्गदर्शन पर और नित्यसिद्ध राष्ट्रशक्ति के रूप में निर्माण हुई जनचेतना के आधार पर जो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का काम अन्यान्य क्षेत्रों में होता है उसकी सीमा में ही राज्यशासन को कार्यकर्तव्य रहता है। अगर शासन ने इस सीमा का उल्लंघन किया तो उसको नियंत्रित करने की ताकत इस राष्ट्रीय जनशक्ति में होगी। शासन सर्वेसर्वा नहीं है। उस पर जनशक्ति का नैतिक अंकुश हो यह हमारी कल्पना है। जनशक्ति का यह अंकुश यही धर्मदण्ड माना गया है, जो राजदण्ड के ऊपर रहा, तो ही राजंदण्ड ठीक तरह से समाज का शासन कर सकता है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो हमारे देश में भी प्राचीन काल में राजनीतिक क्रांतियाँ हुई हैं। वेदकाल से हुई हैं। अगस्ति ऋषि का अवमान करने वाले नहुष राजा को यहाँ पदच्युत किया गया। फिर भी हमारे यहाँ ऐसी क्रांति में भी धर्म की संस्थापना को याने मनुष्य के मन पर संस्कार अंकित करने वाली प्रणाली को ही महत्त्व दिया गया। इसी को दूसरे शब्दों में धर्मदण्ड कहा जाता था। वेन राजा ने कुछ अवांछनीय गर्हणीय unparliamentary व्यवहार किया तो उसको हटाया गया। लेकिन अपने विषय के संदर्भ में ध्यान में रखने की एक बड़ी महत्त्व की बात है कि जैसे वेन को हटाया गया, उसके लड़के को ही राजा बनाया। माने क्रांति तो हुई लेकिन समग्र क्रांति नहीं हुई। अवांछनीय तत्त्व को हटाकर धर्मतत्त्व की प्रतिष्ठापना की गई और इस धर्मप्रतिष्ठापना के लिए वेन के सुपुत्र को राजा बनने के लिए शर्तें बताई गईं और यह प्रतिज्ञा ग्रहण करने पर बाध्य किया गया।

यन्मां भवन्ति वश्यन्ति, कार्यमर्थं समान्वितम्
तदहं वः करिष्यामि नात्र कार्याविचारणा।

याने कि आप को खुशी हो ऐसा ही करूँगा। आप प्रजाजन जो कुछ कहेंगे वही मैं करूँगा। और दूसरा कुछ नहीं करूँगा।

लेकिन राजदण्ड पर प्रभाव रखने वाली नैतिक शक्ति राष्ट्रीय जनचेतना के बिना निर्माण नहीं हो सकती यह भी ध्यान में लेना आवश्यक है। वैसे तो समाज में नैतिक नेता हमेशा कुछ रहते ही हैं, किन्तु व्यक्तिगत रूप में। नेतृत्व यह सामूहिक संज्ञा है। अपने देश में नैतिक नेता के नाते म. गांधीजी को तथा

जयप्रकाशजी को मान्यता दी जाती है। विभाजन के साथ ही क्यों न हो, देश में स्वराज्य आया, उसके लिए हुए आंदोलन गांधीजी के ही नेतृत्व में हुए। किन्तु स्वराज्यप्राप्ति के बाद जिन के हाथ में शासन की बागडोर आई, उन्होंने गांधीजी की सलाह लेना भी बंद कर दिया। लुई फिशरने लिखा है कि 'गांधीजी इस बातसे व्यथित थे और आँसू बहाते थे। कहते थे कि अबतक ये लोग हर बात में मेरी सलाह लेते थे। अब सलाह लेने के लिए भी नहीं आते। शायद इसलिए कि मेरी सलाह उनकी इच्छा के अनुकूल न रही तो उनकी मुष्किल होगी। इसलिए वे मिलने ही नहीं आते।'

जयप्रकाशजी के बारे में भी यही अनुभव है। इन १९७७ के निर्वाचन में जनता ने जयप्रकाशजी के नामपर ही जनता पार्टी को मत दिया था। जनता पार्टी की तो विधिवत् स्थापना भी नहीं हुई थी और विधिवत् अ. भा. कार्यकारिणी का निर्माण भी नहीं हुआ था। जनता पार्टी यह एक हवा का नाम था। लोगों ने जयप्रकाशजी को ही मत दिया था किन्तु सत्ता में आने के बाद जनता पार्टी के राज्यकर्ताओं ने जयप्रकाशजी की चिंता करना छोड़ दिया। यहाँ तक कि ये बूढ़े आदमी पटना में मृत्युशय्यापर थे तो भी उनसे मिलने की किसी केन्द्रीय मंत्री को फुरसत नहीं हुई। इसका भी यही कारण है। गांधीजी तथा जयप्रकाशजी नैतिक नेता तो थे किन्तु उनके पीछे उपर्निर्दिष्ट राष्ट्रीय चेतना से युक्त संगठित जनसाधारण तथा उनके स्वायत्त, स्वयंशासित जनसंगठनों की शक्ति पर्याप्त मात्रा में नहीं थी। या, जो थी, वह भी उस समय के राजनीतिक वायुमंडल के भूलभुलैया में क्षीण हो गई। इसका मतलब है, नेतृत्व के नैतिक प्रभाव को भी यह राष्ट्रीय जनचेतना ही बल देती है। ये दो शर्तें जब पूरी हो जाती हैं तब सामूहिक, नैतिक नेतृत्व का उदय होता है और परिस्थिति भिन्न प्रकार की रहती है।

तो नीचे राष्ट्रीय जनचेतना से युक्त समाज तथा उसके जनसंगठन। उसके बल पर खड़ा सबसे ऊपर सामूहिक नैतिक नेतृत्व। इन दोनों के बीच राजसत्ता।

हाँ। यह ठीक है कि प्राचीन काल में इस आदर्श स्थिति के अंतर्गत ऐसी जो व्यवस्था, रचना और गतिविधियाँ थी वे हजार सालों की परतंत्रता से गिरी हुई अवस्था के कारण आज नहीं रह सकीं। इसके कारण ऐसी परिस्थिति में संघ जैसी कुछ विशेष परिवर्तन व्यवस्था सिद्ध करनी पड़ी है।

हमारी संस्कृति की मान्यता के अनुसार, केवल व्यवस्था निर्माण तथा व्यवस्था परिवर्तन से समाज का योगक्षेम सुचारू रूप से चलेगा ही ऐसा नहीं। व्यवस्था

कार्यान्वित करनेवाले व्यक्ति का भी मूल्यनिष्ठ परिवर्तन होना आवश्यक होता है। और वह परिवर्तन सुसंस्कारों के माध्यम से होता है। ऐसे सुसंस्कारित, धर्मप्रवण व्यक्ति अगर व्यवस्थाएँ कार्यान्वित करेंगे तो ही व्यवस्थाएँ भी मूल्यनिष्ठता से व्यवहार करेंगी और धर्माधिष्ठित समाज का निर्माण होगा। इस दृष्टि से संघ ने जो परिवर्तन प्रक्रिया सामने रखी है, उसके भी दो आयाम हैं। एक है व्यक्तिनिर्माण, दूसरा है धर्माधिष्ठित समाज का निर्माण !

इसी हेतु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघने युगानुकूलता से अपने इस प्राचीन राष्ट्र के पुनर्निर्माण का व्रत लिया है और यह परिवर्तन परिपूर्ण हो इस दृष्टि से पू. डॉक्टरजी ने मानो एक तरह का श्रमविभाजन किया। उन्होंने सोचा कि व्यक्तिमानस सुसंस्कारित, धर्मप्रवण करने का काम संघस्थान पर होगा। व्यक्ति का चेतना स्तर level of consciousness अधिकाधिक विकसित करना, स्वयं के परे जाकर समाज के, राष्ट्र के, मानवता के साथ उसे जुटाना, उसके कारण व्यक्ति का पूरा निजी व्यवहार सामाजिक नैतिकता के आधार पर ही हो ऐसा मानस तैयार करना, यही है संघ की धर्मप्रवण व्यक्तिमानस बनाने की अवधारणा। यही कार्य संघस्थान पर होनेवाले कार्यक्रम तथा दैनंदिन संघव्यवहार इनके माध्यम से होता है। फिर ऐसे धर्मप्रवण संस्कारित व्यक्ति समाज के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दू जीवनपद्धति, तथा जीवनमूल्य इनके आधार पर विविध स्वायत्त जनसंगठनों का, संस्थाओं का, रचनाओं का निर्माण करेंगे। इसी के द्वारा युगानुकूलता से धर्मसंस्थापना और धर्माधिष्ठित समाजरचना होते हुए राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य होगा। और ऊपर जिन सभी बातों का ज़िक्र किया है वह पूरा विचारव्यूह 'हमारा सैद्धान्तिक अधिष्ठान' इस नाते संघने अपनाया है।

हमारा संगठन तो इतना व्यापक उद्दिष्ट, इतना विशाल ध्येयसंकल्प सामने रखकर कार्य कर रहा है, फिर भी समाजमन पर राजनीतिक वायुमंडल का भारी असर होने के कारण संघपर कई आरोप लगाए जाते थे और आज भी वे जारी हैं। १९४७ के पूर्व भी हम 'संगठन के लिए संगठन' ऐसा कहते थे तो लोगों को विश्वास नहीं होता था। राजनीतिक सत्ता हासिल करने का छुपा हेतु संघकार्य के पीछे है ऐसे लगातार आरोप लगाए जाते रहे। पू. गुरुजी ने इस संदर्भ में कहा था कि, 'हमें दुख होता है, इसलिए नहीं कि हमपर झूठे इल्जाम लगाए जा रहे हैं। दुख इस बात का है कि मच्छर मारने के लिए हम हाथ में गदा लेकर चल रहे हैं, ऐसा कहा जाता है इस बात पर।'

मतलब साफ है कि संघ जो इतना व्यापक, शक्तिशाली संगठन खड़ा करने का प्रयास कर रहा है, उसकी तुलना में राजनीतिक सत्ताप्राप्ति तो एक छोटी सी बात है। इसके लिए इतने बड़े संगठन की जरूरत ही नहीं होती।

■ ध्येयसंकल्प कोई नया तो नहीं

हम यह देख सकते हैं कि संघ ने अपने सामने जो ध्येयसंकल्प रखा है उसके अधिष्ठान रूप कोई नई संकल्पना वह नहीं लाया है। जैसे कि पहले बताया कि हिन्दू राष्ट्र का कोई नया निर्माण करना नहीं है, न तो पू. डॉ. हेडगेवार हिन्दू राष्ट्र के निर्माता है। इस देश में एक सुस्थित राष्ट्रजीवन सदियों से चलता आया है और इसी अधिष्ठान पर चलता आया है। यह अधिष्ठान ही इस राष्ट्र का जीवित हेतु और अस्तित्वसूत्र भी है।

महंमद इक्बाल ने कहा है, 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' और अन्य देशों के बारे में उन्होंने कहा है, 'यूनान, मिस्र, रोमा, सब मिट गये जहाँ से।' बड़े बड़े साम्राज्य मिट्टी में मिल गए लेकिन, 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।' यह बात इस संदर्भ में ठीक तरह से ध्यान में लेना उपयुक्त है। भूतकाल में निर्माण होकर साम्राज्यों की भी स्थापना करने के बाद यूनान, मिस्र, रोम आदि राष्ट्र नष्ट हो गए, किन्तु भारत की राष्ट्रसंस्था सभी उतार-चढ़ाव, सभी हालतों में अक्षुण्ण रीतीसे चलती आई है इसका रहस्य क्या है, यह विचार कुछ इतिहासशास्त्रज्ञों के मन में आया। उन्होंने इस विषय पर तुलनात्मक अध्ययन करते हुए निष्कर्ष निकाला कि इस तरह जितने भी राष्ट्र नष्ट हो गए उनके राष्ट्र जीवन के अंतिम चरण में उनका समाजजीवन पूर्णरूपेण शासनकेन्द्रित हो गया था और अन्तर्गत कारणों से या बाह्य आक्रमण के कारण हो, जैसे ही उनका शासन टूट गया वैसे ही शासन पर अवलंबित राष्ट्रजीवन भी टूट गया। जैसे कोई बेल वृक्षपर चढ़ती है, वृक्षके सहारे बढ़ती है किन्तु उस वृक्ष को हाथी ने यदि गिरा दिया, तो वृक्ष के साथ बेल भी गिर जाती है क्योंकि वह खुद के बलपर खड़ी नहीं होती। वृक्षपर ही अवलंबित होती है। वैसे ही शासनकेन्द्रित राष्ट्र टूट जाता, जब शासन टूट जाता है। भारत में अबतक कभी भी समाजजीवन शासनकेन्द्रित नहीं था। कई राजा, सुलतान, व्हाईसरॉय, आए और गए किन्तु हमारा मौलिक राष्ट्रजीवन अक्षुण्ण रीती से चलता रहा। शासन में हुए परिवर्तनों के कारण राष्ट्र के मौलिक समाजजीवन को धका नहीं लगा। टेनिसन ने अपनी The Brook नाम की कविता में

एक छोटे से निर्झर के चिरंजीवित्व का दावा उसके ही शब्दो में व्यक्त किया है –

Men may come and men may go
But I go on forever.

मानव आएँगे, गुजर जाएँगे, मैं तो निरंतर बहता ही रहूँगा। इसी ढंग से हमारे समाजविज्ञान के आधार पर हम यह कहने की स्थिति में हैं कि,

The governments may come
and the governments may go
But Hindu Rashtra goes on for ever.

हमारे इस चिरजीवन का रहस्य क्या है? महंमद इक्बाल ने जिसे 'कुछ बात' इन शब्दों में बताया है वह क्या है? तो वह है, हमारे राष्ट्रजीवन के आधार के नाते 'हमारा अधिष्ठान'! गीता में भगवान ने कार्य की यशस्विता के जो प्रमुख पाँच सूत्र बताए हैं उनमें 'अधिष्ठान' यह सबसे पहला बुनियादी सूत्र बताया है। ऐसा अधिष्ठान निर्दोष, प्रबल तथा सही दिशा में विकसनक्षम होने के कारण ही हमारा राष्ट्र सदियों से बराबर चलता आया है।

■ सत्य सिद्धान्त की विजय

और हमारा अधिष्ठान सत्य सिद्धान्त पर निर्भर है और विजय तो सत्य सिद्धान्त की ही होती है। इसलिए इसकी विजय तो निश्चित है। कारण उसमें अंतर्विरोध निर्माण नहीं होता है। आज ऐसे अंतर्विरोध के कारण असत्य सिद्धान्तों पर आधारित शक्ति टूट रही है। पाकिस्तान मजहब के आधारपर बना लेकिन मजहब के आधार पर राष्ट्र, यह एक असत्य सिद्धान्त है। पाकिस्तान से बांगला देश टूटकर निकला। सिंधू के लोग अपनी अलग अस्मिता जता रहे हैं। बलुची अपनी अलग अस्मिता जता रहे हैं। बादशाह खान के मन में तो पहले से ही पख्तूनी अस्मिता की यह बात थी। इस प्रकार सांस्कृतिक भिन्नता पर आधारित अलग अलग राष्ट्रीय अस्मिता के अनेक आविष्कार, उभडकर आ रहे हैं। यहाँ तक कि पाकिस्तान की माँग के लिए सिंध की असेंब्ली में प्रस्ताव रखने वाले जी. एम. सईद को ऐसा प्रस्ताव रखने के लिए पश्चात्ताप हुआ। वे कह रहे थे कि 'मजहब के आधार पर राष्ट्रनिर्माण की बात गलत थी। यह खुदा का

शुक्र है कि हमको अपनी गलती का अनुभव करने के लिए उन्होंने लंबी जिंदगी दी है। हिन्दुस्थान के साथ हम लोगों ने कैसे ही क्यों न हो इकट्ठा होना चाहिए।'

स्टॅलिन के जीवनकाल में कम्युनिस्टों का बहुत ही बोलबाला हो गया। दुनिया के एक तिहाई भाग पर उनका झंडा लहराता था। कम्युनिस्टों की प्रतिज्ञा थी – मॉस्को केंद्रित एक कम्युनिस्ट साम्राज्य संपूर्ण विश्व में फैलाने की। भारत में भी विकल्प के नाते कम्युनिस्टों के पक्ष में चुनाव परिणाम आ रहे थे। यह देखने के बात अधिकांश लोग सोचने लगे कि भारत में अब तो राष्ट्रवाद समाप्त हो गया है। लेकिन हम लोग उस समय भी कह रहे थे कि दुनिया में कम्युनिस्टों का प्रभावी शासन दिखाई देता है लेकिन सिद्धान्त असत्य हैं तो उसमें अंतर्विरोध निर्माण होगा ही। यह प्रकृति का स्वभाव ही है। लोगों को मेरी बात नहीं जँची। मैंने कहा – 'यदि कम्युनिस्टों को खतम करना है तो प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है।' कार्यकर्ताओं ने कहा कि, 'ये बातें तो आशावाद से कुछ जादा हैं।'

और आज हम क्या देख रहे हैं? गत ८-१० वर्षों में रूस ने अपना साम्यवाद छोड़ दिया है। चीन भी साम्यवाद की जपमाला हाथ में होते हुए भी साम्यवादी विचारधारा छोड़ रहा है। जहाँ जहाँ कम्युनिस्ट शासन था उन सभी देशों ने साम्यवाद छोड़ दिया है। एककेंद्री कम्युनिस्ट साम्राज्य की कल्पना तो कभी की टूट गई है। कम्युनिस्ट देश तो पहले से ही एक दूसरे के विरुद्ध खड़े होने लगे थे। रूस के विरुद्ध चीन, चीन के विरुद्ध व्हिएतनाम, व्हिएतनाम के विरुद्ध कम्पुचिया। जैसे ख्रिश्चन राष्ट्र एक दूसरे के विरोध में हैं। भारत में भी एक ही कम्युनिस्ट पार्टी थी। उसमें से पहले दो टुकड़े हो गए। आज गृहमंत्रालय की सूचना के अनुसार इक्कीस अलग अलग गुट हो गए हैं, जिनमें नक्सलवादी गुट अधिक हैं। संपूर्ण दुनिया को एक करने वाले लाल झंडे के नीचे अब गुटही गुट हैं। रूस के नेता भारत में आनेके समय पहले जमाने में भारत सरकार को सूचित करके सी.पी.आय और सी.पी.एम. के नेताओं से मिलते थे। जब गोर्बाचेव भारत आए तब इन नेताओं को बुलाया तक नहीं। तो जो तत्त्वज्ञान, संस्थाएँ या रचनाएँ असत्य सिद्धान्त पर खड़ी होती हैं वे टिकनेवाली नहीं रहती हैं।

हमारा सिद्धान्त सत्य है तो उसकी विजय तो निश्चित ही है। फिर भी एक बात है। सत्य को मान्यता मिलने में बड़ा समय लगता है। कोपर्निकस को अस्सी सालों बाद मान्यता मिली किन्तु वह भी नकारात्मक थी। जीजस ख्राईस्ट को तीन सौ-तैंतीस वर्षों के बाद मान्यता मिली। जैसा अभी देखा, साम्यवाद के असत्य सिद्धान्त में अंतर्विरोध आया, लेकिन यह अंतर्विरोध निर्माण होकर

सत्य सामने आने में काफी समय लगा। जी.एम. सईद को, पाकिस्तान की माँग करने में गलती की, यह सत्य भी चालीस सालों बाद महसूस हुआ।

वैसे ही, हम जो सत्य सिद्धान्त पर खड़े हमारे अधिष्ठान की बात कर रहे हैं, क्या सदैव इसी की विजय होती है ? नहीं। संत रामदास ने कहा है – 'उपाधिचे ऐसे असे। काही साधे, काही नासे।' (दासबोध, १९.८.२२) अर्थात कुछ बनेगा, कुछ बिगडेगा, बन नहीं पाएगा यह तो प्रकृति का स्वभाव है। कभी विजय हो रही है ऐसा दिखाई देता है और यह पीछे हट रहा है यह भी दिखाई दिया है। धर्म के बारे में भी अनुभव आता है, धर्म पीछे हट रहा है, अधर्म आगे बढ़ रहा है। हमारे इतिहास में ऐसे कई अवसर आए हैं। शिवाजी महाराज के काल की परिस्थिति का वर्णन समर्थ रामदास ने दासबोध में किया है। आज की तुलना में सौ गुना विपरीत परिस्थिति थी। लेकिन यह कहा गया है, कि Principle stands on its own legs याने सिद्धान्त अपने निजी पैरों पर ही खड़ा होता है। अर्थात् सत्य सिद्धान्त की विजय होती ही है।

इस विषय में भगवान श्रीकृष्ण ने जो विवरण किया है वह, अधर्म का बढ़ावा देखकर शंकित होने वाले लोगों के ध्यान में नहीं आता। उन्होंने कहा है, 'यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।' भगवान ने कहा है कि धर्म की ग्लानि 'जब जब' होती है। 'यदा' शब्द का दो बार उपयोग उन्होंने किया है वह ध्यान में लेना चाहिए। इसमें अभिप्रेत अर्थ यह है कि बारबार धर्म की ग्लानि होती है। नहीं तो भगवान सीधे कह देते कि जब धर्म की ग्लानि होगी, मैं आ जाऊँगा और हमेशा के लिए once for all अधर्म का नाश करके वैकुंठ में जाकर सो जाऊँगा। आप भी कम्बल ओढ़कर सो जाना। लेकिन ऐसा नहीं कहा। तो 'यदा यदा' कहा है। और पुन: कहा है 'संभवामि युगे युगे'। बार बार अवतार धारण करने की बात भी भगवान ने कही है।

महंमद इक्बाल ने जो कहा है कि 'यूनान, मिस्र, रोमा सब मिट गए जहाँ से।' इनके जैसी स्थिति हिन्दुस्थान की नहीं होगी, इस का मतलब भी इस दृष्टि से भी ध्यान में लेना आवश्यक है। नहीं तो भगवान कहते, 'यदा यदाहि धर्मस्य मृत्युर्भवति भारत।' 'जब जब धर्म की मृत्यु होगी' ऐसा न कह कर भगवान ने ग्लानि कहा है। ग्लानि का यहाँ अर्थ है बेहोशी। धर्म नष्ट नहीं होता। वह बेहोशी में आ सकता है। जैसे सूर्यनारायण अखंड प्रकाशमान है किन्तु बादल होते हैं, तो सूर्यदेवता दिखाई नहीं देते। इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य नष्ट हो गया। रात्री के समय भी प्राकृतिक कारणों से सूर्य दिखाई नहीं देता। तो सूर्यनारायण

तो अखंड हैं ही। किन्तु हम कभी उनके दर्शन ठीक से कर सकते हैं, कभी नहीं कर सकते। इसी तरह धर्म में ग्लानि आती है।

लेकिन यह सब होते हुए भी यह जो सत्य सिद्धान्त है उसकी अंतिम विजय होती है।

फिर भी अपने कार्यकर्ताओं को कभी कभी ऐसा लगता है कि सत्य सिद्धान्त की विजय निश्चित है और हम सत्य सिद्धान्त पर खड़े है तो आज इसकी विजय क्यों नहीं हो रही है? इसका स्पष्ट अर्थ है कि अपने कार्यकर्ताओं के मन में अपने अधिष्ठान के बारे में सही धारणा कभी कभी ठीक नहीं बनी रहती है। हमारे मजदूर क्षेत्र का उदाहरण है।

बँकिंग क्षेत्र में हमारा काम प्रारंभ होने के पश्चात हमारे N.O.B.W. इस बँक कर्मचारियों के संगठन के कार्यकर्ता कहने लगे कि हम राष्ट्रवादी और चारित्र्यसंपन्न भी है। कम्युनिस्ट संगठन A.I.B.E.A. के कार्यकर्ता राष्ट्रविरोधी भी हैं और भ्रष्टाचारी भी हैं। फिर भी उनकी सतत विजय हो रही है और हमें कष्ट झेलना पड़ रहा है। इसका मतलब है कि, चारित्र्य का कोई महत्त्व नहीं, तिकडंबाजीसे ही यश प्राप्त होता है। मैंने कहा, 'क्या आप को पता है कि A.I.B.E.A. का प्रारंभ हुआ उस समय प्रारंभिक कार्यकर्ताओं ने कितनी आपत्तियाँ झेलीं, कितने कष्ट उठाए, कितनी तपश्चर्या की। आज आपको दीखता है कि श्री प्रभात कार जो A.I.B.E.A. के जनरल सेक्रेटरी हैं, हमेशा हवाई जहाज से यात्रा करते हैं, पंचतारांकित होटल में रहते हैं, मॅनेजमेंट के मोटर कार में घूमते हैं। यह आज की स्थिति है। किन्तु क्या आप को पता है बँक मॅनेजमेंट के विरोध में आवाज उठाने की हिम्मत जब किसी को भी नहीं थी, उस समय प्रभात कार तथा उनके मित्रों ने यह हिम्मत दिखाई। उसके कारण उन लोगों का victimisation भी हुआ। कई वर्षों तक उनको दिन में दो बार खाना भी नहीं मिलता था। फिर भी वे डटे रहे। एक छोटे से कमरे में उन्होंने अपना कार्यालय बनाया। कार्यालय में झाडू लगाना, वहाँ के मटके में पानी भरना, ऐसे छोटे हल्के काम भी स्वयं प्रभात कार करते थे। कालांतर से उनकी तपश्चर्या का फल मिला। तपश्चर्या कोई भी करे। राम करे या रावण करे। जो जो तपश्चर्या करता है उसको उसकी तपश्चर्या का फल तो मिलता ही है। कम्युनिस्टों ने तपश्चर्या की और इतने वर्षों के बाद आज उनको फल मिल रहा है। वह period of gestation है। आपने तो अभी अभी तपश्चर्या शुरू की है। कालांतर से जैसे जैसे आप की तपश्चर्या बढ़ेगी तब आप भी अपने काम में सफलता

पाने लगेंगे और आप की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। किन्तु यह period of gestation ध्यान में रखना ही पड़ेगा।'

संत रामदास ने कहा है –

आपणास जे जे अनुकूल। ते ते करावे तात्काळ।
साधे ना जे त्यासी निव्वळ। एकान्त सेवावा। (दासबोध १९.६.२७)

अर्थात् जो करने की दृष्टि से अनुकूल है, उसे तत्काल किया जाए और जो तत्काल होने वाला नहीं है उसके लिए धीरज रखकर एकान्त में चिंतन करते जाए। उसके पीछे लगने से व्यर्थ शक्ति और समय नहीं गवाया जाए।

कई बार कोई संस्था उसके कार्यक्रमों के कारण पनपने लगती है और उसके विरोध में काम करने वाले सदाचारी लोगों की संस्था पीछे हटती जाती है। ऐसे समय में सदाचारी लोग ऐसे ही शिकायत करते हैं। period of gestation की बात ध्यान में नहीं आती। श्रद्धा के साथ लगातार मैदान में पैर गाड़कर खड़े रहते हैं तो वे भी अवश्य सफल होते हैं किन्तु वह period of gestation का सिद्धान्त न समझने के कारण वे जल्दी हताश हो जाते हैं और मैदान छोड़कर भाग जाते हैं। मैदान में कायम रहते तो सफलता उनको अवश्य मिलती। अधैर्य के कारण मैदान छोड़ने के स्वरूप में उन्होंने ही प्रतिस्पर्धा संस्था को सफल बनाया ऐसा कहीं न होना चाहिए।

■ ऋतु आए फल होय।

तो यह ध्यान में लेना चाहिए कि किसी भी प्रक्रिया के पूर्ण होने में आवश्यक समय तो लगता ही है। कबीर ने कहा है –

धीरे धीरे रे मना, सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घडा ऋतु आए फल होय।।

आपने भी उसी तरह बीज बोया है। सींचा है। ऋतु आने पर फल प्राप्त होगा। आप चाहेंगे कि पानी डाला है, श्याम तक फल आ जाए ऐसा नहीं होता है। गर्भधारणा के नौ मास बाद ही बच्चा पैदा होगा। जचकी के लिए नौ महिनों तक राह देखनी ही पड़ती है। कोई कहेगा कि मैं इतनी प्रतीक्षा नहीं कर सकता। गर्भधारणा के पश्चात २-३ महीनों में जचकी होनी चाहिए। तो अनुभवी लोग बताएँगे कि इस तरह early delivery नहीं हो सकती। जल्दबाजी से abortion होगा, delivery नहीं।

तो प्रत्येक कार्य के लिए पर्याप्त समय लगता है। उस समय तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है। प्रतीक्षा न करने के दुष्परिणामों का अनुभव देश के विभाजन के रूप में हमने किया है। म. गांधी, मौ. आझाद, और अंग्रजों ने भी लिखा है कि काँग्रेस के नेता धीरज रखते और political power की लालच में जल्दबाजी न करते, अखंड भारत के विशाल ध्येय में विश्वास रखते तो विभाजन न स्वीकार कऱते हुए भी स्वराज्य प्राप्त हो जाता। लेकिन पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा We are all tired. मरने से पहले कुछ उपभोग होना ही चाहिए और खंडित स्वराज्य स्वीकार कर दिया। अखंड भारत जैसे सत्य सिद्धान्त की ही विजय होगी यह विश्वास खो कर बैठे थे ये सब लोग।

ऐसा चतुर व्यक्ति जल्द अपना काम पूरा कर सकता है परंतु जैसे स्वामी विवेकानंद ने कहा है, चालाकी से महान कार्य नहीं हो सकते हैं। हाँ, चालाकी से कार्य हो सकता है लेकिन तात्कालिक और छोटा। महान कार्य नहीं। जिस कार्य का राष्ट्रजीवन पर दूरगामी हितकर परिणाम होने वाला है वह काम चालाकी से नहीं हो सकता।

और हमारा कार्य तो बहुत ही व्यापक है। हम तो पूरे देश की राष्ट्रीय जनचेतना जगाने का कार्य कर रहे हैं। तो धीरज रखने की आवश्यकता है। मान लें कि एक पत्थर तोड़ना है। उस पर पाँच दस हथौडे मारने से कुछ होने वाला नहीं है। सौवे हथौडे की चोटसे ही टूटनेवाला है। अब जिसे उसे तोड़ना है, उसे यह निश्चय करना ही होगा कि हमें सौ बार हथौडा मारना है। एक चतुर पुरुष ने कहा, आप यदि जानते हैं कि एक सौवे हथौडे से पत्थर टूटेगा तो फिर ऐसा क्यों न करें कि आप पहले हथौडे के साथ एक सौवा हथौडा मार दें। लेकिन ऐसी जल्दबाजी से और चालाकी से पत्थर नहीं टूटेगा।

तो यह बात तो समझ लेनी चाहिए कि कार्य का प्रारंभ और सिद्धि इन में समय की खाई तो ज़रूर रहेगी ही और यह समय कितना होगा यह निश्चित रूप से कह सकते हैं या नहीं, यह कार्य के स्वरूप पर निर्भर होता है।

हमारा कार्य तो बहुतही कठिन है। जैसे हमने पहले कहा है, ग्यारह सौ वर्ष तक हम पराधीनता के कारण जिंदगी और मौत के संघर्ष के उलझन में थे। हमारी जीवनपद्धति, मूल्यश्रेणी आदि बातें इसी कालखंड में दुय्यम बनीं, उनको क्षीणता तथा क्षति प्राप्त हुई। कई बुनियादी तत्त्व या बातें तो हमारा समाज भूल भी गया। ऐसे आत्मविस्मृत समाज में परिवर्तन की ऊर्मि जगाना, उसे फिर क्रियाशील बनाना, संगठित करना, उसकी राष्ट्रीय चेतना जगाना यह काम बहुतही

कठिन है। अब अपने कार्य की सफलता का मापदंड का विचार करते समय देशकाल परिस्थिति का यह ऐतिहासिक संदर्भ आँखों से ओझल कर, चिंता करते रहेंगे और समाचार पत्र पढ़कर अपना मत बनाएँगे तो अपने काम का या किसी भी समाजसंबद्ध विषय का ठीक ढंग से, गहराई से सही मूल्यांकन assessment हम नहीं कर पाएँगे और अपने काम में बाधा आएगी। लेकिन यह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ध्यान में लिया तो ही हम धीरज से, उचित मनस्थिति में काम कर सकेंगे।

इसलिए यह ध्यान में लेना चाहिए कि हमारा कार्य तो ऐसा नहीं है कि उसकी सिद्धि की तिथि निश्चित है। उसकी सफलता तो निश्चित है क्यों कि वह भगवान का कार्य है। लेकिन उसकी समयबद्धता हमारे तर्क के अतीत है। परिस्थिति कभी विपरीत, प्रतिकूल होगी, कभी थोड़ी सी अनुकूल रहती है।

■ प्रवाह के विरोध में तैरना

ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम के काल में स्वतंत्रता सेनानी, तथा क्रांतिकारक इन्होंने अपना निजी जीवन समाज के लिए समर्पित करके जो आदर्श समाज के सामने प्रस्तुत किया उसके परिणामस्वरूप समाज की राष्ट्रीय चेतना का कुछ मात्रा में जागरण हुआ था। त्याग यह श्रेष्ठ जीवनमूल्य माना जाता था। समाज के लिए कौन कितना बर्बाद होता है उसपर समाज में उसकी श्रेष्ठता साबित होती थी।

लेकिन पश्चिमी भौतिकतावाद के भारी असर के कारण भारत में भी आजकल भौतिकता पर आधारित अपने अपने अधिकारों पर जोर दिया जाता है। परिणामत: यहाँ व्यक्तिवाद तथा इह्वाद आदि के कारण कहीं जातिवाद, कहीं पंथवाद, कहीं भाषा के नाम पर, कहीं प्रादेशिकता के आधार पर या आर्थिक विषमता के कारण विघटनवादी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। पूरा समाज ही इन प्रवृत्तियों के कारण समाप्त हो जाएगा इसकी चिंता ऐसे अहंवादी लोगों को नहीं है। लेकिन हम सब लोग जानते हैं कि आज हम कहाँ खड़े हैं। इस अहंवादी और परिणामस्वरूप स्वार्थी प्रवृत्तियों के कारण ही विदेशी पूँजी के रूप में यहाँ विदेशी आर्थिक साम्राज्यवाद आ रहा है। हमारी स्वतंत्रता समाप्त होकर आर्थिक गुलामी आ जाएगी ऐसा दिखाई दे रहा है। विदेशी साम्राज्यवाद के चंगुल से भारत को कैसे बचाना, यह देश के सामने एक बहुत बड़ी समस्या है। जो राजनीतिक स्वतंत्रता, संप्रभुता हमें इतने वर्षों के बाद प्राप्त हुई है अब उसकी समाप्ति होने की आशंका मन में

पैदा हो ऐसा वायुमंडल है। सामान्य व्यक्ति भी इसी इहवादी-व्यक्तिवादी माहौल का शिकार बन रहा है।

वायुमंडल बदलने के कारण लोगों की सोच भी बदल गई है—जैसे विषैले कीटाणु वायुमंडल में फैले रहते हैं, उनके संपर्क में आने वाले सभी लोगों को बाधा हो जाती है, epidemic आता है। यह वायुमंडल राष्ट्रनिर्माण के अनुकूल नहीं बल्कि राष्ट्र को तोड़ने वाला, विघटनकारी वायुमंडल है।

ऐसे बदलते जीवनमूल्यों के वायुमंडल की कठिन परिस्थिति में हम काम कर रहे हैं। अर्थात् प्रवाह के विरोध में तैरने का काम हमें करना है। प्रवाह के साथ तैरना आसान है, किन्तु विरोध में तैरने के लिए अधिक दम-खम लगता है। यह दम-खम का काम हमें करना है। ऐसी परिस्थिति में केवल हमारे लिए ही नहीं अपितु किसी के लिए भी संगठन खड़ा करना बहुत कठिन है और हमारा कार्य तो पूरे हिन्दू समाज को संगठित करना ऐसा अतिव्यापक कार्य है। हम हिन्दू समाज में संगठन करने नहीं जा रहे हैं। मतलब यह है कि समाज के किसी अलग वर्ग का या हिस्से का संगठन नहीं करने जा रहे हैं। हिन्दू समाज का संगठन हमें करना है। संघ का कार्य समाजरूप हो ऐसा हमारा प्रयास रहा है। तो कार्य तो बड़ा कठिन है ही।

संगठन इस नाते काम करने वाला संघ पूरे समाज के साथ एकात्म है। अगर सदियों से हमारे समाज में चलती आई संस्कार प्रणालियाँ क्षीण होने के कारण संघ जैसी युगानुकूल संस्कारप्रणाली काम कर रही है, तो पूरा समाज ही इस संस्कार प्रणाली का लक्ष्य होना स्वाभाविक है।

इसलिए अपने अधिष्ठान की आंतरिक शक्ति पर श्रद्धा रखकर धीरज के साथ हमें काम करते रहना चाहिए।

■ संक्षेप में

अब तक जो पूरा विचारव्यूह आपके सामने रखा है उसको संक्षेप में फिर एक बार दोहराएंगे तो यह बात दृढता के साथ स्पष्ट हो जाएगी कि सदियों से चलता आया हमारा जीवन तत्त्वज्ञान तथा राष्ट्रीय ध्येयव्रत यही हमारे कार्य का अधिष्ठान है। संघ जैसे व्यापक संगठन को व्यापक अधिष्ठान की आवश्यकता रहती है। हमारी संस्कृति में मनुष्य जीवन के साफल्य के बारे में जो सूत्र विकसित हुआ है उसी के आधार पर मनुष्यों के इस संगठन का अधिष्ठान निर्णित होता है और मनुष्य जीवन का साफल्य बताया है – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च।'

समूची जीवसृष्टि का, अतः मनुष्य का भी अंतिम प्राप्तव्य सुख ही है। यह सुख घनीभूत, निरामय, परिपूर्ण, निरंतर, अखंड हो इस दृष्टि से मनुष्य की चेतना का अखंड विकास होना आवश्यक है। इस विकसित चेतना के कारण ही व्यक्ति 'स्वयं' के परे, भौतिकता के परे जाकर दूसरों को सुखी बनाने का प्रयास करता है, जिससे उसे निरामय, अखंड आनंद प्राप्त होता है।

ऐसे विकसित चेतनायुक्त मानस को ही धर्मप्रवण व्यक्तिमानस कहा है और हमारी संस्कृति की परिभाषा में धर्मप्रवण व्यक्ति को प्राप्त होने वाले निरामय आनंद को ही 'मोक्ष' कहा है।

लेकिन व्यक्ति की चेतना का विकास हो और हर व्यक्ति अपनी अपनी अंत:प्रेरणा के अनुसार अंतिम आनंद का अनुभव करे इस हेतु सुविधाएँ उपलब्ध हो ऐसी कुछ सामाजिक संस्थात्मक रचनाएँ Institutional framework होना भी आवश्यक है। ये रचनाएँ हमारी प्राचीन जीवनपद्धति तथा मूल्यश्रेणी के अनुसार लेकिन युगधर्म पर आधारित हो यह अपेक्षा है। इसी को धर्माधिष्ठित समाजरचना कहते हैं।

तो धर्मप्रवण व्यक्तिमानस और धर्माधिष्ठित मानवसमाज यह हमारा अंतिम गंतव्य है। स्वयं भगवान भी कहते हैं, 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।' धर्मसंस्थापना का लक्ष्य बताया है, 'प्रभवायहि भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्' इसी से समूचे विश्व का अखंड सुख प्राप्त होगा यह हमारा विश्वास है।

यह जो महान ध्येय-'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु-।' हमारे सामने है उसका Base of Operation है हिन्दू राष्ट्र - इसलिए कहा है

> 'एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः। (मनुस्मृति २.२०)

अर्थात्, इस भरतभूमि में अगुआई करनेवाले जिन लोगों ने जन्म लिया है, उनसे पूरी दुनिया के लोगों ने अपने अपने कर्तव्य की शिक्षा पाना उपयुक्त रहेगा।

अगर हिन्दू राष्ट्र का पुनर्निर्माण हुआ, वह समर्थ, संपन्न, सुस्थित रहा तो ही विश्व का कल्याण हो सकता है। हिन्दू राष्ट्र का कुछ नया निर्माण करना नहीं है। इस देश में एक सुस्थित, संपन्न राष्ट्रजीवन सदियों से विकसित होते आया है और इसी अधिष्ठान पर चलते आया है। यह अधिष्ठान इस राष्ट्र का जीवित हेतु है और अस्तित्वसूत्र भी है।

प्रारंभ में ही देखा है, रा.स्व. संघ की ध्येयसृष्टि, उसका नीतिनिर्धारण, कार्यपद्धति, साधन इन सभी पहलुओं का सूत्र पूर्णरूपेण संघ की प्रार्थना में अंतर्भूत है – परम वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्।' यह संघ का ध्येय है। वह ध्येय प्राप्त करने के लिए – 'विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम् –।' यह पूर्वशर्त prerequisite है। और धर्मसंरक्षण का आधार इस नाते 'विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिः' बताई गई है। सारांश में – विशाल संगठन के बलपर निर्माण हुई हमारी कार्यशक्ति सर्वत्र विजयी होकर हमारे धर्म का संरक्षण करके इस राष्ट्र को परम वैभव तक ले जाएगी।

हमारे हिन्दू राष्ट्र को आधारभूमि base of operation बनाकर पूरे विश्व का कल्याण करने का भव्य इतिहासदत्त संकल्प हमारे सामने है। स्वयं के सुख से लेकर विश्वकल्याण तक जाने में यह राष्ट्रकार्य का सिद्धान्त एक कड़ी के रूप में हमारे सामने हैं। 'आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च'। उसमें पूरा विश्वास और श्रद्धा रखकर हमें कार्य करना है। इस सिद्धान्त के हम समर्थक हैं। अगर हम नहीं करेंगे तो भी यह कार्य होने वाला है ही। जैसे जगन्नाथजी का रथ आगे बढ़ने वाला ही है। ऐसा नहीं कि रथ को हाथ न लगाऊँ तो वह आगे नहीं बढ़ेगा। मैं नहीं तो कोई और आ कर आगे बढ़ाएगा। वैसे ही जिस सिद्धान्त और अधिष्ठान को लेकर हम काम कर रहे हैं वह तो विजयी होने वाला ही है। यह एक सर्वंकष कार्य है। इसका यह स्वरूप ध्यान में लेते हुए पूर्ण विश्वास के साथ हम काम करें। कार्य भगवान का है। अगर इस में सफलता नहीं मिली तो भगवान ही देख लेंगे। हमें विचलित होने की आवश्यकता नहीं। सत्य संकल्प का दाता भगवान होता है, और भगवान ने कहा है –

अधिष्ठानं तथा कर्ता, करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा, दैवं चैवात्र पंचमम्। (भ.गी. १८.१४)

अर्थात्, भगवान ने कार्यसिद्धि के जो पाँच सूत्र बताए हैं, उनमें अधिष्ठान जैसी बुनियादी बात है, वैसे कर्ता, साधन और विविध प्रयास के साथ आखिर में 'दैव' यह महत्त्वपूर्ण मुद्दा बताया है।

लेकिन यहाँ दैव याने तकदीर ऐसा अभिप्रेत अर्थ नहीं है। दैव याने दैवी, परमेश्वरी। तो हमारा जो अधिष्ठान है उसे परमेश्वरी कृपा का आशीर्वाद है। हमारे कार्य का अधिष्ठान दैवी है तो कार्य विजयी होने वाला है ही। तो ऐसे विश्वविजयी सिद्धान्तों के अधिष्ठान पर खड़े हुए कार्य के साथ हम रहेंगे तो विजय की पताका हिमालय की तुंगशृंगपर फहराने को सिद्ध होगी ही। ● ● ●

अपनी कार्यपद्धति

पू. डॉ. हेडगेवारजी कहा करते थे, 'तत्त्वज्ञान आचरण में लाने के लिए हुआ करता है, केवल शास्त्रार्थ बोध तथा वाग्विलास के लिए नहीं। प्रथम तत्त्व का आविष्कार और फिर उसके अनुसार व्यवहार होता है। जो तत्त्वज्ञान आचरण में नहीं आता, वह केवल 'तोता रटन्त' अर्थात् निरर्थक है। शब्दाडम्बर मात्र है। ऐसे तत्त्वज्ञान को बाँझ कहा जाना चाहिए। समाज जीवन को आकार देने का सामर्थ्य यदि किसी तत्त्वज्ञान में न हो तो वह व्यर्थ है।'

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विशेषता यह है कि केवल अधिष्ठानरूप तत्त्वज्ञान और ध्येय संकल्प सामने रखना ही संघने पर्याप्त नहीं माना, ध्येय की ओर ले जानेवाला रास्ता भी उसने निर्माण किया है। तत्त्वज्ञान को चरितार्थ करके समाजजीवन को अपेक्षित आकार देनेवाली हेतुपूर्ण, परिणामकारी अपनी कार्यपद्धति का भी निर्माण किया है। अपने सुदीर्घ अनुभव के आधार पर इस कार्यपद्धति के विषय में हम ऐसा कह सकते हैं कि यदि संपूर्ण हिन्दुसमाज को संगठित करने की दृष्टि से कोई एक मात्र, उपयुक्त और प्रभावी कार्यपद्धति है तो वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ही कार्यपद्धति है कोई दूसरी नहीं। इसी कार्यपद्धति के द्वारा संघ ने अपने अधिष्ठान की निजी शक्ति का परिचय भी दिया है।

संघकार्य के अधिष्ठान में तो विशेषता है ही। लेकिन यह ध्येयसंकल्पना प्रत्यक्ष में लाने हेतु प्रयास करने के लिये कार्य की रचना (Work Mechanism) तथा कार्य के बारे में विशिष्ट मानसिकता यानी कार्यसंस्कृति (Work Culture) विकसित करनेवाली संघ की जो कार्यपद्धति है उसमें भी संघकार्य की विशेषता है।

■ केवल अच्छे इरादों से काम नहीं बनता।

संघ ने यह ध्यान में लिया है कि हमारे इरादे अच्छे हैं, इतने मात्र से काम नहीं बनता। उनके अनुकूल संगठन का निर्माण होना चाहिए। संगठन का ढाँचा यदि स्वस्थ न रहा तो हमारे अच्छे उद्देश्यों के बावजूद हमें असफलता

ही प्राप्त होगी। इसलिए संघ ने अपनी ध्येयसिद्धि के विशुद्ध हेतु के अनुसार ही अपनी कार्यपद्धति का ढाँचा सुचारू रूप से सिद्ध किया है।

पू. डॉक्टरजी ने अपनी कार्यपद्धति के माध्यम से जो संस्कार प्रणाली बनाई है वह, मनुष्यस्वभाव अच्छी तरह से ध्यान में लेकर, माने बिल्कुल मनोवैज्ञानिक आधारोंपर बनाई है। हम संगठन करने जा रहे हैं तो उसका आधार है, स्वयं के ऊपर उठकर दूसरों के प्रति आत्मीयता का भाव मन में पैदा करना। अगर ऐसा आत्मीयता का भाव अन्यान्य व्यक्तियों में पैदा नहीं हुआ तो किसी भी क्षेत्र में, किसी भी प्रकार का, किन्हीं भी घटकों का संगठन बन ही नहीं सकता और ऐसा आत्मीयता का भाव निर्माण होने के लिए ऐसे व्यक्ति बार बार मिलना चाहिए। यदि बार बार मिलेंगे तो ही यह भाव निर्माण हो सकता है। किसी ने ऐसा कहा है – To meet is to know, to know is to understand and to understand is to love – अर्थात् मिलना याने पहचान होना, पहचान याने समझ पाना और समझने का मतलब है प्यार करना। इसलिए बार बार संपर्क, मिलनाजुलना आवश्यक है और वह भी समाज में हमेशा जो विघटन का अस्तव्यस्त ऐसा वायुमंडल रहता है, उसमें न मिलते हुए अगर राष्ट्रभावना से ओतप्रोत ऐसे वायुमंडल में मिलते हैं तो उसका मन पर अनुकूल परिणाम होता है। इसलिए संघशाखा पर दैनंदिन एकत्रित आने का आग्रह रखा गया है। इसके अलावा, चाहे नैमित्तिक शिविर के रूप में हो, चाहे वनविहार हो, या अन्य कार्यक्रम हो – बार बार एकत्रित आना, इस पर जोर दिया जाता है।

संघशाखा पर प्रतिदिन ऐसा एकत्रीकरण, यह अपनी कार्यपद्धति के संगठनसूत्र, का बुनियादी पहलू है। उसमें से ही, आनेवाले स्वयंसेवकों के मन में एक पारिवारिक आत्मीयता का भाव विकसित होता है। इस पारिवारिकता के कारण ही एकसाथ काम करने की उमंग मन में पैदा होती है। भगिनी निवेदिता ने एक बार कहा था, सभी हिन्दू लोग अगर हररोज एक घंटे के लिए निर्निमित्त ही क्यों न हो – माने कोई खास निमित्त न रखते हुए भी इकट्ठा हो जाए तो भी कार्य के ऊँचे पहाड़ खड़े हो सकते हैं। इसी संकेत का अनुभव संघ की इस दैनंदिन एकत्रीकरण की पद्धति में हम करते हैं। ऐसे सामूहिक कार्यक्रमों के माध्यम से ही सामूहिक मानसिकता का निर्माण होता है, इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रकाश में सामूहिक कार्यक्रम हम करते हैं।

और संघशाखा पर एकत्रित आने से और एक घंटे तक एकसाथ विविध कार्यक्रम करनेसे ही संघकार्य की ध्येयसंकल्पना साकार करने की दृष्टि से व्यक्तिनिर्माण

का कार्य होता है, यह संघ का अनुभव है। इस दृष्टि से संघशाखा यह एक संस्कार केंद्र है।

■ कार्य का अपूर्व, अद्‌भुत माध्यम – संघशाखा

कई संस्थाएँ तथा व्यवस्थाएँ होती हैं कि उनका ध्येयसंकल्प तो महत्त्वपूर्ण रहता है, लेकिन उसकी पूर्ति करने का तरीका या माध्यम बहुतही कठिन, सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से दुष्करसा होता है। संघ की यह विशेषता है कि ध्येयसंकल्प की पूर्ति का साधन जो दैनंदिन संघशाखा है वह अतीव सरल, सुलभ और स्वाभाविक है। उस साधन के लिए न आयुर्मर्यादा का सवाल उठता है न किसी विशेष क्षमता का। कोई भी व्यक्ति-शिशु अवस्था से लेकर बुढापे तक उसमें शामिल हो सकते हैं और अपनी अपनी जो प्रवृत्तियाँ हैं, मानसिकता है, व्यक्तित्व के विशेष हैं या कमजोरियाँ हैं उन सभी के साथ शामिल हो सकते हैं।

जैसे कि संत नामदेव ने कहा है कि यदि मन में भक्तिभाव नहीं फिर भी कोई व्यक्ति भगवान का नाम बिना सूझबूझ से लेता रहा तो भी उसका मन भगवान से जुट जाता है और उसका मानसिक उन्नयन होता ही है। वैसे ही शाखा में आने के बाद व्यक्ति में स्वयं खुद को पता न लगते हुए ही (unconsciously) धीरे धीरे परिवर्तन आता है। एक साथ कार्यक्रम करने से समूहभाव, सामाजिकता विकसित होती है। खेलकूद और अन्य शारीरिक कार्यक्रमों से स्वयंसेवकों की शारीरिक क्षमता बढ़ती है, जो आगे चलकर अपने कार्य के लिए कष्ट उठाने में सहायभूत होती है। एकसाथ कार्यक्रम करते समय कौन किस पंथ का, जाति का, कौन से आर्थिक स्तर पर है, भारत के कौन से कोने से, प्रदेश से आया है, कौन सी बोली बोलता है, ये सभी सवाल ऐसी सामूहिक मानसिकता में मिट जाते हैं और हिन्दुसमाज का एकात्म भाव मन में पैदा होता है। अपनी रुचि का एकाध दूसरा कार्यक्रम न होते हुए भी सभी के साथ वह करने से, दूसरों के लिए, समाज के लिए अपनी निजी रुचि अलग रखकर सामूहिक कार्यक्रमों में शामिल होने की मानसिकता निर्माण होती है। एक व्यक्ति आज्ञा देता है और सभी उसका पालन करते हैं तो अनुशासन विकसित होता है। आगे चल कर हम यह भी देखते हैं कि अगर संघ के सर्वोच्च पदाधिकारी पू. सरसंघचालक शाखापर उपस्थित हैं और कोई छोटा सा बाल स्वयंसेवक आज्ञा देता है तो पू. सरसंघचालक भी उस आज्ञा का पालन करते हैं, माने अपने पद की प्रतिष्ठा का – बड़प्पन का कोई भाव संघ में दिखाई नहीं देता। लौकिक जीवन व्यवहार

में व्यक्ति के मन के जो अनेकानेक क़ँगूरे (छोर) परस्पर संबंधों में तथा सामाजिक व्यवहारों में बाधा उत्पन्न कर सकते हैं उन सभी पहलुओं का विलय ऐसे शाखा व्यवहार में अनायास ही होता है।

शाखा पर धार्मिक या आध्यात्मिक साधना क्यों नहीं ?

संघ की कार्यपद्धति में तथा कार्यक्रमों में कोई धार्मिक या आध्यात्मिक साधना का समावेश नहीं है। लेकिन अगर स्वयं के परे जाना, निजी अहंकार को समष्टि में मिलाना, वयंकार में परिवर्तित करना यही आध्यात्मिकता का बुनियादी आयाम है, तो शाखा व्यवहार से जो बंधुता का, सामूहिकता का, आत्मलोप का, संस्कार होता है वह आध्यात्मिक साधना ही है। समाज और राष्ट्र के लिए अपने जीवन का मौलिक अंश - समय, धन, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक क्षमताएँ समर्पित करना यह आध्यात्मिकता ही है। शाखा पर बौद्धिक वर्ग में हम अपने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के ध्येयसंकल्प के बारे में कार्यपद्धति की और संगठन की नीतियों के बारे में जो विचार सुनते हैं - जो गीत हम गाते हैं उन सभी बातों से यह कार्य ईश्वरी है यह दृढ धारणा (conviction) मन में पैदा होती है। यह संस्कार हमें अपनी प्रार्थना से मिलता है और प्रतिज्ञा में भी अंतर्भूत है।

संघ में औपचारिक आध्यात्मिक साधना भले ही न हो, स्वयंसेवक के व्यक्तित्व पर आध्यात्मिकता का संस्कार होता ही है। महाराष्ट्र में मराठी भाषा के एक बड़े उपन्यासकार और गणमान्य साहित्यकार श्री. ना. सी. फडके ने संघ के संपर्क में आने के बाद पू. गुरुजी को लिखा – ''संघ की बाकी सब बातें मुझे जँचती हैं लेकिन यह जो संघ की प्रतिज्ञा है, उसमें 'ईश्वर का स्मरण करते हुए' ऐसा वाक्य है और मैं तो ईश्वर को मानता नहीं। तो मैं प्रतिज्ञा कैसे ले सकता हूँ?'' पू. गुरुजी ने उनसे कहा, There is no difficulty about it. Whatever you love most and respect most, call it God and swear by it. ''कोई आपत्ति नहीं। आपके मन में जीवन के जिन जिन मंगल, उदात्त, उन्नत और सुंदर बातों पर श्रद्धा है उनका स्मरण करते हुए आप प्रतिज्ञा ले सकते हैं। वही ईश्वर का रूप है।''

सन १९४५ के अंत में कुछ स्वयंसेवकों ने पू. श्रीगुरुजी से कहा कि, ''हम धर्मसंस्कृति की बात करते हैं। किंतु संघस्थान पर न संध्या सिखाई जाती है और न गायत्री मंत्र का जप किया जाता है। तो फिर धर्मसंस्कृति की रक्षा कैसे होगी? नागपुर के एक श्रेष्ठ विचारक श्री. अप्रबुद्ध का तो कहना है कि

'आप धर्मसंस्कृति का नाम तो लेते हैं और उसकी रक्षा की बात करते हैं। आगे ऐसा तो नहीं होगा कि – एक संदूक है, आप बता रहे हैं कि उसमें लड्डू रखे हैं । ऐसी श्रद्धा से आप संदूक का जतन कर रहे हैं लेकिन कुछ समय के बाद जब संदूक खोली जाएगी तब पता चलेगा कि इसमें लड्डू वगैरह नहीं हैं। संदूक खाली ही है। संघ की आज की कार्यपद्धति के बारे में कालांतर से यही अनुभव होगा।' श्री अप्रबुद्ध के इन विचारों पर कुछ विवरण करें ऐसा उन आए हुए चार-पाँच स्वयंसेवकों ने श्रीगुरुजी से बहुत ही अनुरोध किया। श्रीगुरुजी ने कहा कि, 'हर काम में कुछ कर्मकांड की आवश्यकता होती है यह मैं मानता हूँ। आज भी अपनी कार्यपद्धति में आवश्यक उतना न्यूनतम कर्मकांड रखा गया है, किन्तु उसको मैं बढ़ाना नहीं चाहता। संध्या, गायत्री मंत्र तथा धार्मिक विधि स्वयंसेवकों ने व्यक्तिगत रूप से करने की सोची तो मैं उनको प्रोत्साहन देता हूँ, किंतु ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि एक बार कर्मकांड बढ़ाना शुरू हुआ तो फिर वह बढ़ता ही जाता है। कर्मकांड न्यूनतम होना चाहिए।'

कर्नाटक के एक 'संघ शिक्षा वर्ग' में ऐसा सोचा गया कि प्रकट समारोप के समय जो व्यायाम योग किए जाएँगे उनकी पृष्ठभूमि में पुरुषसूक्त का पठण आरोह-अवरोह के साथ लाऊडस्पीकर पर चलता रहे। (उन दिनों में व्यायाम योग के समय घोष का उपयोग करने की पद्धति प्रारंभ नहीं हुई थी।) उस समय श्रीगुरुजी वर्ग में थे। उनको यह बताया गया। श्रीगुरुजी ने कहा कि ऐसा मत करो। और थोड़ी देर के बाद श्रीगुरुजी ने कहा, ''हम संघस्थान पर हिन्दू निर्माण करना चाहते हैं।'' मतलब, किसी विशिष्ट उपासना के अनुयायी निर्माण करना नहीं है।

पू. डॉक्टरजी कहा करते थे कि आज की परिस्थिति में धर्मरक्षण यह सब से कठिन कार्य है। वह हम करना चाहते हैं, केवल धर्म का व्यक्तिगत पालन, व्यक्तिगत आचरण नहीं।

इस संदर्भ में 'विश्वगुणादर्श चंपू' नामक एक मध्ययुगीन ग्रंथ में आया हुआ एक संभाषण ध्यान में रखना उपयुक्त रहेगा। ऐसी कथा बताई है कि दो गंधर्व आकाश मार्ग से चार प्रांतों में भ्रमण कर रहे हैं। वे हैं गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक और आंध्र। दोनों गंधर्वों में से एक प्रत्येक प्रांत की प्रशंसा करता है और दूसरा निंदा। महाराष्ट्र के ऊपर भ्रमण करते हुए निंदा करने वाला गंधर्व कहता है कि इस प्रदेश के लोग कर्मभ्रष्ट हैं। यहाँ के ब्राह्मण वेदों को नहीं जानते हैं। किसी को केवल दस ऋचाएँ कंठस्थ हैं तो उसी को दशग्रंथी ब्राह्मण कहा जाता है।

तो दूसरा गंधर्व इसके उत्तर में कहता है कि महाराष्ट्र के लोग कर्मकांड का पूरा पालन नहीं करते, यह कहना तो ठीक है किंतु वे जो काम कर रहे हैं, वह उन्होंने न किया होता तो धर्म का पालन करने वाले, अपना काम कर नहीं सकते।

माया चञ्चुतया भयावहगति: प्रत्यर्थिपृथ्वी भुजाम्।
माहाराष्ट्र भटच्छटा रणपटुर्नो, पर्यटाटयेत चेत्।
देव ब्राह्मणवर्ग निग्रहकृतो देशांस्तुरुष्का इये।
निष्प्रत्यूह मनोरथानितनुयुर्निदेव भूमीसुरात।

मथितार्थ ऐसा कि केवल धर्मपालन की तुलना में धर्मरक्षण का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। तो हर व्यक्ति धर्म का ठीक ढंग से आचरण कर सकेगा ऐसा अनुकूल, सुरक्षित वायुमंडल समाज में बनाए रखना यही धर्म के पालन का सही अर्थ है। और संघ ऐसा ही कार्य कर रहा है। पू. डॉक्टरजी के कहने का यही सार है।

ऐसे और भी कई उदाहरणों से, एक घंटा इकट्ठा आने का जो प्रयोजन है उसका हमें दर्शन होता है। हम अनुभव कर सकते हैं कि संघकार्य के अनेकानेक पहलुओं का गहरा संस्कार स्वयंसेवकों के मनपर होता है; और संघ के ध्येयसंकल्प की पूर्ति के लिए माध्यमरूप कार्यकर्ता का निर्माण, संघशाखा पर बड़ी स्वाभाविकता से कैसे होता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक, सभी दृष्टियों से याने पूर्णरूपेण स्वयंसेवक विकसित होता है।

वैसे तो 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस पहले विभाग में स्पष्ट किया ही है कि व्यक्ति के अंतिम साफल्य की कल्पना याने मोक्षप्राप्ति और उसके लिए आध्यात्मिक साधना और व्यक्ति के द्वारा होने वाला सामाजिक तथा राष्ट्रीय साफल्य का कार्य इन दोनों में कोई द्वंद्व नहीं है। एक ही सिक्के के वे दो आविर्भाव हैं। इस दृष्टि से संघकार्य के माध्यम से ही स्वयंसेवक जीवन का अंतिम साफल्य एवं मोक्ष प्राप्त करता है। इस लिए, संघकार्य यही एक आध्यात्मिक साधना ही है ऐसा भी हम कह सकते हैं। संघकार्य की इसी आध्यात्मिक प्रेरणा के कारण ही स्वयंसेवक जीवन के अंतिम चरणतक लगातार कार्य करता रहता है।

■ व्यक्तिगत संपर्क – संस्कार यही मंत्र

संघशाखा के माध्यम से व्यक्तिगत संपर्क तथा संस्कार यही संघकार्य की वृद्धि का प्राथमिक और मूलभूत तरीका माना है। आजकल की इस प्रणाली पर

संघ का पहले से ही विश्वास नहीं है कि समाचारपत्र में प्रचार कर दो, उससे सबकुछ हो जाएगा। लोग संघ को दोष देते हैं। लंबा रास्ता क्यों चुना? संघवालों के पास दिमाग नहीं है। उनकी कल्पनाशक्ति जागृत नहीं है। लोग सलाह देते हैं कि समाचारपत्र का, आकाशवाणी-दूरदर्शन का उपयोग करो, धुँवाधार प्रचार करो, इससे सब हो जाएगा। इसके लिए हररोज शाखापर आने, निकर पहनने, जाड़े के दिनों में कम्बल छोड़कर आने की क्या जरूरत है? प्रचार से राष्ट्रनिर्माण का काम हो जाएगा।

ऐसा नहीं कि प्रचार का कोई उपयोग नहीं है। प्रचार का उपयोग मात्र मतपरिवर्तन करने में होता है। बौद्धिक स्तर पर मतपरिवर्तन ही उसका एक मात्र परिणाम है। किन्तु प्रचार के द्वारा हृदय में परिवर्तन नहीं हो सकता और संघकार्य की सिद्धि के लिए न केवल मतपरिवर्तन पर्याप्त है बल्कि मनपरिवर्तन भी आवश्यक है।

मानो मैंने एक ब्रह्मचारी क्लब की स्थापना की और घोषित किया कि जो जो 'ब्रह्मचर्य का पालन अच्छा है', ऐसा मानता है वह मेरे क्लब का सदस्य हो सकता है। मात्र बौद्धिक स्तर पर लोगों का मतपरिवर्तन करने का उद्देश्य रखा। ब्रह्मचर्य के पालन के पक्ष में धुँवाधार प्रचार समाचार पत्र, आकाशवाणी, दूरदर्शन इन माध्यमों के द्वारा किया। अब मैं समझता हूँ कि केवल बौद्धिक मान्यता यही शर्त रखी तो देश में करोड़ों लोग मेरे क्लब के सदस्य होंगे, किन्तु यदि मैंने घोषित किया कि जो कायावाचामनसा आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा करेंगे वेही क्लब के सदस्य बन सकते हैं, तो इस स्थिति में समूचे देश में पाँच सौ व्यक्ति भी मेरे क्लब के सदस्य होंगे या नहीं यह संदेहास्पद है। कारण ब्रह्मचर्य व्रत का निजी जीवन में पालन करने के लिए केवल बौद्धिक मतपरिवर्तन पर्याप्त नहीं है। इस लिए दिन प्रतिदिन मन पर संस्कार अंकित करके मनपरिवर्तन करना आवश्यक है।

इसी तरह अगर हमारा अधिष्ठान, ध्येयसंकल्प प्रत्यक्ष में लानेके लिए समाज के अन्यान्य घटकों को तैयार करना है, निजी स्वार्थ छोड़कर समाज के लिए व्यक्ति अपना समय और शक्ति काम में लाए, आगे चलकर वह पूरा जीवन इस राष्ट्र के परम् वैभव के संकल्प की पूर्ति के लिए समर्पित करे यह अपेक्षा है तो केवल मतपरिवर्तन से यह नहीं हो सकता, यह संघ ने ध्यान में लिया है। उसके लिए पारिवारिक संबंधों के आधार पर आत्मीयता से दिन-प्रतिदिन संस्कार करने की आवश्यकता रहती है और जिस वायुमंडल में ये संस्कार

गहराई से अंकित होते हैं उस वायुमंडल में हरएक को एक घंटा रहने की आवश्यकता है। लोगों को इस वायुमंडल में ले जाने की आवश्यकता है। इस दृष्टिसे अपने कार्य का माध्यम संघ ने प्रचार को नहीं; एक एक व्यक्ति के साथ संपर्क, एक एक व्यक्ति के साथ हृदय से बातचीत, एक एक पर संस्कार, इन बातों को माना है। अपने एक संघगीत में भी कहा गया है, 'संपर्क अमृत को पिलाने।'

अब इस संस्कार प्रक्रिया में ना कोई छूट है, ना तो कोई अपवाद है। संघशाखा की साप्ताहिक या मासिक छूट नहीं रहती। और किसी भी स्वयंसेवक को किसी काम के कारण या किसी अन्य बहाना करनेपर छूट नहीं मिलती। प्रतिदिन संघस्थान पर आना यह आग्रह हम रखते हैं। किसी उर्दू कवि ने कहा है कि अन्य सभी शिक्षा संस्थाओं में अंतिम परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद विद्यार्थी को छुट्टी मिल जाती है। लेकिन देशभक्ति का ध्येयवादी कार्य, यह एक अजीब संस्था है, परीक्षा पास होने के पश्चात भी इधर छुट्टी नहीं होती है। संघ की पाठशाला भी ऐसी ही है। इसमें किसी को अपवाद रूप में भी सहूलियत नहीं हो सकती है। कोई स्वयंसेवक चालीस वर्षों से, पैंतालीस वर्षों से शाखा पर आता है। आठ-दस बरस प्रचारक भी रह चुका है। तृतीय वर्ष शिक्षित है। लेकिन ऐसे व्यक्ति को भी अन्य संस्थाओं में मिलता है वैसा अच्छे व्यवहार का प्रमाणपत्र (good character certificate) यहाँ नहीं मिलता, या, 'अब यह पूरी तरह से तैयार हुआ माल है' (finished product) अब इसे कोई क्षति नहीं पहुँचेगी ऐसा भी प्रमाणपत्र मिलता नहीं। याने कि आदमी बूढ़ा हो गया है, सिर के बाल बिल्कुल सफेद हो गए हैं, कमर में झुकाव है, फिर भी निकर पहनकर, वर्षा के दिन हों या सर्दी के दिन हों, प्रभात शाखा में आना चाहिए यह आग्रह क्यों? संघ में हम कहते आए हैं कि मनुष्य का मन तो पीतल के बर्तन जैसा है। उसे रोज साफ करना पडता है। अब कोई कहेगा हम चालीस वर्ष बर्तन साफ कर रहे हैं। हमारी शकल भी हम उस में आईने जैसी देख सकते हैं, तो एकाध वर्ष साफ नहीं करेंगे तो क्या होने वाला है, और यदि इस हिसाब से कोई बर्तन एक बार साफ करके अलमारी में रखेगा तो क्या वह साफ रह सकता है? नहीं रह सकता, क्योंकि बर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया ऐसी है, अगर एकाध दिन भी साफ नहीं करेंगे तो वह गंदा, मैला हो जाता है। मनुष्य के मन की भी यही अवस्था है। इस लिये हररोज शाखा पर आने का आग्रह रहता है।

■ संस्कारों का मापदण्ड क्या है ?

संगठन निर्माण करके हमारा ध्येयसंकल्प साकार करने हेतु माध्यमरूप ऐसा व्यक्ति संघ शाखा पर विकसित होता है ऐसा हमारा सुदीर्घ अनुभव रहा है। हाँ! एक बात है कि यह संस्कार ग्रहण करने की प्रक्रिया कितनी मात्रा में होती है, कितने दिनों तक व्यक्ति संघ स्थान पर आने से संस्कार अंकित होते हैं, यह जाँच लेने का कोई मापयंत्र (barometer) नहीं है। लेकिन कार्यक्रमों की रचना ही ऐसी है कि हृदय पर संस्कार अंकित होते ही हैं। कितने होते हैं इसका कोई हम हिसाब नहीं दे सकते इस का मतलब यह नहीं कि संस्कार होते ही नहीं। संस्कार तो अंतर्मन में (sub-conscious mind) उतरते हैं। जैसे कि पहले बताया, व्यक्ति को स्वयं को भी पता नहीं चलता है कि उसने संस्कार ग्रहण किया है। छोटे बच्चे के संदर्भ में माँ भी नहीं कह सकती कि आज वह कितना बढ़ गया। लेकिन वह बढ़ता है, बड़ा होता ही है। हम अपने बारे में भी यह कह नहीं सकते कि हमारे बाल आज इतने बढ़ गए, लेकिन चार दिन दाढी नहीं बनाते तो मालूम हो जाता है कि दाढी के बाल बढ़ गए हैं। वैसी ही यह, संस्कारों से व्यक्तिविकास की बात है।

संस्कारों का मापयंत्र नहीं है यह तो सही बात है। फिर भी संस्कार होता है ही यह बात चुनौती के समय सामने आती है। सन १९४८ में जब पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया तब श्रीनगर का हवाई अड्डा अपनी सेना के लिए तैयार करने का बहुत ही कठिन एवं व्यावसायिक कुशलता का (professional expertise) काम हमारे स्वयंसेवकों ने, अपनी जान खतरे में ड़ाल कर पूरा किया। यह संघ शाखा पर ग्रहण किए हुए देशभक्ति, त्याग, समर्पितता ऐसे संस्कारों के कारण ही हुआ। ऐसे बहुत ही प्रसंग हैं जिन में राष्ट्र के, समाज के लिए जो जो अपेक्षित कार्य करना था उसकी चुनौती में स्वयंसेवक अच्छी खासी कर्तव्यतत्परता से उतरे हैं। सन १९६५ का भारत पाकिस्तान युद्ध हो या बाद में आया हुआ गुजरात में मोरवी का बाढ़ का प्रसंग हो, या आंध्र प्रदेश पर आया चक्री तूफान का समय हो - महाराष्ट्र में लातूर का भूकंप हो ऐसे सभी प्रसंगों में, निस्वार्थ समाजसेवा की कर्तव्यतत्पर भावना से संघ के स्वयंसेवक ही पहले पहुँच गए। मोरवी बाढ़ के समय तो संघ के विरोधकों ने तथा संवाददाताओं ने हमारे अधिकारियों से पूछा कि क्या सड़ी हुई लाशें उठाने का प्रशिक्षण संघ में मिलता है? उत्तर स्पष्ट था - ऐसा कोई भी खास प्रशिक्षण संघ शाखापर न मिलते हुए भी जो देशभक्ति, राष्ट्रनिष्ठा, समाजसेवा आदि के संस्कार संघशाखा

पर होते हैं उन्हीं संस्कारों की प्रेरणा से समाज के लिए किसी भी तरह का कर्तव्य निभाने की मानसिकता निर्माण होती है। जैसा कि बताया गया है, The battle of Waterloo was won on the playground of Eton, जिस लड़ाई में नेपोलियन की हार हुई उस लड़ाई की तैयारी मानो ब्रिटन में ईटन के क्रीडांगण पर खेलते खेलते हुई थी। ऐसी ही यह शाखा संस्कार की बात होती है।

शाखा पर कार्यक्रम तो छोटे छोटे दिखाई देते हैं। कई लोगों को लगता है कि इनसे क्या होगा? कार्यक्रम बड़ा हो, कुछ उपदेश sermonizing हो तो वह परिणामकारी होता है। अब शाखा पर होने वाले कार्यक्रमों की क्या परिणामकारकता है? इन का क्या उपयोग? हम लाठीकाठी चलाते हैं। यह तो कालबाह्य साधन है। अणुबम के जमाने में इसका क्या उपयोग? ऐसा भी लोग बोलते हैं। अब हमने तो कभी ऐसा कहा नहीं कि हम लाठीकाठी से अणुबम का मुकाबला करेंगे, कर सकेंगे। लाठीकाठी की ओर सामूहिक कार्यक्रम का साधनमात्र इसी दृष्टि से ही हम देखते हैं। लेकिन ऐसे छोटे कार्यक्रम तथा साधनों से ही अपेक्षित संस्कार होते हैं यह हमारा अनुभव रहा है। इस संदर्भ में पू. गुरुजी की एक बात मुझे याद आती है। १९४६ के फरवरी में पू. गुरुजी प्रवास में कलकत्ता आए थे। ऐसे प्रवास में अन्यान्य लोगों से मिलना होता था। तो इस अवसर पर कुछ डॉक्टर्स और कुछ मेडिकल स्टुडंट्स ऐसे लोगों के साथ गपशप का कार्यक्रम रखा था। तो किसीने मुद्दा उठाया कि आप का ध्येय तो बहुत ही उच्चतम, अच्छा है, लेकिन शाखा पर होने वाले कार्यक्रम तो बिल्कुल मामूली से होते हैं। तो ऐसे माध्यम से इतना बड़ा ध्येय कैसा प्राप्त होगा यह हम समझ नहीं सकते। तो पू. गुरुजी ने उनसे पूछा कि, 'अभी का Master Drug कौन सा है?' तो डॉक्टरोंने बताया, 'पेनिसिलिन।' (यह १९४६ की बात है।) पू. गुरुजी ने पूछा, 'यह कैसे बनाते है?' तो उन्होंने बताया, ''जो सड़ी हुई चीजें, फेंकने लायक चीजें होती हैं, जिनको रसोईघर में रखना योग्य नहीं, उनसे यह प्राप्त होता है।'' तो फिर श्रीगुरुजी ने उनसे पूछा, ''Does it not mean that even the worst things can yield the best results at the hands of experts?'' डॉक्टरों ने हाँ कहा। वैसे ही पू. गुरुजी ने एक वाक्य जोड़ दिया, ''And here we are the experts in the science of organisation!'' अर्थात्, श्रीगुरुजीने उन डॉक्टरों से पूछा कि इसका मतलब यह नहीं क्या कि जो नाकाम, खराब चीजें होती हैं वे अगर तज्ञ लोगों के हाथ

आई तो उन चीजों से भी अच्छे परिणाम निकल सकते हैं – और हम तो इधर बैठे हैं संगठनशास्त्र के तज्ञ! इस दृष्टि से संघ में माना जाता है कि कोई भी व्यक्ति नाकाम नहीं हो सकता। और इसी दृष्टि से एक सूत्र अपनाया गया है – 'व्यक्ति कैसा भी हो, उसे वैसे ही स्वीकार करना और उसे संगठन, देश, राष्ट्र के लिए जैसे बनाना है, वैसे बनाना।'

■ कार्य–कार्यक्रम विवेक

संघशाखा यह अपना ध्येयसंकल्प सफल करने का एक संस्कारकेंद्र है तो शाखापर दैनंदिन चलने वाले और शाखा के माध्यम से अन्य नैमित्तिक रूप से चलनेवाले कार्यक्रम, उपक्रम हेतुपूर्ण तथा परिणामकारी हो ऐसा हमारा प्रयास होना चाहिए। प्रतिदिन संघशाखापर उपस्थिति यह नित्य कार्य है वैसे ही कुछ नैमित्तिक कार्य भी सोचे गए हैं, वे दो तरह के हैं। वर्ष में नियमित रूप से आने वाले छः उत्सव-त्योहार। ये नियत समयपर ही आते हैं। और फिर अनियमित रूप से चलने वाले नैमित्तिक कार्यक्रम, जैसे शीतशिबिर है, संघ शिक्षा वर्ग है, सैर करने जाना या वनविहार है। लेकिन एक बात निश्चित है, ऐसे सभी कार्यक्रमों के चयन के पीछे संघ का संस्कार स्वयंसेवकों के मन पर अंकित करना यही हेतु रहता है।

उदाहरण के लिए देखें तो संघ की प्रारंभिक अवस्था में, मनाने के लिए कौन से उत्सवों का चयन किया जाए यह बड़ा कठिन प्रश्न था। (महाराष्ट्र के इतिहास के यादव काल में हेमाद्री पंडित ने अपने 'चतुर्वर्गचिंतामणि' इस ग्रंथ में कुल मिलाकर दो हजार से जादा व्रतों तथा उत्सवों का वर्णन किया है, यद्यपि यह सत्य है कि इनमें से कुछ संपूर्ण समाज के लिए हैं, तो कुछ समाज के अलग अलग हिस्सों के लिए हैं।) अपनी संस्कृति की धारा में उत्सवों की कुछ कमी नहीं है। लेकिन संघ ने जो केवल छः उत्सव तय किए हैं उनमें से तीन उत्सव ऐसे हैं, कि जो सर्वसाधनसंपन्न आसुरी शक्ति पर साधनरहित दैवी शक्ति की विजय बताते हैं। एक प्रागैतिहासिक कालीन, दूसरा ऐतिहासिक कालीन और तीसरा निकट भूतकाल का। (विजयादशमी, वर्षप्रतिपदा और हिन्दू साम्राज्य दिनोत्सव) इससे स्पष्ट होता है कि पू. डॉक्टरजी के मन में इन उत्सवों का चयन करते समय सबसे प्रबल विचार यह था कि आत्मविस्मृत तथा ग्लानि से ग्रस्त हिन्दू समाज में फिर से विजय का विश्वास निर्माण हो। फिर मकर संक्रमण के उत्सव का संस्कार रहता है कि हम समयसमय पर परिस्थिति के अनुरूप युगानुकूल

परिवर्तन तो करना चाहते हैं किंतु हमारा मार्ग क्रांति का नहीं है, उत्क्रांति का है। क्रांति नहीं संक्रमण। श्री गुरुपौर्णिमा उत्सव का महत्त्व तो स्पष्ट है। संघ कार्य व्यक्तिनिष्ठा या व्यक्तिपूजा पर चलता नहीं बल्कि परंपरापूत मूल्यों के आधार पर चलता है और इस लिए हम इन मूल्यों के प्रतीकरूप परमपवित्र भगवद्ध्वज का पूजन करते हैं। उस के साथ ही समाज के प्रति संपूर्ण आत्मसमर्पण यह संस्कार इस उत्सव से मन पर अंकित होता है। फिर रक्षाबंधन का उत्सव। इस का भी संदेश और संस्कार बहुत मूलगामी है। धर्म का कार्य समाज की धारणा यह है। किंतु यह कार्य करने वाली एजन्सी कौन सी रहेगी? जैसे कि 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस विभाग में हमने देखा है पश्चिमी समाजविज्ञान के प्रभाव से आज माना जाता है कि राजसत्ता ही वह एजन्सी है। किंतु हमारे पूर्वजों ने राज्यसत्ताविहीन समाजरचना stateless society यह आदर्श माना है। पश्चिम में वामपंथियों ने भी stateless society का आदर्श माना। किंतु वहाँ तक पहुँचने का मार्ग वे ढूंढ न सके। इसलिए उन्होंने कहा प्रथम Dictatorship of prolateriate मजदूरों की एकाधिकारशाही निर्माण हो, और बाद में वह dictatorship, ही stateless society शासनविहीन समाज का निर्माण करेगा। याने प्रथम सत्ता का केन्द्रीकरण और फिर उस के माध्यम से सत्ता का संपूर्ण विकेन्द्रीकरण। इस विचार प्रणाली में जो अंतर्विरोध है वह स्पष्ट ही है। हमारे पूर्वजों ने आदर्श समाज का वर्णन किया है –

न राज्यं नैव राजाऽसीत
न दण्डयो न च दाण्डिका: ।

याने State institution शासन संस्था नहीं तथा State officials शासनाधिकारी भी नहीं। जिस को दण्ड देना है ऐसा समाज में कोई नहीं, दण्ड देने वाला भी नहीं। अब ऐसी आदर्श अवस्था किस माध्यम से निर्माण हुई थी? तो बताया है –

धर्मेणैव प्रजा: सर्वे।
रक्षन्ति स्म परस्परम्।

समाज के सभी लोग धर्म के आधार पर एक दूसरे का परस्पर रक्षण करते थे। याने परस्पर संरक्षण करने का संस्कार धर्म के माध्यम से सभी को मिलता था। इसी संस्कार का पुन: संस्मरण दिलाने के लिए रक्षाबंधन का उत्सव

है। समाज के सभी लोग परस्पर संरक्षण के, धर्म के आधार पर – राजसत्ता के आधार पर नहीं – व्यवहार करेंगे।

उत्सवों के संदर्भ में और एक मुद्दा ध्यान में लेना आवश्यक है। पारंपरिक त्यौहारों को संघ ने अपनी कार्यप्रेरणा तथा कार्यपद्धति इन के अनुकूल युगसंगत रूप दिया है, जैसा व्यासपौर्णिमा के दिन पारंपरिक रीति से समाज में अपने अपने गुरु की पूजा होती ही है। संघ ने उस गुरुपूजन को एक व्यापक सामाजिक राष्ट्रीय आयाम दिया। वैसे ही रक्षाबंधन तो पारंपरिक रीति से समाज में होता ही है। बहन भाई को राखी बांधती है। लेकिन इसको भी संघ ने राष्ट्रीय, समाजवैज्ञानिक आयाम दिया।

इस तरह उत्सवों के चयन के पीछे संघकार्य की दृष्टि से, राष्ट्रीयता की दृष्टि से उपयुक्त संस्कार लोगों के मन पर अंकित हो यही भावना होती है। ऐसे उत्सवों के समय, स्वयंसेवकों के अलावा जो बाकी समाज उत्सव स्थान पर उपस्थित रहता है, उन पर भी, उधर जो वायुमंडल बना रहता है, उस का प्रभाव धीरे धीरे हो जाता है। यह वह समाज होता है, जो अन्य कार्यक्रमों में राष्ट्रगीत के समय भी कार्यक्रम स्थान छोड़कर चल पड़ता है, या राष्ट्रगीत के लिए ठीक ढंग से खड़ा नहीं रहता। लेकिन वही समाज संघ के वायुमंडल से प्रभावित होकर संघ की प्रार्थना के समय प्रणाम करके खड़ा हो जाता है। इस तरह संघ के संस्कार ऐसे कार्यक्रमों के माध्यम से उर्वरित समाज में उतरते हैं और संघसंस्कारों से समाज भी अनुप्राणित होता है।

जैसे कि पहले बताया है कि स्वयंसेवक का व्यक्तिमत्त्व पूर्णरूपेण याने कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक दृष्टि से विकसित हो इसी हेतु कार्यक्रमों का विचार, योजना होनी चाहिए। हमारे कार्य का अधिष्ठान और अपनी नीति इन के अनुसार कार्यक्रमों की प्रत्यक्ष कार्यवाही का सूत्र और प्राप्त होने वाली सफलता, ऐसे कई पहलुओं के माध्यम से कार्यक्रमों में हिस्सा लेने वाला स्वयंसेवक बहुत कुछ सीख पाता है।

लेकिन कार्यक्रम यह अपना कार्य बढ़ाने का और दृढ़ करने का एक माध्यम मात्र है। खास कर के शाखा माध्यम से होने वाले अन्य नैमित्तिक कार्यक्रमों के बारे में यह ध्यान में लेना आवश्यक है। छोटी छोटी योजनाएँ दीखने में छोटी प्रतीत होती हैं किन्तु उनके सफलता से पूर्ण होने से उनके परिणाम उत्तम एवं प्रभावी होंगे तथा संगठन का आधार पुष्ट होगा। इसलिए कार्यक्रम छोटा हो या बड़ा, हमारा हरेक कार्यक्रम सुनियोजित तथा सुव्यवस्थित होना चाहिए। कार्यक्रम

के सभी पहलुओं का विचार तथा उन पर पहले से ही निर्णय और योजना (Planning in advance and Planning in details) हो जाना चाहिए। संजोगवश जो हो जाए सो हो जाए ऐसा नहीं होने देना चाहिए (not much to be left to chance)

इतना करने के बावजूद भी यह संभव है कि ठीक समय पर कई अनपेक्षित घटनाएँ उपस्थित हो जाए और हमें अपनी पूर्वनियोजित व्यवस्था में कुछ परिवर्तन भी करना पड़े। किन्तु इस तरह के परिवर्तनों के लिए गुंजाइश रखते हुए सभी का पहले ही विचार कर आयोजन करना आवश्यक है।

अगर इस ढंग से कार्यक्रम उपक्रमों की योजना तथा कार्यवाही हो तो ऐसे कार्यक्रम, कार्यकर्ताओं के निर्माण का और विकास का एक प्रभावी एवं परिणामकारी माध्यम बन सकता है। कार्यकर्ता में इसीमें से योजकता, उपक्रमशीलता, व्यवस्थापन कौशल्य और कार्यवाही की क्षमता ऐसे गुण तो विकसित होते ही हैं। इसके साथ ही सामूहिक मानसिकता (team spirit) आत्मविलोप, कर्तव्यतत्परता, अनुशासन, कार्य के प्रति समर्पितता आदि अनेक आवश्यक गुणों का वर्धन होता है।

इसमें एक सावधानता रखने की आवश्यकता होती है। यह सच है कि पहले जमाने में हम कहते थे, 'संघ माने शाखा और शाखा माने कार्यक्रम – उपस्थिति।' लेकिन जैसा अभी अभी बताया, संघ का कार्यक्रम छोटा हो या बड़ा, वह कार्यकर्ता निर्माण का और अपना कार्य बढ़ाने का, अपना सिद्धान्त समाज में बोने का एक माध्यम है और इसी दृष्टि से उसकी योजना है, कार्यवाही हो, विचार हो। केवल कार्यक्रम के लिए कार्यक्रम (an end in itself) ऐसी कार्यक्रमों की मालिका, यह संघकार्य का स्वरूप नहीं है। ऐसे केवल एक के पीछे एक कार्यक्रम करनेवाली बहुत सारी सामाजिक संस्थाएँ तथा अन्यान्य मंडल समाजजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होती हैं। उनका मात्र एक ही उद्देश्य, कार्यक्रम करना यही रहता है। जैसे कि गणेशोत्सव मंडल है। नवरात्रि मंडल है। इन संस्थाओं के कार्यक्रमों में आगे चलकर कुछ कार्य करने की कल्पना ही नहीं रहती। संघ का कोई भी कार्यक्रम अपने कार्य की दृष्टि से बिना जीवितहेतु हो ही नहीं सकता।

■ कार्यक्रम का लेखाजोखा तथा अनुवर्ती प्रवास

इस दृष्टि से कार्यक्रम का महत्त्व, कार्यकर्ता निर्माण तथा कार्यवृद्धि का माध्यम मात्र ही है यह आँखों से ओझल नहीं होना चाहिए। इस लिए एक कार्यक्रम पूरा होने के बाद अपने कार्य की वृद्धि तथा कार्यकर्ताओं के विकास की दृष्टि

से उस कार्यक्रम की आलोचना और उपलब्धियों का लेखाजोखा होना चाहिए। नहीं तो कभी कभी कार्यक्रम करना ही कार्य है, ऐसी गलत धारणा कार्यकर्ताओं के मन में पैदा होती है और उसमें से सुविहित कार्यक्रमों की रचना और कार्यवाही करनेवाले managers पैदा होते हैं। लेकिन वे कार्यकर्ता नहीं बन सकते। कारण कार्यक्रम करने के पीछे हमारी जो भूमिका रहती है, वह उनके ध्यान में आती ही नहीं।

इतना ही नहीं, हर कार्यक्रम के उद्देश्य के अनुसार अनुवर्ती प्रयास जारी रखकर प्राप्त उपलब्धियों को दृढ करना आवश्यक है। यह करने से पहले ही अगर दूसरे कार्यक्रम की योजना में हम लगे तो पहले कार्यक्रम का फल अपने हाथों से खिसक जाएगा। इस विषय के संदर्भ में शिवाजी की एक कहानी याद आती है। प्रजा की स्थिति का अवलोकन करने हेतु वेश बदलकर शिवाजी अपने राज्य में घूम रहे थे। एक दिन शाम के समय वे अकेले जंगल में किसी वृद्धा की झोपड़ी के पास पहुँचे। वृद्धा अकेले ही थी। एक भूखा-भटका पथिक समझकर उन्होंने शिवाजी से भोजन का आग्रह किया। भोजन में कढी थी। अब कढी डालते ही दोना लुढक जाता था। शिवाजी को यह नहीं सूझा कि दोने को चारों ओर से चाँवल का या और किसी चीज का आधार देना चाहिए ताकि वह लुढके नहीं। बार बार दोना लुढक जाता था और बार बार कढी नीचे बह जाती थी। वृद्धा यह देख कर हँस रही थी। और उन्होंने कहा कि तू भी शिवाजी जैसा ही दीखता है। अपना नाम सुनकर शिवाजी चौंके और उन्होंने पूछा कि मतलब क्या है? वृद्धा ने कहा, शिवाजी का भी यही हाल है। नए नए किले जीतते जाता है और पुराने किले उस के हाथ से खिसकते जाते हैं। जब तक वह नए प्रदेश जीतता है तब तक दुश्मन पुराने प्रदेश वापस जीत लेते हैं। इस वृद्धा से यह बोधप्रद सबक मिलते ही शिवाजी सतर्क हो गए।

यह बात बड़े पैमाने पर होने वाले कार्यक्रमों के बारे में या प्रदर्शनात्मक कार्यक्रमों के बारे में विशेष रूप से ध्यान में लेना आवश्यक है। ऐसे बड़े कार्यक्रम कितने भी सफल रहे, सर्वदूर प्रसिद्धि मिल गई, प्रचार हुआ तो भी यदि संगठन का मूल आधार न रहा तो इन सब अनुकूल परिस्थितियों का उपयोग, संगठन को मजबूत करते हुए और प्राप्त लाभों को दृढ़ीभूत (consolidate) करते हुए उस के आधार पर स्थायी शक्ति निर्माण करने हेतु होना असम्भव है। जबरदस्त लहर आती है। किन्तु बाढ़ के पानी के समान वह लहर जिस प्रकार आती है उसी प्रकार बह निकलती है। तूफान आने के पश्चात आँखों में धूल जाती है।

कुछ दिखाई नहीं देता। ऐसा प्रतीत होता है कि चारों ओर केवल तूफान ही तूफान है और कुछ नहीं। किन्तु तूफान का समय निकल जाने के बाद लगता है कि आया हुआ तूफान कितना प्रबल था लेकिन अब उसका नामोनिशाँ तक नहीं रहा है। यही हाल संगठनविरहित बड़े प्रदर्शनात्मक कार्यक्रमों के संदर्भ में होता है। (प्रदर्शन के समय गणवेशधारी स्वयंसेवकों की उपस्थिति बाईस हजार, और दूसरे दिन प्रभात शाखा की संख्या चार) बड़े कार्यक्रमों के उपलब्धियों को स्थायी शक्ति में परिवर्तित करने के लिए मूल में मजबूत संगठन होने की आवश्यकता है। तो यह ध्यान में लेना चाहिए कि हमारे कार्य में, कार्य का विस्तार और सघनता, दोनों का ख्याल रखना आवश्यक है। संगठन-उसको बढ़ावा देने के लिए कार्यक्रम, कार्यक्रमों के माध्यम से संगठन का दृढ़ीकरण और विकास; फिर उसके आधार पर नए कार्यक्रम, ऐसी यह प्रक्रिया है। माने संगठन-कार्यक्रम-संगठन-कार्यक्रम-संगठन यह चढ़ती हुई शृंखला है।

कार्यक्रमों के संदर्भ में और भी एक खतरा होता है। पू. गुरुजी ने उसकी ओर एक बार संकेत किया था। ऐसे बड़े कार्यक्रमों के बाद कार्यकर्ता सुस्त हो जाते हैं और इतना बड़ा कार्यक्रम किया उसीकी धन्यता में मग्न रहते हैं। जैसा कि कार्यक्रम का hangover आता है। ऐसी मानसिकता निर्माण होने का कारण है, कार्यक्रम को ही कार्य मानना। अन्य सहयोगी जन संघटनाओं के बारे में पू. गुरुजी ने कहा है कि कार्यकर्ता ऐसी स्थिति में Campaign minded बन जाते हैं।

■ फलानुमेया: प्रारम्भा:

ऐसे बड़े कार्यक्रमों के पीछे उनकी प्रसिद्धि की बात आती ही है। इसके बारे में बड़ी सावधानता होनी आवश्यक है। संघकार्य तो पहले से ही प्रसिद्धिपराङ्मुख रहा है। लेकिन जैसे कार्य बढ़ता जा रहा है वैसे हम चाहे या ना चाहे प्रसिद्धि तो हो ही जाती है। लेकिन हमारी तरफ से उसमें विवेक होना चाहिए। पहले जमाने जैसे पूर्णरूपेण प्रसिद्धिपराङ्मुख रहना अब कठिन है और आवश्यक भी नहीं है। लेकिन दूसरी तरफ केवल प्रसिद्धि को ही संघटन का विकल्प मानना भी हमारे लिए खतरनाक है। प्रसिद्धि वर्षा के समान है। पहले जमीन की जोताई की होगी और उसमें बीज बोया होगा, तो वर्षा के बाद अच्छी फसल आ सकती है। किन्तु केवल प्रस्तर पर वर्षा हुई तो इसका उपयोग नहीं होगा। संगठन पहले से रहा तो प्रसिद्धि का लाभ उठाया जा सकता है। दूसरी तरफ जुती हुई जमीन

पर भी अतिवृष्टि हुई तो गीला अकाल आता है। वैसे ही संघटन सक्रिय होने के बावजूद भी अगर प्रसिद्धि पर आवश्यकता से अधिक बल दिया तो संगठन में दुर्बलता आ सकती है। इस दृष्टि से अति प्रसिद्धि का मोह टालते हुए केवल आवश्यकता के अनुसार प्रसिद्धि (need based minimum publicity) का आश्रय, याने इष्टतम बिंदू तक (optimum) प्रसिद्धि का आश्रय लेना आवश्यक है। उसके नीचे प्रसिद्धि हो तो 'सूखा अकाल' जैसी स्थिति और उसके ऊपर प्रसिद्धि हो तो 'गीला अकाल' जैसी स्थिति होती है।

संगठन की दृष्टि से इसमें और एक वास्तविकता है। आवश्यकता से अधिक प्रसिद्धि के कारण अपने कार्यकर्ताओं में आत्मसंतोष का भाव (complacency) बढ़ता है और इस प्रकार वे आत्मवंचना का शिकार हो जाते हैं कि बहुत काम किया। यह विचार भी मन में दृढ़ होने लगता है कि प्रसिद्धि ही संगठन का विकल्प है। परिणामस्वरूप प्रसिद्धि की इच्छा किसी भी समूह में यदि एक बार पैदा हो जाती है, तो उसके कारण प्रत्यक्ष ठोस काम करने की प्रवृत्ति तो शायद समाप्त हो जाती है। धीरज से, धीमी प्रवृत्ति से स्वयं को नींव के पत्थर जैसे गाड़कर कार्य करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। जीवनमूल्य तथा संगठन की बैठक बदल जाती है। ऐसे कार्यकर्ताओं को लगता है कि अब संगठन की जरूरत ही क्या है! संगठन तो मानो सोलहवी शताब्दी का कालबाह्य विचार है। अब modern techniques आधुनिक तंत्र का जमाना है।

लेकिन इसमें एक बात ध्यान में लेनी चाहिए कि प्रसिद्धि के लिए आवश्यक तंत्र में पारंगतता और प्रत्यक्ष कार्य करने के लिए आवश्यक धारणा तथा गुणवत्ता, क्षमता ये दो बातें अलग अलग प्रकार की हैं। प्रसिद्धि ही कार्य है यह सोचने वाला कार्यकर्ता केवल प्रसिद्धि करने में कामयाब हो ही जाता है और इस कार्य का प्रदर्शन भी होता है। लेकिन कार्यकर्ताओं के सामने गलत आदर्श प्रस्तुत होते हैं। हमारी दृष्टि से तो संगठन यह विषय ही सर्वाधिक महत्त्व का है।

इस संदर्भ में संघकार्य का प्रारंभ कैसे हुआ यह भी जान लेना उपयुक्त रहेगा।

पू. डॉक्टरजी के जीवन में, कलकत्ता में वैद्यकीय शिक्षा के काल में, वे ''अनुशीलन समिति'' इस क्रांतिकारी संगठन से संबद्ध थे। उस समय के उनके एक ज्येष्ठ नेता श्री. त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती महाराज ने पू. डॉक्टरजी के मृत्यु के पश्चात लिखा है – ''आप का संघ १९२५ में प्रारंभ हुआ किंतु इस तरह का कुछ कार्य आवश्यक है, यह विचार डॉक्टरजी के मन में बहुत पहलेसे ही

चल रहा था, ऐसा मेरा अनुभव है। क्योंकि १९१६ में वे मेरे पास आए और उन्होंने कहा – ''महाराजजी ! हम स्वतंत्रता के लिए सब तरह के प्रयास कर रहे हैं, यह ठीक ही है। कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र यह मन में भी बर्दाश्त नहीं कर सकता कि वह गुलामी में रहे। इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति का प्रयास यह हमारा पहला कर्तव्य है किंतु मुझे अपने नेताओं की यह बात नहीं जँचती कि 'स्वराज्यप्राप्ति से ही हमारे सभी प्रश्न सुलझ जाएँगे। स्वराज्य मानो अल्लादीन का चिराग है ऐसा उन्हें शायद लगता है। जिसके हाथ में वह दिया होगा उसकी सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं; वैसे ही एक बार राज्य हाथ में आया, तो हमारी सभी इच्छाएँ अपने आप पूरी होंगी। सभी प्रश्नों की सुलझन अपने आप निकल आएगी।' नेताओं का यह विचार मुझे ठीक नहीं लगता। मुझे लगता है केवल स्वराज्य प्राप्ति से यहाँ सब ठीक होने वाला नहीं है। जब तक सर्वसाधारण नागरिकों की राष्ट्रीय चेतना का स्तर ऊपर नहीं उठता, राष्ट्रीयत्व के संस्कार सामान्य नागरिकों के मन पर अंकित नहीं होते तब तक राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की आशा नहीं की जा सकती। मुझे दुख होता है कि यह विचार नेताओं के मन में नहीं आ रहा है। कभी कभी मुझे लगता है कि यह राष्ट्रीय चेतना का स्तर ऊँचा करने का काम करने की जिम्मेदारी मुझे ही तो नहीं उठानी पड़ेगी ?''

यह बात उन्होंने १९१६ में कही थी। मतलब यह है कि उसके पूर्व ही उनके मन में ऐसा कुछ कार्य शुरू करने के विचार आ रहे थे।''

लेकिन प्रत्यक्ष में संघ का प्रारंभ १९२५ में हुआ। बीच का जो काल है, उसमें वर्षों तक डॉक्टरजी ने देश परिस्थिति का, अपने समाज के मानसिकता का गहरा चिंतन किया। कॉंग्रेस जैसी विविध संस्थाओं के कार्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया। मन में लहरबहर आई और संघ शुरू हुआ ऐसा नहीं हुआ। रघुवंश के राजाओं की जो परंपरा थी, उन की कार्यशैली का वर्णन कालिदास ने किया है, ''फलानुमेयाः प्रारम्भाः'' (रघुवंश १.२०)। कार्य तो चुपचाप शुरू करना। उस कार्य को जब फलित स्वरूप प्राप्त होगा तब लोग अनुभव कर सकेंगे कि कार्य का फल तो दिखाई देता है। निश्चित ही इस कार्य का प्रारंभ कभी ना कभी हो गया होगा। ''फलानुमेयाः प्रारम्भाः''। संघ के बारे में पू. डॉक्टरजी ने ऐसी ही कार्यशैली विकसित की है। प्रारंभ में ही धमाका करते हुए प्रसिद्धि करना यह न डॉक्टरजी की पद्धति थी, न तो संघ की पद्धति रही है।

इस संदर्भ में गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर का एक वचन अति उद्‌बोधक है। ''जब तक कुछ उपलब्धि न हो जाए तब तक हम अपने आप को पृष्ठभूमि

में रखे और अपने काम में जुटे रहे। परंतु हमारे देशवासियों का विचार इसके विपरीत प्रतीत होता है। वे अपनी छोटी छोटी और व्यक्तिगत आवश्यकताओं को भी चुपचाप पूरा नहीं करते.... उनका सारा ध्यान तडकभडक और चित्ताकर्षक प्रदर्शन की ओर लगा रहता है।''

धरातल की वास्तविकता को ध्यान में लेकर कार्य करने वाला कुशल संगठक इस नाते पू. डॉक्टरजी का भी गुरुदेव जैसा ही आग्रह रहता था।

■ कार्य की लक्ष्मणरेखा

इस के साथ ही पू. डॉक्टरजी ने अपने कार्य की कक्षा के बारे में एक लक्ष्मणरेखा मन में रखी थी और वह आगे चलकर संघ में अभी भी रखी जाती है। संघहित की दृष्टि से आवश्यक नित्यानित्य विवेक एक क्षण के लिए भी डॉक्टरजी ने आँखों से ओझल नहीं होने दिया। डॉक्टरजी की मान्यता थी कि जैसे अन्तिम लक्ष्य की ओर ध्यान रखने के कारण तात्कालिक आवश्यकताओं की ओर दुर्लक्ष करना अव्यवस्थित चित्त का लक्षण है, वैसे ही तात्कालिकता के सामयिक आवेश में बह जाने के कारण अंतिम लक्ष्य को क्षति पहुँचाने वाला कोई कार्य करना भी अव्यवस्थित चित्त का ही लक्षण है। अंतिम तथा तात्कालिक आवश्यकताओं में नित्यानित्य का संघानुकूल संतुलन रखना परम आवश्यक है। यह संतुलन डॉक्टरजी ने सतत कायम रखा। उनकी दूरदृष्टि, संयम और संतुलन का अन्वयार्थ समझ पाना कई विशुद्ध राजनीतिक नेताओं के लिए असंभव हो जाता था और डॉक्टरजी को उसकी कीमत – एक तरफ काँग्रेसियों की नाराजगी और दूसरी ओर हिन्दू सभाइयों की नाराजगी – इस तरह चुकानी पड़ती थी। मृदंग की तरह उन्हें दोनों तरफ से थप्पड़ खाना पड़ता था। कई उदाहरण उनके जीवनचरित्र में मिलते हैं।

काँग्रेस में कार्य करते समय डॉक्टरजी ने काँग्रेस के सत्याग्रह में भी व्यक्तिगत रूप से हिस्सा लिया था। लेकिन बाद में आया हुआ 'कम्युनल अ‍ॅवॉर्ड' देश के लिए विघातक है और यह राष्ट्रीय हित का सवाल है यह ध्यान में लेते हुए उस समय के चुनाव में व्यक्तिगत रूप से संघ के स्वयंसेवक पूरी ताकत के साथ, डॉ. मुंजे, लोकनायक अणे तथा पं. मदनमोहन मालवीय आदि की काँग्रेस नॅशनल पार्टी और हिन्दू महासभा को समर्थन देने हेतु उतरे थे। लेकिन आगे संघ की सामर्थ्य का परिचय होने के बाद हिन्दू महासभा के डॉ. मुंजे जैसे प्रमुख नेताओं के मन में 'हिन्दू मिलीशिया' के रूप में एक व्हॉलेंटिअर कोअर शुरू

करने की कल्पना आई और पू. डॉक्टरजी उसका नेतृत्व करेंगे ऐसा प्रस्ताव उन्होंने दिया, तो डॉक्टरजी ने इन्कार कर दिया। लोगों को मालूम था कि डॉ. मुंजे जैसे आदरणीय नेता तो पू. डॉक्टरजी के पहले से मेंटॉर याने गॉडफादर (पिता जैसे सदुपदेशक) थे। उनका दबाव डॉक्टरजी पर आएगा, इस हिसाब से डॉ. मुंजेजी से रामसेना इस स्वयंसेवक दल के बारे में एक स्टेटमेंट अखबार में छपवाया और 'डॉ. हेडगेवार उस रामसेना के सरसेनापति रहेंगे' यह भी उस में जोड़ दिया। वह देखकर डॉक्टरजी तो बहुतही अस्वस्थ हुए। डॉ. मुंजेजी के प्रति उन के मन में अतीव आदर था, फिर भी नित्यानित्य विवेक मन में रख कर, बहुत ही अनिच्छा से, दुख के साथ उन्होंने दूसरे दिन अखबार में निवेदन दिया कि, 'मेरे नाम का उल्लेख बिना मेरे सम्मति के दिया गया है और इस रामसेना से मेरा कोई संबंध नहीं है।'

व्यक्तिगत रूप में सभी राष्ट्रीय गतिविधियों में सक्रिय हिस्सा लेने के बावजूद भी संघ को ऐसी सभी बातों से अलिप्त रखना अपनी अंतिम ध्येयपूर्ति की दृष्टि से आवश्यक है और इसलिए नित्यानित्य विवेक की लक्ष्मणरेखा स्वयंसेवकों के मन में हमेशा रहे यह संघ का आग्रह रहा है।

पू. डॉक्टरजी की धारणा थी कि लोकमत के प्रवाह में सस्ती लोकप्रियता के पीछे बहते जाना सरल है। किन्तु सच्चे नेता का काम यह है कि यदि अपनी सदसद्विवेकबुद्धि को न जँचे तो लोकमत के प्रवाह के विरुद्ध खड़े होकर भी अपना मत सीना तानकर जनता के सामने रखे। प्रवाह के साथ बहना नेता का नहीं, अनुयायियों का लक्षण है। सच्चा नेता तो वह है, जो परिस्थिति को अपने मन के अनुसार बनाकर लोकमत को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। नेतृत्व की कसौटी लोकानुवर्तित्व नहीं, लोकनियंत्रण है।

■ संघ हमारी 'दृष्टि में आना'

इस लक्ष्मणरेखा का मतलब यह नहीं कि संघकार्य केवल एक घंटे की शाखा तक ही सीमित रहता है। संघकार्य की नींव जैसा माध्यम संघशाखा है, यह तो सही है। फिर भी संगठन के विस्तार का तथा विकास का कार्य तो संघशाखा के बाहर ही अधिक मात्रा में होता है। संघशाखा पर संगठन की दृष्टि से जो मानसिकता और दिशाबोध प्राप्त होता है, उससे स्वाभाविक रूप में स्वयंसेवकों के प्रति संघ की यह अपेक्षा रहती है कि उनके मन में एक घंटे की शाखा के अलावा उर्वरित तेईस घंटे भी संघकार्य का ही ख्याल

रहे, ऐसी जीवनसरणी विकसित हो। हम चौबीस घंटे कुछ न कुछ, करते ही रहते हैं। खास कर जीविकोपार्जन के लिए तो कुछ करना ही पड़ता है। शौक की खातिर भी हम कुछ करते हैं। ऐसे जीवन व्यवहारों में हमारा संपर्क अलग अलग लोगों से आता ही है। जो विद्यार्थी हैं उनका स्कूल-कॉलेज के प्राध्यापक तथा सहाध्यायियों से, दुकानदारों का अपने ग्राहकों से, वकीलों का अपने मुवक्किलों से, डॉक्टरों का अपने मरीजों से, ऐसा जिसका जो जीविकोपार्जन का साधन है, मुख्य काम का क्षेत्र है, उसके संबंधित लोगों के साथ उसका संपर्क होता है। अब हमें यह ख्याल रखना है कि निजी जीवन में समाजजीवन के किसी भी क्षेत्र में जो जो किसी माध्यम से हमारा संपर्क होता है उसे संघकार्य की दृष्टि से उपयोग में लाना है। कोई भी कार्य सोद्देश्य और उपयुक्त संपर्क के माध्यम से ही होता है। ऐसे विविध स्तरों के संपर्क का उपयोग संघकार्य में हो सकता है। हमने अपने मन में अपने जीवन का वर्गीकरण तो नहीं किया है इसका भी ख्याल रखना आवश्यक है। जैसे ईसाई लोगों के बारे में मजाक में कहा जाता है कि रविवार का दिन सुबह मजहब के लिए, बाकी दिन मजहब छोड़ कर बाकी धंधों के लिए। इस प्रकार हमारी मानसिकता नहीं होनी चाहिए कि एक घंटा संघ के लिए, बाकी तेईस घंटे संघेतर व्यवहार के लिए। ध्यान में रहना चाहिए, संघ में इस प्रकार का विभाजन नहीं है कि एक घंटा संघ को दे दिया और शेष समय संघ को भूल गए। (स्वर्गीय) बाबासाहेब आपटे कहते थे कि हम एक घंटा संघस्थान पर आते हैं। बाकी तेईस घंटों में संघ का काम हमने कितना किया उसका यह एक घंटा मापदण्ड है। अतएव हमारा संघचिंतन चौबीस घंटों का होना चाहिए। संघ हमारी 'दृष्टि में आना' चाहिए। कुछ लोग कहेंगे, यह 'संघ दृष्टि में आना' यह बात कुछ समझ में नहीं आती है। गंभीरता से विचार करें तो समझ में आ सकता है। हम कल्पना कर सकते हैं, रास्ते के किनारे फूटपाथ पर दो कारीगर बैठे हैं। एक है नाई और दूसरा कारीगर है मोची। मोची और नाई तरह तरह के हो सकते हैं। लेकिन आदर्श मोची कौन सा हो? रास्ते पर सैकड़ों लोगों का आनाजाना होता है। किन्तु आदर्श मोची यह नहीं बता सकेगा कि किस शकल का आदमी कौन सा सूट पहनकर उसके सामने से गया। वह केवल यह बता सकेगा कि किस आदमी का जूता फटा हुआ था और किस की चप्पल दुरुस्त करने की आवश्यकता थी। और आदर्श नाई केवल यह बता सकेगा कि सामने से जानेवाले आदमी की दाढ़ी बढ़ी हुई थी या नहीं, उसने कंघी की थी या नहीं, वह गोरा था

या काला था। तो आदर्श मोची यह नहीं बता सकेगा कि सामने से जानेवाले आदमी के वस्त्र कैसे थे और आदर्श नाई यह नहीं बताएगा कि उसने बाटा का जूता पहना था या फटी हुई चप्पल पहनी थी; या वह नंगे पैर था। इसका मतलब है कि आदर्श नाई और आदर्श मोची दोनों के ख्याल में, उनकी दृष्टि में अपना अपना धंधा होता है। जिस प्रकार उनकी दृष्टि में सदा उनका धंधाही होता है उसी प्रकार संपर्क में आने वाले हरएक व्यक्ति का अपने कार्य की दृष्टि से क्या उपयोग हो सकता है यह विचार स्वाभाविक रूप में कार्यकर्ता के मन में आना, यही है 'संघ दृष्टि में आना' इसका अर्थ।

यह कैसे होता है? एक उदाहरण से स्पष्ट होगा। मानो दो दोस्त एक साथ जा रहे हैं। इनमें से एक बड़ा खिलाडी athlete है और दूसरा अपना स्वयंसेवक है। रास्ते से जाते जाते बाजू में एक बड़ा मैदान दिखाई देता है। तो वह खिलाडी कहता है कितना अच्छा बड़ा मैदान है, उस पर बहुत ही बड़ी Athletic meet हो सकती है। दूसरी तरफ स्वयंसेवक के मन में आता है, कितना बड़ा सुंदर मैदान है, इस पर हमारा संघ का शिविर कितनी अच्छी तरह से लग सकता है। तो संपर्क में, निरीक्षण में आने वाली हर चीज के बारे में, हर बात के बारे में, हर व्यक्ति के बारे में सोचते हुए मन में संघ और संघ ही होना यही है इसका मतलब। मानो कार्यकर्ता का यह दूसरा स्वभाव ही (second nature) होना चाहिए।

■ आगे चल कर संपर्क में योजकता

इस विषय में और एक बात ध्यान में लेना आवश्यक है। हमारा कार्यकर्ता तो सर्वगुणसंपन्न नहीं हो सकता। किंतु संघ दृष्टि में आने से वह खोज कर सकता है कि कार्य के लिए आवश्यक विभिन्न गुण एवं क्षमताएँ रखने वाले व्यक्ति उसके आजूबाजू में या संपर्क क्षेत्र में कहाँ कहाँ और कौन कौन हैं। इस तरह अपने कार्य के विभिन्न पहलू तथा कार्य में उत्पन्न होने वाली जिम्मेदारियों का ख्याल रखते हुए, ऐसे विभिन्न कामों के लिए विभिन्न क्षमताओं के व्यक्तियों की खोज में रहना स्वयंसेवक का स्वभाव बनना आवश्यक है। ऐसे लोगों के साथ संपर्क स्थापित करना, उनके मन में अपने कार्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना, और आगे चलकर पूरे उत्साह के साथ वे अपने कार्य के विभिन्न अंगों में जुट जाए इस दृष्टि से उन्हें प्रवृत्त करना यही संगठन का कार्य है। जहाँ एक व्यक्ति सभी क्षमताओं से युक्त नहीं

हो सकता है वहाँ वह विभिन्न क्षमताओं से युक्त ऐसे सभी लोगों का संग्रह कर सकता है। संपर्क के माध्यम से लोकसंग्रह इसका सही अर्थ यही है। तत्त्वज्ञ, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक, तंत्रज्ञ, लेखक, वक्ता, अभ्यासक, शारीरिक शक्ति, चापल्य आदि गुणों से युक्त व्यक्ति ऐसे विभिन्न क्षमताओं के व्यक्तियों की तुलना हाथ की चार उंगलियों के साथ की जाए, तो संगठन की तुलना अंगूठे के साथ हो सकती है। केवल चार उंगलियाँ अलग अलग काम कर सकती हैं किन्तु अंगूठे के साथ अगर जुट जाएँगी तो पाँचों मिलकर अधिक क्षमता के और विभिन्न प्रकार के काम भी कर सकती हैं। वैसेही संगठन अंगूठे जैसे विभिन्न क्षमताओं के लोगों को इकट्ठा करते हुए अपनी स्वयं की उपस्थिति के कारण उनमें सामूहिक शक्ति का निर्माण करता है जो कि उनमें से हरेक की शक्ति के योग से भी कई गुना अधिक होती है।

लोकसंग्रह का मतलब यह नहीं कि लोगों को केवल इकट्ठा करना। एकत्र किए हुए लोगों की ठीक ढंग से रचना भी होनी चाहिए। हरेक व्यक्ति में कुछ गुण और कुछ दोष हुआ करते हैं। रचना की विशेषता यही रहे कि उसके कारण हरेक के गुण उभरकर सामने दिखाई दें और दोष का विलय हो जाए। विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न व्यक्तियों की योजना इसी ढंग से की जाए कि विपरीत परिस्थिति या समस्याओं के सामने हरेक के गुण आ जाए न कि उनके दोष। हरेक की रुचि और क्षमता के अनुसार काम की जिम्मेवारी देने से ये बातें सिद्ध हो सकती हैं। इस प्रकार की रचना के कारण हमारे सभी कार्यकर्ताओं की सभी क्षमताओं का परिणामकारी योग होगा और हम पूरी शक्ति के साथ काम निपटाने में सफल होंगे। इससे कार्यकर्ता की क्षमता भी बढ़ती है और योग्य दिशा में वह प्रोत्साहित भी होती है

स्वामी विवेकानंदजी ने कहा है कि, अलग अलग chemicals इकट्ठा डालना यह अपना काम है। उससे स्वाभाविक crystallization होने वाला है और होकर रहेगा। इसकी चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। Ours is to put chemicals together; crystallization will follow by the law of Nature

इस दृष्टि से अपने कार्य में हमने संगठन का और एक सूत्र अपनाया है। हरेक काम के लिए (जिम्मेदारी के लिए) व्यक्ति और हरेक व्यक्ति के लिए काम। कोई भी व्यक्ति पूर्णरूपेण नाकाम हो नहीं सकता। मामूली सी क्षमता होनेवाला व्यक्ति का भी संगठन में योगदान हो सकता है; योजकता आवश्यक है; यह धारणा 'हरेक व्यक्ति के लिए काम' इस सूत्र के पीछे है। अपने व्यापक

संपर्क से इस दृष्टि से हम अपने संगठन का न केवल विस्तार करते हैं बल्कि वह अधिक सघन भी करते हैं।

जो लोग लौकिक दृष्टि से, प्रापंचिक, व्यावसायिक दृष्टि से सुस्थिति में हैं उनका हमारे कार्य में अधिक सक्रिय रहना तो स्वाभाविक है, क्योंकि वे अपना समय, पैसा अपने कार्य के लिए देने की क्षमता रखते हैं। लेकिन हमें यह ध्यान में रखना है कि हम पूरे हिन्दू समाज को संगठित कर रहे हैं। तो समाज के सभी स्तरों के कार्यकर्ता हमारे कार्य में सक्रिय रहना आवश्यक है। शायद सभी स्तरों के कार्यकर्ता अपने कार्य में जोड़ने की यह प्रक्रिया पहले कृत्रिमता से ही शुरू करनी पड़ती है और फिर धीरे धीरे यह मानसिकता अपने काम में स्थिर होने के बाद स्वाभाविक रूप से समाज के सभी अंगों तक हमारा कार्य पहुँचता है।

ऐसा कहा जाता है कि जो कार्यकर्ता पानपट्टी के ठेलेपर जाता नहीं वह कार्यकर्ता ही नहीं। अब ठेले पर पान खाने के लिए नहीं बल्कि जनमानस की पहचान हो इस हेतु जाना यह अभिप्रेत अर्थ है। ठेले पर तो हर जीवनस्तर के, हर जीवन क्षेत्र के, हर उमर के लोग आते रहते हैं, एकाध दूसरी बात होती है, उससे जनमानस क्या है इसका पता कार्यकर्ता को होता है और आने वाले लोगों को भी, यह संघ कार्यकर्ता है, यह मालूम होने के बाद उसी के माध्यम से संघ का भी परिचय होता है।

इस तरह हरेक काम का या हरेक संपर्क का उपयोग संघ के लिए करने की रा. स्व. संघ की पुरानी पद्धति है। संघसंस्थापक पू. डॉक्टरजी का जीवन हम देखें तो संघ की स्थापना के पश्चात भी डॉक्टरजी ने १९३० में अपनी सरसंघचालक पद की जिम्मेदारी कुछ काल के लिए छोड़कर कॉंग्रेस के जंगल सत्याग्रह में यवतमाल में हिस्सा लिया। परिणामत: उनको ग्यारह महीनों का कारावास भुगतना पड़ा। भागानगर (हैदराबाद) सत्याग्रह के समय मा. भैयाजी दाणी ने व्यक्तिगत रूप में कई स्वयंसेवकों का नेतृत्व करते हुए सत्याग्रह में हिस्सा लिया। वैसे ही भागलपुर में हिन्दुमहासभा के सत्याग्रह का नेतृत्व नागपुर के प्रांत संघचालक मा. बाबासाहेब घटाटे ने किया था। जैसे कि पहले बताया है कि केवल स्वतंत्रता प्राप्त करना इतना ही लक्ष्य पू. डॉक्टरजी के सामने नहीं था, तो सामान्य व्यक्ति की राष्ट्रचेतना का जागरण यह उन्होंने संघ कार्य का प्राथमिक आयाम माना था। इस दृष्टि से यद्यपि उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि केवल सत्याग्रह करने से स्वतंत्रता नहीं मिलेगी फिर भी व्यक्तिगत भूमिका में ऐसे आंदोलनों में उन्होंने स्वयं हिस्सा लिया और अन्य स्वयंसेवकों को भी प्रोत्साहित किया। फिर भी

ऐसे सहभाग की ओर देखने की पू. डॉक्टरजी की और भी एक दृष्टि थी कि जहाँ जहाँ हम जाएँगे, जेल में रहेंगे, तो भी वहाँ कॉंग्रेस के या हिंदुमहासभा के अच्छे अच्छे स्वार्थत्यागी लोगों के साथ संपर्क आएगा। अपने संपर्क के माध्यम से हम उनको संघ की ओर आकृष्ट कर सकेंगे और जेल में से बाहर आने के बाद जहाँ जहाँ वे लोग फैल जाएँगे वहाँ जाकर हम शाखाएँ शुरू कर सकेंगे। यह हिसाब किताब मन में रखते हुए भी उनकी जेलयात्रा हुई और उन्होंने अलग-अलग आंदोलनों में सहभाग किया। इसी व्यापक संपर्क के आधार पर शाखाएँ बढ़ गईं। अनेक जेलयात्री स्वयंसेवक बन गए।

ऐसे अन्यान्य संस्थाओं में या अन्यान्य व्यवस्थाओं में काम करनेवालों के साथ भी स्वयंसेवकों का सौहार्दपूर्ण, सदिच्छाभरा संपर्क रहना आवश्यक है। पूरे हिन्दू समाज का संगठन करने हेतु हम निकले हैं तो चाहे विरोधी या प्रतिकूल मानसिकता का भी व्यक्ति क्यों न हो उसके साथ हमारा संबंध तो आत्मीयता का ही होना आवश्यक है। अपने एक पुराने ज्येष्ठ कार्यकर्ता, कृष्णराव मोहरील नागपुर के ख्रिश्चन मिशन के हिस्लॉप कॉलेज में पढ़ते थे। अब कॉलेज का पूरा माहौल संघ के विपरीत था। छात्रछात्राओं के मन में संघ के बारे में तरह तरह की गलतफहमियाँ थीं। लेकिन कृष्णरावजी ने कॉलेज के हर बहि:शाल उपक्रम में, गतिविधि में (extra curricular activity) हिस्सा लिया। एक बार वे कॉलेज के सोशल गॅदरिंग के जनरल सेक्रेटरी भी रहे और इसी माध्यम से उन्होंने अन्य सहाध्यायियों से जो सौहार्दपूर्ण संबंध विकसित किया उसके परिणामस्वरूप अन्यों के मन में संघ के प्रति जो प्रतिकूलता थी वह दूर हो गई। इस दृष्टि से केवल प्रतिकूल ही नहीं, विरोधी भी मानसिकता रखनेवालों के प्रति भी स्वयंसेवकों का संबंध सौहार्दपूर्ण होना आवश्यक है। इतना ही नहीं तो संघ को गालियाँ भी देने वाले होंगे, वे भी अपने ही हैं यह संघ की धारणा है। जैसे कोई अनजान बच्चा कडवी दवा देने पर माँ को भलाबुरा कहता है, मारता भी है, फिर भी माँ उस पर गुस्सा नहीं करती। हमारे यहाँ तो कहा है, ''कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि, कुमाता न भवति''। तो संघ ऐसे मातृहृदय का परिचय देने वाला भाव मन में रखता है।

■ संघ कोई संप्रदाय नहीं

ऐसे व्यापक संपर्क के पीछे संघ की धारणा है कि संघ कोई सम्प्रदाय नहीं है। कुछ दिन पहले एक स्वयंसेवक ने मुझसे पूछा कि संघ की हमारी

प्रार्थना यह संघ की ही प्रार्थना है न? मैंने कहा, हाँ! आप के मन में आशंका क्यों? तो उसने बताया, 'पुणे शहर में हमारे एक श्रेष्ठ संतपुरुष स्वामी वरदानंद संघ के स्वयंसेवक नहीं है। उनके शिष्यों ने एक बार उनसे अनुरोध किया कि वे संघ की प्रार्थना का विवरण करे। उन्होंने मान लिया। अब मेरे मन में आपत्ति आई, जो संघ का स्वयंसेवक नहीं, पदाधिकारी तो है ही नहीं, क्या वह संघ की प्रार्थना का विवरण करने के लिए अधिकारी है?'

उस स्वयंसेवक के इस प्रश्न से मुझे बहुत दुख हुआ। फिर भी इस पर मैं कुछ न बोलते हुए सुन रहा था। मैंने पूछा, 'फिर आगे क्या हुआ?' तो जवाब आया, 'प्रवचन हुआ। हमारे जैसे कुछ स्वयंसेवकों ने हमारे मन का विचार उस संतपुरुष के सामने रखा भी। तो आपने कहा – आप का आक्षेप मेरे ध्यान में आया। लेकिन मैं पूछना चाहता हूँ कि यह प्रार्थना किसकी है? पूरी प्रार्थना में रा. स्व. संघ, ये शब्द आये हैं क्या? प्रार्थना में 'वयं संघीया:।' ऐसा कहा है क्या? फिर क्या कहा है? 'वयं हिन्दुराष्ट्रांगभूता:'। तो यह प्रार्थना है, जो इस हिन्दुराष्ट्र के घटक हैं उनके लिए और ऐसे करोड़ों लोग हैं जो 'हिन्दुराष्ट्रांगभूता:' हैं। वे सब संघशाखापर नहीं आते यह बात अलग है। लेकिन प्रार्थना तो ऐसे सभी हिन्दुओं की है। केवल रा. स्व. संघ के स्वयंसेवक कहलाने वालों की ही नहीं है।'

उसपर मैंने उस स्वयंसेवक से पूछा, 'पू. डॉक्टरजी ने १९२५ साल से जिन बातों का जिक्र किया था क्या वे सब बातें हम भूल गये? शुरू में ही तो ऐसा कहा था कि संघ यह संस्था नहीं, संप्रदाय नहीं, पार्टी नहीं। party का मतलब होता है part of the society! संघ याने तो संपूर्ण हिन्दुसमाज है। Conceptually Sangh and society are co-terminus. Psychologically Sangh is identified with the entire Hindu society' संकल्पना की दृष्टि से संघ और समाज समव्याप्त है और मानसिकता की दृष्टि से संघ संपूर्ण हिन्दुसमाज के साथ एकात्म है।

इस अंगांगी भाव का – समाज के साथ की एकात्मता का जिनको साक्षात्कार हुआ है वे प्रत्यक्ष (actual) स्वयंसेवक हैं। जिन्हें यह साक्षात्कार हुआ नहीं है वे बीजीभूत (potential) स्वयंसेवक ऐसा हम मानते हैं। इसका मतलब, कोई patent स्वयंसेवक है तो कोई latent है। परिणामत: हरेक हिन्दू व्यक्ति को हम, आज का नहीं तो कल का स्वयंसेवक ही मानते हैं।

पू. डॉक्टरजी ने प्रारम्भ से ही, संघ कोई संप्रदाय न बने इस दृष्टि से सतर्कता रखी। अपने इतिहास की बारीकी से आलोचना करते हुए उन्होंने देखा कि पिछली कई शताब्दियों में हिन्दुत्व तथा हिन्दू समाज के संरक्षण, संवर्धन तथा सुधार के लिए कई महापुरुषों ने श्रेष्ठ प्रयास किए थे और उन प्रयासों के परिणामस्वरूप हिन्दू समाज उनके कालखंड में लाभान्वित भी होता रहता था। लेकिन इनमें से हरेक प्रयास की परिणति अन्ततोगत्वा सम्प्रदाय निर्मिति में हुई या प्रादेशिकता के परिधि में वे सीमित रहे। प्रत्येक प्रयास से हिन्दू समाज के अंतर्गत एक संगठित विभाग का स्वरूप गठित हुआ। ऐसे हर प्रयास का अखिल हिन्दू भाव से प्रारम्भ होकर भी आगे चल कर केवल एक पन्थ या संप्रदाय बनकर क्यों रहा, इस प्रश्न पर पू. डॉक्टरजी ने बारीकीसे विचार किया। मानव स्वभाव का उनका अध्ययन तथा मनोविज्ञान का अनुभव बहुतही सूक्ष्म था। वे समझ चुके थे कि यद्यपि इस तरह का सांप्रदायिकता का भाव सम्पूर्ण समाज के हित की दृष्टि से न केवल अधूरा है बल्कि घातक भी है, यह सांप्रदायिकता का भाव मनुष्य का स्वभावसुलभ भाव है। जिस तरह पानी स्वाभाविक प्रक्रिया में नीचे की ओर बहता है वैसे ही मनुष्य का मन स्वाभाविक रूप से सांप्रदायिकता की ओर जाता है। और जैसे पानी यदि ऊपर चढ़ाना है तो उसके लिए पंपिंग आदि विशेष प्रयास करने पड़ते हैं, वैसे ही यदि सामान्य मनुष्य का मन सांप्रदायिकता के पार 'अखिल हिन्दू' भाव की ओर ले जाना है तो उसके लिए विशेष सतर्कता रखने और विशेष संस्कार अंकित करने की आवश्यकता है। यह सतर्कता प्रारम्भ से ही न रखी जाने से ही सभी पूर्व प्रयासों में साम्प्रदायिकता ने प्रवेश किया।

पू. डॉक्टरजी ने ऐसी सांप्रदायिकता का खतरा टालने का पहले से ही प्रयास किया था। संघ संस्थापना के बाद १९२७ में नागपुर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था। उसमें पहली ही बार हिन्दुओं ने मार खाई नहीं, बल्कि मुस्लिमों को भारी मात्रा में मार खानी पड़ी। संघ स्वयंसेवकों ने पूरी व्यूहरचना करके दंगा फैलेगा नहीं और हिन्दुओं को मार पड़ेगा नहीं इस दृष्टि से व्यवस्था की थी। यह अनुभव करने पर समाज में आश्वासन के साथ कुतूहल भी पैदा हुआ। लोग बोलने लगे, डॉ. हेडगेवारजी के रा. स्व. संघ के कारण पहले ही बार हिन्दुओं ने मुसलमानों को मात दी। यह सुनने पर डॉक्टरजी ने कहा – 'यह संघ ने किया नहीं है। हिन्दू समाज ने किया है। नागपुर के दंगे में जो पराक्रम दिखाई दिया, हिन्दू समाज का है।' माने अपने संगठन के लिए इस सफलता

का श्रेय लेना डॉक्टरजी को मान्य नहीं था। ऐसा श्रेय लेना तो संकुचित सांप्रदायिकता का लक्षण है। संघ पूरे हिन्दू समाज से एकरूप एकात्म है तो श्रेय तो हिन्दू समाज का ही है, ऐसी हमारी धारणा रहती आई है।

सांप्रदायिक भाव से संघ को बचाने की दृष्टि से पू. डॉक्टरजी बहुतही सतर्क रहते थे। प्रारंभिक अवस्था में कई लोग सुझाव देते रहे – हमें चौबीस घंटे अपने गणवेश में ही रहना चाहिए। उस पर डॉक्टरजी ने कहा, 'हम संपूर्ण समाज से एकरूप एकात्म है। कार्य करते समय हम कोई अलग से लोग हैं यह भावना समाज के किसी के भी मन में पैदा नहीं होनी चाहिए।' किसी ने कहा, कम से कम हमें रा. स्व. संघ के बॅजेस लगाने चाहिए। उस पर भी डॉक्टरजी ने ना कहा। डॉक्टरजी स्वयं संन्यस्त वृत्ति के ही थे। फिर भी उन्होंने संन्यासी जैसा भगवा वस्त्र परिधान नहीं किया इस का मर्म भी यही है। मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपने एक ज्येष्ठ प्रचारक मा. यादवरावजी जोशी से पूछा था, 'यदि हमारे संघ के किसी नेता का देहान्त हुआ तो उसकी अंत्ययात्रा कैसे निकाली जाए?' प्रश्न का संकेत ध्यान में आते ही यादवरावजी के आँखों से आंसू बहने लगे। उन्होंने कहा– 'अंत्ययात्रा तो सैनिकी ढंगसे निकाली जाए।' पू. डॉक्टरजीने कहा, 'नहीं, हमारा तो कोई लष्करी संगठन नहीं है। हम समाज से एकरूप हैं, तो किसी भी सामान्य व्यक्ति की अंत्ययात्रा जैसे निकाली जाती है वैसे ही मेरी भी अंत्ययात्रा निकाली जानी चाहिए।'

बिल्कुल छोटी छोटी बातों में भी, संघ यह कोई संप्रदाय नहीं है, पूरे समाज का यह काम है, यह धारणा आविष्कृत होती थी। एक छोटी सी बैठक में विजयादशमी उत्सव के निमंत्रण पत्रिका का विषय चल रहा था। पत्रिका का प्रारंभ, ''हमारे रा. स्व. संघ का विजयादशमी महोत्सव'', ऐसा किया गया था। डॉक्टरजी ने पूछा, 'हमारे' यह शब्द ठीक है क्या? ''हमारे'' कहते ही ''तुम्हारे'' का भाव भी पढ़ने वालों के मन में पैदा होता है। इसलिए 'अपने रा. स्व. संघ का,' ये शब्द उचित रहेंगे।

वैसे ही महाराष्ट्र के एक जिलास्थान पर पू. डॉक्टरजी का प्रवास था। वहाँ अपने कुछ स्वयंसेवकों ने एक सहकारी बँक चलाई थी। पू. डॉक्टरजी को किसी ने बताया, यह अपनी संघ की बँक है। तत्काल डॉक्टरजी ने कहा, 'नहीं, यह संघ की बँक नहीं है, शहर में जितनी बँक्स हैं वे सब संघ की ही हैं। लेकिन तुम्हारी इस बँक की विशेषता यह है, इस बँक में संघ है, अन्य बँकों में संघ नहीं है।'

इस तरह पू. डॉक्टरजी शब्द, संज्ञा इनका उपयोग करने में बहुतही सतर्क रहते थे। शब्द तो केवल अक्षरों का मेल नहीं होता है। उसके पीछे संकल्पना रहती है और संकल्पना भी अनुभूति से निर्माण होती है। तो शब्द हमारी अनुभूति का द्योतक होता है। प्रभू जीजस ने कहा है – Letter killeth spirit reviveth! अर्थात् केवल शब्द खत्म करता है, भाव चेतना जगाता है। भगवान पतञ्जली ने कहा है – एक: शब्द: सम्यक् ज्ञात: संप्रयुक्त: लोके स्वर्गेच कामधुक् भवति। केवल एक ही शब्द का भी अर्थ अच्छी तरह से ध्यान में लेते हुए अगर हम सुयोग्य ढंग से उसका प्रयोग करें तो हमारी इस दुनिया की और स्वर्गलोक की सभी कामनाएँ पूरी होंगी। व्हॉल्टेअर ने कहा था – If you want to talk with me, define your terms first! मुझसे यदि बात करनी है तो पहले आप अपनी संज्ञाओं की परिभाषा निश्चित करें। सुयोग्य शब्द की ऐसी महति होती है।

सामान्य व्यक्ति को ऐसा कभी कभी लागता है कि बोलने में थोडा इधरउधर हुआ तो क्या फर्क होता है? लेकिन ऐसा नहीं है। ४१ अंश का कोन और ४० अंश का कोन इनमें प्रारंभ में तो बहुतही कम अंतर रहता है, लेकिन उस १ अंश के अंतर से अगर उस जगह से दो रेषाएँ खींच लेंगे तो आगे चलकर उन दो रेषाओं में मीलों तक अंतर पड़ता है। वैसे ही शब्द का उपयोग करने में थोड़ा भी इधरउधर हुआ तो आगे चलकर बहुत ही गड़बड़ हो सकती है।

■ व्यापक संपर्क में मूल कार्य का ख्याल

पूरे समाज के साथ व्यापक संपर्क करते समय एक सतर्कता जरूर रखनी पड़ती है कि ऐसे संपर्क के कारण यदि हम मूल बात भूल जाएँगे तो फिर माँ की गोद में बैठे हुए बच्चे की जैसे हमारी मनस्थिति होगी। छोटा बच्चा माँ की गोद में बैठा हुआ होता है और जब वह देखता है कि कोई अच्छी लाल रंग की गेंद आँगन में पड़ी है तो अच्छे चमकदार रंग पर आकृष्ट होता है। वह माँ से कहता है, 'माँ मैं यह गेंद लेकर आता हूँ।' माँ की गोद में से उतरकर वह आँगन में आता है। गेंद जब हाथ में लेता है तो उसको लगता है कि गेंद के साथ खेलना चाहिए। वह उसके साथ खेलने लगता है और उस खेल में वह इतना मग्न हो जाता है कि माँ के पास वापस जाना भूल जाता है। उसे माँ का ध्यान ही नहीं रहता कि माँ उसकी राह देख रही है। वह भूल जाता है कि माँ के पास जाना उसका कर्तव्य है। बच्चे के लिए यह बात

ठीक है। लेकिन अपने स्वयंसेवकों के लिए यह ठीक नहीं है। हमें आँगन में आना है। गेंद को उठाना भी है। उससे खेलना भी है। वह आकर्षक है तो भी उसको लेकर फिरसे माँ की गोद में आकर बैठना है। अन्य संस्थाओं में या विभिन्न स्तरों पर संपर्क बढ़ाने हेतु जाने वाले स्वयंसेवकों ने यह सतर्कता रखने की आवश्यकता है कि हम अपना मूल कार्य ना भूलें। ''गंगा गए गंगादास, जमना गए जमनादास'' ऐसी हमारी स्थिति नहीं होनी चाहिए।

अब ऐसे विभिन्न स्तरों पर संपर्क के माध्यम से अपना संगठन का कार्य करने वाले हमारे स्वयंसेवकों की मनोवृत्ति कैसी हो सकती है और कैसी रहनी चाहिए यह संकेत देने वाले दो उदाहरण मेरे सामने हैं। मैंने बचपन में 'माया मछिन्दर' नाम की एक फिल्म देखी थी। मछिन्दरनाथजी भगवान शंकर के शिष्य और गोरखनाथजी के गुरु थे। भिक्षा माँगते माँगते वे एक स्त्री राज्य में चले गए। रानी के यहाँ भिक्षा माँगने गए तो रानी उनका रूप देखकर आसक्त हो गई। उसने कहा, 'तुम यही ठहरो।' मछिन्दरनाथ ने कहा, 'नहीं, यह स्त्री राज्य है। मैं योगिराज हूँ। मैं यहाँ नहीं ठहर सकता।' रानी चालाक थी। उसने कहा, 'अच्छा, तुम डरते हो। तुमको खुदके ऊपर भरोसा नहीं है कि तुम स्त्रियों के साथ रहोगे तो भी तुम्हारा अध:पतन नहीं होगा।' मछिंदरनाथ ने कहा, 'नहीं नहीं मुझे अपने ऊपर पूरा भरोसा है। मैं तो योगियों का राजा हूँ। मेरा क्या स्खलन हो सकता है?' तो रानी ने कहा, ''फिर ठहरो यहाँ।'' वे बोले, ''अच्छा, मैं ठहरता हूँ।'' रानी की चुनौती स्वीकार की लेकिन वहाँ ठहरने के बाद धीरे धीरे वहाँ की सुखसुविधाओं के तथा प्रतिष्ठा के शिकार हो गए।

इधर उनके शिष्य बहुत परेशान थे कि हमारे गुरुमहाराज कहाँ गए। उनका शिष्योत्तम गोरक्षनाथ उनकी खोज में उस स्त्रीराज्य में आ पहुँचा। पूछताछ शुरू की कि कोई संन्यासी इधर आया है क्या? लोगों ने बताया कि संन्यासी तो नहीं एक जोगड़ा आया है जो रानी के साथ रहा है। गोरक्षनाथ को बड़ा दुख हुआ। अब अपने गुरू से मिलने की तरकीब खोजने लगा। और भिखारी के वेश में गोरक्षनाथ और उनके साथी भीख माँगने के लिए राजद्वार पर गए। जब वे भीख माँगने गए तो यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि वहाँ बगीचे में झूले पर बैठे रानी और मच्छिंदरनाथ झूल रहे थे। बहुत दुख हुआ। भीख माँगने के लिए उन्होंने ढोलक बजाना शुरू किया। ढोलक की ढम ढम के शब्दों के साथ गोरक्षनाथ ने बीच में कहना शुरू किया, 'चलो मच्छिंदर गोरख आया,' जैसी कि वह आवाज ढोलक से ही आ रही है।

मच्छिंदर ने देखा गोरखनाथ यहाँ भी पहुँच गया है। मेरा 'गटनायक' तो मुझे यहाँ भी छुट्टी देने को तैयार नहीं जब कि यहाँ मैं आराम से रहता हूँ। किन्तु बाद में मच्छिंदरनाथ को पश्चात्ताप हुआ। और रानी के यहाँ से अपने शिष्यों के साथ वे भाग निकले।

कोई आदमी कहता है कि मैं बहुत ध्येयनिष्ठ हूँ, आदर्शवादी हूँ, आकर्षक वायुमंडल में रहने के बाद भी मेरा अध:पतन नहीं हो सकता। किन्तु यह कहते कहते ही धीरे धीरे परिणाम होता है। मछिंदरनाथ जैसे योगी व्यक्ति पर भी परिणाम हुआ। इस उदाहरण से अपना मात्र इतना ही संबंध है कि मैं ध्येयनिष्ठ, समर्पित स्वयंसेवक हूँ, तो मेरा भी स्खलन कैसे हो सकता है, ऐसा कहते कहते अपने स्वयं के बारे में यदि हम सतर्क न रहे तो हमारा भी माया मछिंदर हो सकता है।

और यदि पूरी तरह से सतर्क रहे तो दूसरा भी हो सकता है। उदाहरण है देवासुर संग्राम के समय का। उस समय शल्यक्रिया की विद्या असुरों के गुरु शुक्राचार्य के पास थी। देवताओं ने सोचा, यह विद्या प्राप्त करने हेतु अगर किसी को उनके पास भेजना है तो बृहस्पति के पुत्र कचदेव को भेजा जाए। अब कचदेव ने शुक्राचार्य से विद्या प्राप्त की। लेकिन विद्या पाने के लिए शुक्राचार्य के पास जब वे रहते थे तब शुक्राचार्य की बेटी देवयानी उनके सौंदर्य और गुणवत्ता के कारण उन पर आसक्त हुई। विद्या पूरी होने के पश्चात जब कचदेव गुरुगृह से निकले तब उनका उत्तरीय पकड कर देवयानी ने उनसे विवाह करने का अनुरोध किया। कचदेव तो ध्येयनिष्ठ थे। आदर्शवादी थे। एकाग्र चित्तसे ध्येयसाधना करनेवाले थे। इसलिए उन्होंने विद्या प्राप्त कर ली किन्तु देवयानी से कहा, 'मैं तो विद्या पाने के लिए आया था और मेरा साध्य पाकर जा रहा हूँ। विवाह आदि का विचार मेरे मन में है ही नहीं। और तुम तो मेरी गुरुभगिनी हो। तुम्हारे साथ तो मेरा विवाह कैसे होगा?' अपने ध्येयप्राप्ति के अलावा दूसरा कुछ भी न सोचने वाला कचदेव यह उदाहरण हमारे लिए आदर्शवत है।

तो दूसरे क्षेत्रों में व्यापक संपर्क के माध्यम से अपना कार्य बढ़ाने के लिए जानेवाले हमारे कार्यकर्ताओं ने अपने मूल कार्य का ख्याल रखना आवश्यक है। हमें यह ख्याल रखना चाहिए कि हम कार्यकर्ता माया मछिंदर भी बन सकते हैं और कचदेव जैसे अडिग भी रह सकते हैं। अपने ध्येय के प्रति हमारे चित्त की एकाग्रता (Singleness of purpose) कितनी है उस पर वह निर्भर है। स्वयं को ठीक रखने से ही हम कचदेव के आदर्श का नमूना अपने जीवन में दोहरा सकते हैं।

■ संगठन की सुरक्षा के लिए बाड (fencing)

समाज में से विभिन्न स्तरों के लोगों के साथ संपर्क करके उनसे संबंध विकसित करने में संघ ने और भी एक आयाम जोड़ दिया है। पू. डॉक्टरजी के स्वयं के व्यवहार से ही हमें इसका तथ्य प्राप्त होता है।

कार्य के प्रारंभ से लेकर ध्येयसिद्धि तक मार्गक्रमण करते समय मार्ग में कैसी बाधाएँ निर्माण हो सकती हैं और उनका निवारण करने के उपाय क्या हो सकते हैं, इस विषय में डॉक्टरजी का चिंतन मूलगामी तथा दूरगामी था। इस विषय का साधकबाधक विचार उन्होंने पहले से ही किया था। वे जानते थे कि बीजारोपण करने के पूर्व ही एक सावधानी बरतनी आवश्यक होती है। किसी भी नये पौधे के बारे में यह भय रहता है कि इधर उधर के पशू आकर उसको खा डालें या उखाड दें। इस दृष्टि से बीजारोपण के पूर्व से ही नये पौधे के लिए बाड (fencing) की मजबूत व्यवस्था करना दूरदर्शिता का लक्षण है। यह केवल पौधों के बारे में ही सही नहीं। किसी नई संस्था के संदर्भ में नरपशुओं का भी भय रहता है। प्रत्यक्ष संघ स्थापना के पूर्व से ही यह बाड बनाने का काम डॉक्टरजी ने वर्षों तक प्रयत्नपूर्वक किया। ऐसे बाड के रूप में संगठन में जो संपर्क बनाए रखे जाते हैं उसमें अंतर्भूत सभी लोग प्रत्यक्ष कार्य में सक्रियता से काम करेंगे यह अपेक्षा नहीं रहती है। लेकिन इनका बाड इस नाते बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।

आजकल तो हमारे देश के सार्वजनिक कार्यकर्ता, संबंधों की दृष्टि से केवल तीनही श्रेणियों की कल्पना करते हैं। एक श्रेणी मित्रों की या समर्थकों की। दूसरी श्रेणी शत्रुओं की या विरोधकों की। और तीसरी श्रेणी उदासीन रहने वालों की। किन्तु चौथी एक श्रेणी होती है जिसके संबंध में आज गहराई से विचार नहीं होता। यह श्रेणी है 'उपकारक तटस्थता' रखनेवालों की। वे हैं तो तटस्थ। संघ के संदर्भ में सोचेंगे तो ऐसा लगता है कि अपने अपने व्यक्तिगत कारणों से, मजबूरी होने से, उनके लिए यह संभव नहीं होता है कि वे सीधे अपने साथ खड़े रहें। वे विरोधी भी तो नहीं हैं, संघ के संदर्भ में उनके मन में सहानुभूति है। किन्तु उसका प्रकटीकरण वे इस ढंग से करना पसन्द नहीं करेंगे जिसके कारण उनके मन का झुकाव अन्य लोगों के ख्याल में आ जाए और वे उनकी गिनती संघ में ही करें। सार्वजनिक जीवन में तटस्थ रहना लाभदायक रहता है ऐसा वे मानते हैं। फिर भी अपना झुकाव जनता के ध्यान में न आने देते हुए यदि किसी तरह से वे सक्रिय सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं तो उसपर

वे अवश्य विचार करेंगे। उदाहरण के लिए हम अनुभव करते हैं कि कोई सज्जन ऐसे हो सकते हैं जो प्रकट रूप से अपने मंच पर आना या शाखा पर आना पसन्द नहीं करेंगे। लेकिन यदि हमारा कोई कार्यकर्ता प्रवास के लिए जाता है तो अपने स्थानीय कार्यकर्ता के अनुरोध पर इसी प्रवासी कार्यकर्ता के प्रवास में अपने घर, निवास, भोजन, अल्पाहार आदि का प्रबंध उसके लिए करेंगे। इधरउधर जाने के लिए वाहन की व्यवस्था भी करेंगे। ऐसी पूरी व्यवस्था वे कर सकते हैं बशर्ते कि आप इस बात की चर्चा बाहर न करें। इसी तरह से अपने कार्य के अनेकानेक गतिविधियों में उनका बहुत ही मौलिक योगदान रहता है। फिर भी उसकी वार्ता बाहर न आने दे ऐसी उनकी अपेक्षा रहती है।

ऐसे लोगों ने संघ की सहायता जैसी की है वैसे ही आपत्ति के समय संघ को समर्थन देते हुए संघ का संरक्षण करने का भी उन्होंने प्रयास किया है। ऐसे अनगिनत लोग हैं। लेकिन नमूने के रूप में एकाध दूसरा उल्लेख करना पर्याप्त रहेगा। गांधी हत्या के बाद संघ पर लगाई पाबंदी के काल में पाबंदी उठाने के प्रयासों में श्री टी. व्ही. आर. वेंकटरामशास्त्री तथा श्री. ग. वि. केतकर इनका बहुत मौलिक योगदान रहा। ऐसे कितने लोग• हैं कि समयसमयपर जो संघ के समर्थन में खड़े रहे।

ऐसे साथियों को आप क्या कहेंगे? वे शत्रु नहीं, प्रकट मित्र भी नहीं हैं। हैं तो तटस्थ, किन्तु उनकी तटस्थता कुछ सावधानियों के साथ उपकारक

• पुरुषोत्तमदास टंडन, पं. मदनमोहन मालवीय, कन्हय्यालाल मुन्शी, डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, देवेंद्रनाथ मुखर्जी, बॅ. मुकुंद जयकर, प्रेमनाथजी डोग्रा, बॅ. छगला, न्या. हिदायतुल्ला, वालचंद हिराचंद, ग. त्र्यं. माडखोलकर, रविशंकर शुक्ला, भाई परमानंद, डॉ. गोकुलदास नारंग, प्रतापसेठ, बाबू पद्मराजजी जैन, वरदराजलू नायडू, मन्मथ पद्मनाभन्, रत्नसभापति मुदलियार, सर्वोत्तम राव (कालिकत), Senior Raja of Nilambur, व्ही. के. पारीख (कोचीन), जॉल गिमी (नागपुर), दादासाहेब गोळे (अकोला), पांचलेगावकर महाराज, केदारनाथजी (गुवाहाटी), गोपाळ बरुआ (तिनसुकिया), ब्रिजलालजी बावरा (तिनसुकिया), नागेश्वर बाबू (दरभंगा), राजगुरू गंगाप्रसाद, तात्यासाहेब करकरे, म. श्री. पटवर्धन, गोपाळराव ओगले, कर्मवीर पाठक (भंडारा), दिनकरशास्त्री कानडे (बुलढाणा), रेवारामजी कवाडे, वामनराव गोडबोले, गोवर्धनजी (बिलासपुर), डॉ. निमिषे (रायपुर), शिवकुमार वाजपेयी (राजनांदगाव), नारायणराव घोंगे (इंटक), महमदअली (इंटक), जी. एम्. खोडे (इंटक), रा. बा. कुंमारे (हँडलूम वीव्हर्स कॉंग्रेस), जनरल मंचरशा अवारी इब्राहिम (चांदा) जिलानी, भैयासाहेब बोबडे, ॲड. मंडलेकर, गोपाळराव देव, भाऊसाहेब वैद्य।

सिद्ध हो जाती है। ऐसे उपकारक तटस्थता रखने वाले व्यक्तियों का दायरा विस्तृत करना अपने कार्य के लिए बहुत ही उपयुक्त रहता है। ये लोग हमारे संगठन में बाधा निर्माण करने वाले तत्त्वों से, हमारा बाड जैसे रक्षण करते हैं। लेनिन ने ऐसे विस्तृत संपर्क क्षेत्र के लिए उचित नाम दिया है, 'A zone of benevolent neutrality'. उसका महत्त्व भी उन्होंने विस्तार से बताया है। यह तो निश्चित है कि प्रकट रूप में कार्य करने की अनुकूलता निर्माण होने के बाद ऐसे लोग अपने अच्छे कार्यकर्ता बन सकते हैं। इसका मतलब है संगठन जब अल्पवयीन होता है तो ऐसी उपकारक तटस्थता रखने वाले लोगों से, बाड के रूप में उसका रक्षण होता है और संगठन जब बड़ा हो जाता है तब बड़े वृक्ष जैसे वह अन्यान्य वही लोगों का आसरा बन जाता है।

■ कार्यविस्तार में नीचे-ऊपर संपर्क की सावधानी

संगठन के विस्तार में यह हमेशा संभव रहता है कि संगठकों के अन्यान्य स्तरों में नीचे से लेकर ऊपर तक आपस में जो संबंध संपर्क रहना आवश्यक है वह कम हो जाता है। एक दूसरे के विचारों का परामर्श, आपस में लेन-देन कम हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप संगठन की तत्परता से चलने की क्षमता mobility और संवेदनशीलता sensitivity कम हो जाती है। हमारे संगठन की कितनी भी वृद्धि हो, विस्तार हो, संगठन के विविध घटकों का ऊपर और नीचे दोनों बाजू से जो संपर्क रहता है, जो प्रतिसादी मानस responsive mind रहता है वह कभी क्षीण नहीं होना चाहिए ताकि हमें परिस्थिति की अच्छी जानकारी रहे। जीवसृष्टि की उत्क्रांति-प्रक्रिया में जो छोटी जीवपेशियाँ रहती हैं वे प्रतिजबाबी और तत्पर (responsive and mobile) रहती हैं, लेकिन जो बृहत् स्वरूप के सस्तन प्राणी होते हैं, वे अपनी प्रतिसादी क्षमता और तत्परता खो बैठते हैं। वे सुस्त हो जाते हैं। अब इसी के परिणामस्वरूप जो छोटे कीटक, चीटियाँ और प्राणी होते हैं वे ऐसे बड़े सस्तन प्राणियों को आसानी से काट सकते हैं। खा सकते हैं। क्योंकि वे अपनी प्रतिजबाबी तत्परता से हिलने की क्षमता खो बैठते हैं।

उत्क्रांति प्रक्रिया का यह उदाहरण अपनी कार्यवृद्धि में सावधानी रखने के लिए हमें निरंतर ध्यान में रखना है। संगठन ऊपर से लेकर नीचे तक अखंड संवेदनशील रहेगा यह प्रयास आवश्यक है। यह नीचे-ऊपर दोनों तरफ संपर्क रखने की बात हमारे संगठन के लोकतांत्रिक मानसिकता का भी (democratic ethos) परिचय देती है।

■ संगठन का आधार–पारिवारिक भाव

आज देश में लोकतांत्रिकता का जो वायुमंडल है, उसमें यह दिखाई देता है कि लोकतंत्र के नामपर अनुशासनहीनता फैल रही है। दूसरी ओर अनुशासन का अर्थ तानाशाही ऐसा किया जाता है। अपने संगठन में हम ये दोनों सीमाएँ (extremes) टालके पारिवारिक संबंधों के आधार पर सभी गतिविधियों का व्यवहार करते हैं। अन्य संगठनों में पारिवारिक भावना यह कल्पना भी व्यर्थ मानी जाती है।

संघस्थान पर होनेवाला संस्कार पारिवारिक आत्मीयता से होता है और संघकार्य इस पारिवारिक भावनापर ही अधिष्ठित है। इस पारिवारिकता का आविष्कार संघस्थान पर तो होता है ही, लेकिन स्वयंसेवकों के निजी जीवन में भी उसका अनुभव वे करने लगते हैं। संघशाखा तो कोई क्रीडामंडल या शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र नहीं है। शाखा की संस्कार प्रक्रिया में बुनियादी बात है, व्यक्तिगत संपर्क की। इस दृष्टि से एक घंटा खेलने के लिए या व्यायाम के लिए आए, नियत कार्यक्रम किए और वापस चले गए, इतना ही स्वयंसेवकों का व्यवहार नहीं रहता। 'शाखा पर आने वाले सभी स्वयंसेवकों में एक दूसरे के प्रति व्यक्तिगत मित्रता का और सौहार्द का भाव विकसित हो' ऐसा व्यवहार संघ की कार्यपद्धति में विकसित किया है। उसके माध्यम से ही सभी स्वयंसेवकों में एक पारिवारिक भाव पैदा होता है। एक दूसरे की व्यक्तिगत समस्या, कुछ कठिनाई जैसे सुलझाने का प्रयास होता है वैसे ही एक दूसरे के जीवन के आनंद के प्रसंगों में भी स्वयंसेवक शामिल होते हैं और आनंद दुगुना करते हैं। तो दैनंदिन शाखा व्यवहार से न केवल व्यक्तिगत गुणों का विकास होता है बल्कि समाज की एकात्मता का अनुभव देने वाला पारिवारिक भाव भी विकसित होता है।

ऐसे व्यक्तिगत संपर्क से जो पारिवारिक भाव निर्माण होता है उसका और उसीके साथ कार्यपद्धति का सही परिचय देने वाला एक बहुत ही उद्बोधक सूत्र पू. गुरुजी ने अपने एक पत्र में दिया था। मैं स्वयं उस पत्र का वाहक तथा साक्षी भी रह चुका हूँ।

मैं जब पहली बार प्रचारक के नाते मद्रास गया तब जनार्दनजी चिंचाळकर जैसे एक दो कार्यकर्ताओं के साथ उधर के एक गणमान्य महानुभाव श्री व्ही. राजगोपालाचारीजी से मिलने गया। संघ के बारे में बातें शुरू हुई। उन्होंने प्रश्न पूछा कि 'तुम्हारे इस संघ का R.S.S. का कुछ संविधान है? कुछ रचना है? What type of organisation is it? Is it political party or

a social organisation or a trade union?' यह किस प्रकार का संगठन है? राजनीतिक दल या सामाजिक संगठन है, या मजदूर युनियन है? मैं भी तो प्रचारक के नाते पहली बार गया था। जादा सूझबूझ नहीं थी। तो मैं इस सवाल का ठीक तरह से जवाब न दे सका और उनका समाधान न कर सका। फिर संघ शिक्षा वर्ग के लिए नागपुर आने के बाद पू. गुरुजी से बात हुई। उन्होंने श्री राजगोपालाचारीजी के लिए एक छोटासा पत्र दिया। मुझे अचरज हुआ। मेरा ख्याल ऐसा था कि अब पू. गुरुजी एक लंबा पत्र लिखकर उसमें संघ के बारे में विस्तार से विवरण करेंगे। मैंने पत्र तो पहले पढ़ा नहीं था। फिर जब श्री राजगोपालाचारी ने वह पत्र पढ़ा, तब कहा, 'मैं समझ गया, अब आप के कार्यक्रमों में सम्मिलित होने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।' बाद में मैंने पत्र पढ़ा तो मेरे मन का विस्मय बढ़ गया। उस छोटे से पत्र में संक्षेप में संघ शिक्षा वर्ग के समापन कार्यक्रम की जानकारी दी थी और आखिरी हिस्से में संघ के बारे में केवल एक ही वाक्य था, ''Ours is a Hindu Family Organisation; the difference lies not in type but in degree!'' हमारा तो हिंदू पारिवारिक संगठन है, फर्क केवल अंशात्मक ही है, गुणात्मक नहीं। मुझे बहुत अचरज हुआ, केवल एक वाक्य में पू. गुरुजी ने संघ के स्वरूप का, प्रकार का जो विवरण किया उससे श्री. राजगोपालाचारीजी के What type of organisation is it? इस प्रश्न का समाधान हो गया। इसमें जो तथ्य हमारे सामने आता है वह यह है कि संघ की रचना, कार्यपद्धति आदि सभी पहलुओं का चयन एक पारिवारिक व्यवस्था के अनुसार होता है। हमने प्रारंभ से ही यह कहा है कि हमारे संगठन का आधार पारिवारिकता है। हम संविधान को प्रमुख स्थान नहीं देते। जो संस्थाएँ केवल संविधान के आधार पर खड़ी रहती हैं, वे ज्यादा कर के संविधान के ही बोझ के नीचे दबकर खत्म हो जाती हैं। परिवारों में लिखित संविधान नहीं रखे जाते लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि परिवार में कुछ व्यवस्था होती ही नहीं। ऐसा तो होता नहीं कि जिन्हें दफ्तर जाना है वे रसोईघर में बैठे हैं और जिन्हें रसोई बनानी है वे दफ्तर जा रही हैं। वहाँ भी व्यवस्था होती है। हरेक व्यक्ति अपना नियत कार्य करता रहता है; तथा यह व्यवस्था परिवार के सभी घटकों के सौहार्दपूर्ण, आत्मीयतापूर्ण संबंधों पर विकसित होती है और कार्यान्वित भी रहती है। हमारी संस्कृति में सदियों से समाज संगठन का प्राथमिक स्तर तो परिवार ही रहता आया है।

यह ठीक है कि संघ में भी उसकी जो व्यवस्था चलती आई थी उसको नाममात्र के लिए शब्दांकित करके कहा, 'यही हमारा संविधान है।'

इस संदर्भ में भाषा का व्याकरण सिद्ध होने की जो प्रक्रिया रहती है उसका उदाहरण हम देख सकते हैं। जैसी भाषा चलती आती है उसीके मुताबिक व्याकरण बनता है। पहले व्याकरण का निर्माण हो, बाद में उसकी चौखट में बैठनेवाली भाषा का निर्माण हो यह गलत प्रक्रिया है। भाषा का प्रारंभ तो बोलने के प्रयोग में से ही होता है और बोलते बोलते ही उसका स्वाभाविक विकास भी होता रहता है। फिर खोजा जाता है कि इसके विकास के नियम क्या हैं, संकेत क्या हैं। उन नियमों के मेल को ही 'व्याकरण' कहते हैं। ठीक इसी ढंग से संघ का संविधान बना है। इसमें नई बात कुछ थी ही नहीं। इसलिए हम कागज पर उतारे हुए संविधान को प्रमुख स्थान नहीं देते। संविधान तो एक प्रकार का वस्त्र मात्र है, प्राण या आत्मा नहीं है।

फिर भी परिवार में जैसी व्यवस्था तो होती ही है वैसी ही अन्यान्य स्तरों के स्वयंसेवकों से विस्तृत तथा व्यक्तिगत रूप से घनिष्ठ संपर्क बनाए रखने हेतु कुछ व्यवस्था की आवश्यकता होती है, और वह है गटपद्धति। हमारा स्वयंसेवक कार्यकर्ता अधिक से अधिक स्वयंसेवकों के साथ व्यक्तिगत संपर्क रखे, उनके विचार तथा भावनाओं की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करे इसी हेतु संघ ने गटनायक पद्धति की योजना की है। हमारा काम मनुष्यों का संगठन करना है, उसमें हमारा संबंध मनुष्यों के साथ आता है, तो स्वाभाविक है कि संपर्क की शृंखला विकसित करने के लिए गटपद्धति की योजना अनिवार्य है। गटनायक यह इस शृंखला की आखिरी कड़ी है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह गटनायक केवल संघशाखा के लिए गटनायक हो ऐसी कल्पना नहीं है बल्कि आगे चलकर वह आसपास की पूरी बस्ती का भी गटनायक हो और उसी दृष्टि से उस बस्ती के साथ भी उसका घनिष्ठ संबंध सतत संपर्क के माध्यम से विकसित हो यह भी योजना है।

■ पारिवारिक अनुशासन

ऐसे पारिवारिक संपर्क संबंधों के आधार पर ही संगठन के लिए आवश्यक जैसी अनुशासन की प्रक्रिया स्वाभाविकता से कार्यान्वित होती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो पारिवारिक संपर्क-संबंध यह जैसे अपने संगठन की विशेषता है वैसे ही हमारा अनुशासन यह भी हमारे संगठन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

हम कहते हैं कि हमारा एक पारिवारिक संगठन (Family Organisation) है। तो एक तरह से सर्वसाधारण भाषा में कहें तो परिवार में जैसा अनुशासन रहता है वैसा अनुशासन विकसित करने का हम प्रयास करते हैं। ऐसे पारिवारिक अनुशासन में न कोई आदेश देने वाला होता है, न तो कोई आदेश पाने वाला होता है। हम चाहते हैं कि हमारे ज्येष्ठ अनुभवी कार्यकर्ताओं के संपर्क में स्वयंसेवक आए और ये कार्यकर्ता अपनी समझदारी से इन स्वयंसेवकों की समझदारी बढ़ाए। हम क्या हैं? कार्यकर्ता की निजी परिस्थिति क्या है? चारों ओर की सामाजिक स्थिति क्या है और हम संगठन के द्वारा क्या करने निकले हैं? यह सब बातें समझने और समझाने से कार्यकर्ता की अपने कार्य के बारे में समझ बढ़ती है और वह स्वाभाविक रूप से अनुशासित हो जाता है, यह प्रक्रिया अपेक्षित है।

लेकिन यह सब करने में, होने में कुछ समय लगना तो स्वाभाविक है। इसलिए जब तक स्वयंसेवकों की समझदारी पर्याप्त मात्रा में नहीं बढ़ती, तब तक ज्येष्ठ कार्यकर्ता को कुछ आदेश देना पड़ता है और यह अपेक्षा रहती है कि उस का पालन किया जाए।

किन्तु फिर इसी बात को दोहराना आवश्यक है कि अनुशासन की वास्तविक गॅरन्टी तो स्वयंसेवकों की समझदारी में है, संवैधानिक व्यवस्था में नहीं है। हम कार्यकर्ता को समझें, कार्यकर्ता हमें समझे, और दोनों मिलकर परिस्थिति को समझने का संयुक्त प्रयास करें। कार्यकर्ता अगर ऊपरसे आए आदेशों का केवल मशीन जैसा पालन करेगा, तो वह हमारी पद्धति की असफलता होगी। अच्छा कार्यकर्ता वही है जो अपने मस्तिष्क से सोचे, विचार करे, और वही करे जो अपने कार्य के लिए अनुशासनवश उसे करना आवश्यक है।

और समझदारी का मतलब केवल शैक्षिक (academic) समझदारी नहीं। लौकिक जीवन में व्यक्ति की समझदारी ज्यादा करके उसकी औपचारिक शिक्षा से नापी जाती है। लेकिन न वह शिक्षा से बढ़ती है या न वह शिक्षा के बिना अविकसित रहती है। आइन्स्टाइन, रवींद्रनाथ जैसे अनेक प्रतिभासंपन्न महानुभावों का उदाहरण है जो औपचारिक शैक्षिक प्रणाली में (formal education) ज्यादा आगे बढ़ नहीं सके।

यह मशीन जैसे आज्ञा का पालन करने की जो बात होती है उस संदर्भ में और एक सतर्कता बरतनी पड़ती है। ऊपर से आज्ञा देने वाले के मन में, विचार में केवल संगठन के, राष्ट्र के हित की ही भावना होनी चाहिए और वह भी बिल्कुल अहंकाररहित होनी चाहिए। आज्ञा देते समय अगर उसके मन का

अहंकार का भाव आज्ञा में मिलाया जाए तो उस आज्ञा के पालन की अपेक्षा का संदर्भ ही बदल जाता है और अनुशासन की अवधारणा को केवल व्यक्तिगत आयाम प्राप्त होता है। दूसरी ओर आज्ञा पाने वाले के मन पर भी संगठन के हित की भावना का बोझ रहता है। आज्ञा के संदर्भ में आज्ञा देने वाले के मन की अहंकारयुक्त गलत धारणा महसूस होने पर भी इस बोझ के कारण वह आज्ञा का पालन करता ही रहता है। संगठन की दृष्टि से ये दोनों पक्षों की धारणा इष्ट नहीं है। इससे आज्ञा देने वाले का अहंकार पुष्ट हो जाता है और उसके व्यवहारों में मनमानी को अवसर मिलता जाता है। आज्ञा पाने वाला लगन से आज्ञा को अपनाते हुए आज्ञा का पालन नहीं कर सकता है। तो यह अनुशासन केवल शब्दनिष्ठ, यांत्रिक तथा निर्जीव होता है। यह भी धोखा अपनी पद्धति में टालना आवश्यक है।

अनुशासन और कार्यकर्ता के अपने विचार, इनमें कोई अंतर न रहे ऐसा हम क्यों कहते हैं? ऐसे अनुशासन के सूत्र पर हम हमारी कार्यपद्धति में जोर क्यों देते हैं?

इसका कारण है कि हम लोग केवल एक छोटा सा समूह या टोली तैयार नहीं कर रहे हैं। अन्य बहुत सारी संस्थाएँ व्यक्तिप्रधान होती हैं। बस्स! एक व्यक्ति के बड़प्पन के लिए संस्था चलती है। एक नेता, अन्य सब अनुयायी होते हैं। एक आदेश देता है और अन्य सब उसका पालन करते हैं। हम इस प्रकार से व्यक्तिप्रधान संस्था बनकर कार्य नहीं करना चाहते और न कोई छोटा सा समूह बनाना हमारा उद्देश्य है। हमारा उद्देश्य है, देशव्यापी संगठन खड़ा करना और वह भी ऐसे व्यक्तियों का संगठन जिनमें सोचने, समझने, कार्य करने और समाज को नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता है। ऐसे ही कार्यकर्ताओं का बहुत बड़ी संख्या में निर्माण करना यह हमारी कार्यपद्धति का उद्दिष्ट है।

जब मनुष्य में चिंतन करने की क्षमता, कार्य करने की कर्मठता एवं नेतृत्व प्रदान करने का सामर्थ्य विकसित होता है तो आगे चलकर उसमें अपनी बुद्धि से काम करने की क्षमता या व्यक्तिगत पहल (individual initiative) स्वाभाविक रूप से निर्माण होता है और वह आवश्यक भी है। ऐसी कुछ ना कुछ स्वयंप्रेरणा कार्यकर्ताओं में विकसित हुए बिना संगठन निर्माण भी नहीं होगा या बढ़ेगा भी नहीं। लेकिन इसमें एक खतरा संभवनीय है। व्यक्ति की ऐसी स्वयंप्रेरणा इतनी बढ़ जाती है कि अनुशासनहीनता निर्माण होकर संगठन को ही हानि पहुँचती है। दूसरी तरफ प्रश्न उठता है कि फिर अनुशासन कितना होना आवश्यक है?

तो यह इतना अधिक और यांत्रिक भी नहीं हो कि किसी की स्वयंप्रेरणा से काम करने की प्रवृत्ति ही क्षीण हो जाए। और उसकी जकडबंदी हो जाए। हमारा अभीष्ट यह होना चाहिए कि संगठनात्मक अनुशासन तथा स्वयंप्रेरणा, दोनों का सुंदर समन्वय बना रहे।

'सुंदर समन्वय' सुनने में बड़े अच्छे और सरल शब्द हैं, किन्तु समझने में उतने ही कठिन हैं। किसी भी विचार के शब्द (letter) और भाव (spirit) दोनों को समझना आवश्यक है। उसके बिना काम नहीं चलता। केवल शाब्दिक अर्थ अधूरा होता है और केवल भाव का समझना भी पर्याप्त नहीं रहता है। हमारे हायस्कूल की संस्कृत की पुस्तक में ''तात्पर्यान् अनवेक्षिणाम् भृत्यानाम्'' इस शीर्षक की कहानी थी। उसका अर्थ किसी भी बात के भाव को न समझने वाले नौकरों की कहानी। साप्ताहिक बाजारों में या हाटों में, गाँवगाँव जाकर कपड़ा बेचने वाले व्यापारी के नौकरों की कहानी है। एक दिन वह व्यापारी ज्वर के मारे हाट में नहीं जा सकता था। नौकर बड़े विश्वसनीय और आज्ञाकारी थे। उनपर इन्होंने यह काम सौंप दिया। वे बाहर निकलनेवाले थे तभी वर्षा का संभव दिखाई दे रहा था। तो व्यापारी ने उनसे कहा, 'देखो, ख्याल रखना, कपड़े के थैलों को पानी नहीं लगना चाहिए, थैलों को वर्षा से बचाना।' अब रास्ते में बारिश शुरू हुई। आसपास में कुछ आसरा नहीं दिखाई देता था। नौकर तो आज्ञाकारी थे। अब वे सोचने लगे कि स्वामी की आज्ञा है, थैलों को वर्षा से बचाना। तो एक दूसरे की सलाह से, आज्ञा के शब्दों के अनुसार उन्होंने थैलों को बचाया। दोनों ने झटपट थैलों से कपड़ा निकाल कर थैलों के ऊपर लपेट दिया। अब कितनी भी वर्षा होने पर भी थैले भीग नहीं सकते थे। आज्ञा का शब्दश: पालन हो गया, अर्थात् कपड़ा भीग गया और थैले बच गए। आज्ञा का भाव (spirit) नौकरों ने ध्यान में नहीं लिया।

तो संगठनात्मक अनुशासन और स्वयंप्रेरणा इनका सुंदर समन्वय जैसे विषयों का मतलब ध्यान में लेते समय, शब्द और भाव (letter and spirit) दोनों का ख्याल रखना आवश्यक होता है।

इस प्रकार की अनुशासन की कल्पना अन्य संस्थाएँ तथा सर्वसाधारण समाज इनकी कल्पना के भी अतीत होने के कारण संघ की अनुशासन कल्पना के बारे में कुछ अपवाद छोड़कर बहुतही गलतफहमियाँ दूरसे देखनेवाले लोगों के मन में पैदा होती हैं। क्योंकि साधारण तौर पर अनुशासन माने discipline यह धारणा मन में रहती है और discipline यह अवधारणा फौजी मानसिकता,

जकड़बंदी regimentation के रूप में देखी जाती है। वास्तव में तो यह धारणा गलत है। Discipline यह शब्द disciple माने शिष्य इस शब्द से सिद्ध होता है, और वह मूलत: आध्यात्मिक क्षेत्र से आया है। एक शिष्य का अपने गुरु के प्रति जो भाव रहता है उसे discipline कहते हैं।

हमारे यहाँ भी प्राचीन काल से अनुशासन इस शब्द का प्रयोग इसी संदर्भ में होता आया है। गुरु के घर पूरी शिक्षा प्राप्त करने पर शिष्य जब अपने घर चल निकलता है तब वह अपने आचार्य से जो उपदेश, जो वर्तनसूत्र पाता है, उसको एक उपनिषद में 'इदं अनुशासनम्' ऐसा ही कहा है। उसमें कहा गया है कि जो सिद्धान्तरूप धर्म है, उसी के अनुसार जीवनव्यवहार करो, सत्य का अनुसरण करो आदि। लेकिन विशिष्ट प्रकार से ही शिष्य का वर्तन रहना चाहिए ऐसा आग्रह नहीं किया है, जिसे अंग्रेजी में rigidity बोलते हैं। केवल इतना ही कहा है, 'हमारे शास्त्रों ने हर व्यवहार के बारे में सही मार्गदर्शन किया है, वह ध्यान में लो। कुछ समस्या उत्पन्न हुई तो अपने जो श्रेष्ठ, नि:स्वार्थ, तप:पूत विद्वान हैं, वे ऐसे प्रसंगों में जैसा बर्ताव करते हैं वैसाही बर्ताव करो। कोई विशिष्ट नियमावली नहीं बनाई है। अपनी अपनी बुद्धि की स्वतंत्रता मान ली है और उस स्वतंत्रता का, भौतिक शाश्वत सिद्धान्तों से समन्वय करने का अनुरोध किया है उसीको अनुशासन कहा है। यहाँ तक कि उन्होंने कहा है कि *'यानि यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।'* (तैत्तिरीय उपनिषद-शिक्षावल्ली) 'हमारा भी पूर्णरूपेण अनुकरण मत करो। हमारे जो अच्छे काम हैं उनका अनुकरण करो; किन्तु हमारे अन्य कार्यों का अनुकरण नहीं करना।

इसमें अनुशासन के दो आयाम सामने आते हैं। एक, आदेश का व्यक्तिगत पालन और दूसरा, सब मिलकर एक साथ सूत्रबद्ध होकर, शाश्वत मौलिक सिद्धान्तरूप धर्म का पालन याने समष्टिरूप पालन। हमारी अनुशासन की कल्पना में व्यक्तिस्वातंत्र्य और समष्टि-हित इन दोनों का संतुलित एवं समन्वित आशय है। व्यक्ति की अपनी बुद्धि, प्रकृति, अभिरुचि इन सभी के साथ उसका स्वतंत्र अस्तित्व मान लिया है। हरेक व्यक्ति को अपने अपने प्रकृतिधर्म के अनुसार अपने जीवन का विकास और उत्कर्ष करने के लिए प्रोत्साहित करना यह भी हमारा कर्तव्य माना गया है। लेकिन व्यक्ति ने अपना विकास करते समय निजी व्यक्तिमत्त्व का ही अहंकार न रखते हुए समष्टि का गौरव मन में रखना चाहिए और उस गौरव की भावना से एकात्म होकर ही, अपनी व्यक्तिगत गुणसंपदा राष्ट्रहित की सीमा में, समष्टि धर्म के लिए सुसूत्रता से विकसित करके उपयोग में लानी है,

यही हमारी अनुशासन की अवधारणा है। इसके बिना बाकी जो कुछ है वह केवल दासता निर्माण करने वाली ही बात है।

इसी अनुशासन के भाव का एक बहुत ही सुंदर तथा उद्बोधक उदाहरण भगवद्गीतारूप श्रीकृष्णार्जुन संवाद में हमारे सामने आता है। महाभारतीय युद्ध के प्रारंभ में ही अर्जुन के मन में संभ्रम पैदा हुआ कि, 'मैं युद्ध करूँ या न करूँ ?' दोनों तरफ से पाप तो होगा ही। तो उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से कहा :

यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ (भ.गी. २.८)

'मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। तो फिर लड़ना या न लड़ना इसमें श्रेयस्कर क्या है इस बारे में मुझे निश्चित बताईये।' भगवान ने वैसा कोई निश्चित बताया तो नहीं। उसके बदले जिन कारणों से अर्जुन के मन में भ्रम पैदा हुआ था, उन कारणों के तर्क की चर्चा करना शुरू किया और उन्हीं का समाधान वे करते रहे। ऐसे होते होते प्रश्नोत्तर चलते रहे और अठारह अध्याय पूरे हो गए। इतनी चर्चा करके अर्जुन को समझाने पर भी आखिर में भगवान क्या कहते हैं – 'अब तक जो तुझे बताया है उसके सभी पहलुओं को ध्यान में लेकर गहराई से विचार करो और फिर तुम्हारी जैसी इच्छा रहेगी, जैसा तुम्हें योग्य लगे वैसाही करो।'

''विमृश्येतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।'' (भ.गी. १८.६३)

माने इतनी चर्चा करने पर भी अर्जुन को निश्चित आदेश तो नहीं दिया और निर्णय उसपर ही छोड़ दिया। लेकिन अब इतना सारा होने तक अर्जुन की समझदारी भी बढ़ गई थी। और उन्होंने गीता के अंतिम भाग में कहा

नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेह: करिष्ये वचनं तव॥ (भ.गी. १८.७३)

याने, हे अच्युत, तेरी कृपा से अब मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे मेरे कर्तव्य का भान प्राप्त हुआ, मेरे मन के सभी संदेह हट गए और अब तुम जो कुछ कहोगे, वही मैं निश्चित रूप से करूँगा।

यह विचित्र अनुशासन का ढंग दुनिया में कहीं और देखने को मिल सकता है क्या? भारत के अनुशासन का आदर्श है, शिष्य की समझदारी का स्तर

ऊपर उठाना कि जिससे शिष्य सही मार्गपर चल सके। जैसी जैसी समझदारी बढ़ेगी वैसे ही अनुशासन बनता रहेगा। सैनिकी अनुशासन से काम नहीं होता है। इसमें व्यावहारिक बंधन भी हो सकते हैं। यह तो सही है हममें से ना कोई कृष्ण है, ना कोई अर्जुन। हम सभी जैसे हैं वैसे ही मानने में कोई आपत्ति तो नहीं है। फिर भी इस उदाहरण का जो मर्म है, भावार्थ जो है वह तो हमारे ध्यान में आता है कि कार्यकर्ताओं की समझदारी बढ़ाने की आवश्यकता है और आदर्श क्या है यह भी हमारे ख्याल में आना अपेक्षित है।

अब जितनी मात्रा में हम कृष्णार्जुन से नीचे हैं, उतनी मात्रा में इस समझदारी के व्यवहार का हमारा स्तर भी नीचा रहेगा। इसी के कारण कुछ नियम, कुछ व्यवस्था बनानी पड़ती है। वरना व्यवस्था की वैसी आवश्यकता नहीं। आखिर अनुशासन क्या है? वह तो कई संवैधानिक बात नहीं है। कार्यकर्ता की समझदारी यही अनुशासन है। और हमारा प्रयास तो, अनुशासन शतप्रतिशत कैसे रखा जा सकता है, इस दृष्टि से कार्यकर्ताओं की तैयारी करना यही रहता है। इसके लिए कुछ व्यवस्था आवश्यक रहती है। कोई कहेगा इसमें क्या कठिनाई है? हमारी व्यवस्था में अधिकारियों के जो आदेश होंगे उनका पालन किया जाएगा। यह तो ठीक है। इस सूत्र में लोग काम भी करेंगे। यह भी ठीक है कि आज का तथाकथित progressiveness, जिसमें ऊपरसे आए आदेश की अवहेलना करना एक फॅशन है, हमारे यहाँ नहीं है। हम ऐसे progressive बनने को तैयार नहीं है, परंतु केवल इस प्रकार ऊपर से आए आदेश के लिए ही काम करने से गुणात्मकता कम होने का खतरा भी है। स्वयं अनुभव न कर पाने की स्थिति में कार्य के प्रति तन्मयता भी घटती है। अनुशासन वास्तव में उत्तम वही है जिस में आपस में अच्छी समझ हो।

विभिन्न कार्यों का संचालन करने वाले नेताओं में प्राय: एक ऐसी शैली रहती है कि अपने मन में कार्य की दिशा निश्चित होने के पश्चात् उस विषय में अपने अनुयायियों को बताना और मार्गदर्शन का औचित्य समझने की क्षमता उन अनुयायियों में न रही तो भी तदनुसार उन्हें कार्य करने का आदेश देना। उस शैली के फलस्वरूप तात्कालिक कार्य ठीक ढंग से सम्पन्न हो सकता है, और शायद श्रद्धा के कारण लोगों में भी यह भाव निर्माण नहीं होता कि हमारे ऊपर यह निर्णय थोंपा जा रहा है। किन्तु अनुयायियों में स्वयं विचार करने तथा ठीक निष्कर्ष पर पहुँचने की क्षमता इस शैली के कारण निर्माण नहीं हो पाती।

पूर्णरूपेण ध्येयवादी, आत्मसमर्पित, निरहंकारी नेता किसी भी परिस्थिति में उचित निर्णय कर सकता है। फिर भी सब को विश्वास में लेकर अपना निर्णय उनकी सलाह का परिणाम है यह भावना कार्यकर्ताओं के मन में निर्माण कर सकता है। अपने निरहंकारी जीवन और व्यवहार कुशलता से संगठन में ऐसा वायुमंडल निर्माण कर सकता है जिसके कारण किसी को यह अनुभव ही न हो कि इस एक व्यक्ति के हाथ में बहुत बड़ी शक्ति केंद्रित हो गई है। फिर उस शक्ति का अस्तित्व किसी को चुभेगा नहीं, अखरने की बात तो दूर ही रही।

इस दृष्टि से नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता की शैली कैसी होनी चाहिए, इसका आदर्श पू. डॉक्टरजी के व्यवहार सूत्रों से हमें प्राप्त होता है। उनकी अपनी विशिष्ट कार्यशैली थी। संघ के ध्येय आदि अपरिवर्तनीय विषयों की बात अलग है। उसके बारे में समझौते का प्रश्न ही नहीं था। वे जानते थे कि 'समझौता केवल छाता होता है, छत नहीं।' कार्यपद्धति की बात ही अलग थी। उसके बारे में ऐसी स्थिति थी कि अपनी कोई भी पूर्वचिंतित तथा पूर्वनियोजित बात यदि वे सब के सामने सीधे रखते तो सभी उसको श्रद्धा से, सहर्ष स्वीकार करते, किन्तु उन्होंने ऐसा कभी नहीं किया। हर विषय में उचित निर्णय हो, यह चिंता तो उन्हें अवश्य थी, किन्तु वे सोचते थे कि किसी भी विषय में पहले ही स्वयं अपना मत प्रकट न करके सहयोगियों की समझदारी का स्तर इतना उँचा किया जाए कि वे स्वयं अपने ही विचार से अभिप्रेत निर्णय पर पहुँच सके, फिर यह प्रक्रिया पूरी होने में भले ही विलम्ब हो जाए। डॉक्टरजी का विचार था कि उतनी देर प्रतीक्षा करना अधिक लाभदायक होगा, बजाय इसके कि अपना विचार कार्यकर्ताओं पर और सहयोगियों पर थोंपा जाए। इस शैली के लिए धीरज और इस आत्मविश्वास की भी आवश्यकता थी कि धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप में मैं अपने सहयोगियों को अपने निष्कर्ष पर ले आऊँगा।

इस संदर्भ में बहुतही मार्गदर्शक उदाहरण है। संघ का प्रारंभ तो १९२५ के विजयादशमी के शुभ अवसर पर हुआ। किन्तु इस कार्य का नामकरण १७ जुलै १९२६ को हुआ। इसके लिए हुई बैठक का जो वृत्तान्त प्राध्यापक पां. कृ. सावळापूरकरजी ने बाद में दिया है, वह बहुत ही उद्बोधक है। बैठक में संघ के नाम के विषय के बारे में तीन सुझाव आए। भारतोद्धारक मण्डल, जरीपटका मण्डल और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। बैठक में २७ स्वयंसेवक उपस्थित थे। उनमें

से बहुत सारे स्वयंसेवकों की उम्र तो बीस वर्ष से भी कम होगी। लेकिन पू. डॉक्टरजी ने सभी को खुली चर्चा करने का अवसर दिया। प्रा. सावळापूरकर ने भी आधा घंटा भाषण किया और बाद में सब की सहमति से तीसरा नाम याने 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' यह स्वीकृत किया गया। प्रा. सावळापूरकर ने बताया है कि इस नाम के पक्ष में उन्होंने जो विचार रखे थे उनके बारे में पहले उनकी पू. डॉक्टरजी के साथ कुछ भी चर्चा नहीं हुई थी, यद्यपि डॉक्टरजी ने संस्था का नाम अपने मन में पहले ही निश्चित किया हुआ था। फिर भी पू. डॉक्टरजी से हरहमेशा जो संपर्क संवाद होता रहता था, उसीसे सावळापूरकरजी के मन में संघकार्य के संदर्भ में जो संस्कार हुए थे, जो समझदारी बढ़ी थी, उसी के आधार पर उन्होंने इस बैठक में अपने विचार रखे थे। तो प्रथम अपने साथियों की समझदारी का स्तर बढ़ाना और फिर सम्बन्धित विषय चर्चा के रूप में लाना ताकि निर्णय अभिप्रेत ऐसा ही ठीक ढंग से हो यह पू. डॉक्टरजी की कार्यशैली थी।

याने आदेश देने वाला और आदेश पाने वाला इनके बीच मानसिक सुसंवाद होना चाहिए तभी उसे अनुशासन कहा जाता है। आदेश पाने वाले को यह अंदाजा होना चाहिए, ऊपर से किसी एक विशिष्ट आदेश क्यों आया है। और अगर एकाध बार, समयपर यह बात उसके ध्यान में नहीं आई तो भी वह उस आदेश का पालन करेगा। इसके लिए न्यूनतम व्यवस्था होती है। इसमें यह मानसिकता विकसित होती है कि ऊपरसे आया हुआ जो आदेश होगा वह व्यापक परिप्रेक्ष्य में सर्वांगीण विचार करके ही लिया होगा। इस संदर्भ में अपने नेतृत्व पर पूरा विश्वास होना चाहिए। दूसरी तरफ नेतृत्व में भी पूरी तरह की पारदर्शिता होनी चाहिए। उनके भी सभी व्यवहार सामान्य कार्यकर्ताओं के लिए वस्तुपाठ बनकर रहेंगे इस दृष्टि से होने चाहिए। अनुयायियों से अनुशासन की अपेक्षा करने वाला ज्येष्ठ कार्यकर्ता भी स्वयं अनुशासन का पालन उचित ढंग से, समझदारी से, और पारदर्शिता से करता है। उससे ही परस्पर विश्वास के आधारपर सही अनुशासन विकसित होता है।

■ निर्णय प्रक्रिया के आयाम

और फिर केन्द्र में किसी भी तरह का और कौन सा भी निर्णय हो उससे कुछ मात्रा में फायदा और कुछ मात्रा में नुकसान भी तो हो सकता है। भगवान ने ही कहा है, 'सभी कार्य कुछ न कुछ दोषों से युक्त होते ही हैं। जैसे अग्नि प्रज्वलित करने के पहले धुँआँ तो होता ही है।' तो किसी भी निर्णय के साथ

उपलब्धियाँ तथा नुकसान आता ही है। अब निर्णय करते समय उन दोनों में सन्तुलित विचार करके ही निर्णय लेना आवश्यक होता है और ऐसा निर्णय लिया जाता है यह विश्वास कार्यकर्ताओं में भी बनाए रखना आवश्यक है।

केंद्रीय नेतृत्व ने स्थानीय परिस्थिति और जगह जगह के कार्यकर्ताओं की मानसिकता का ख्याल रखते हुए पूरे संगठन की दृष्टि से संतुलित निर्णय करना कैसे उचित तथा आवश्यक रहता है, इस संदर्भ में एक उदाहरण याद आता है। भारतीय मजदूर संघ की स्थापना के पूर्व भोपाल में एक बैठक हुई। अब, इस मजदूर संगठन का नाम, मैंने मेरे मन में, 'भारतीय श्रमिक संघ' ऐसा सोचा था और बैठक के लिए उसी नाम से साहित्य बनवाया था। बैठक में जब संगठन के नाम की चर्चा हुई, तब उत्तर के अनेक प्रांतों के कार्यकर्ताओं ने इस नाम का विरोध किया। उनका कहना था कि 'श्रमिक' शब्द का उच्चारण उत्तर में 'शरमिक' ऐसा किया जाएगा और वह शोभादायक नहीं रहेगा। अब क्या करें? उस बैठक में बंगाल के एक ज्येष्ठ कार्यकर्ता श्री बानर्जी उपस्थित थे। मैंने सोचा, बंगाल में 'श्रमिक' शब्द प्रचलित होने के कारण बॅनर्जीजी इस नाम को समर्थन देंगे और इस नाम का सब कार्यकर्ता स्वीकार करेंगे। इस हिसाब से मैंने सुझाव दिया, 'हमारे बीच सब से ज्येष्ठ कार्यकर्ता श्री बॅनर्जीजी हैं। तो वे इस नाम के बारे में जो कहेंगे, वह हम सब मान लेंगे।' लेकिन आश्चर्य की बात थी कि श्री बॅनर्जी ने कहा, 'हम एक राष्ट्रकार्य करने जा रहे हैं, तो सभी को साथ लेकर हमें आगे बढ़ना है। इसलिए किसी ने अपने ही मत का आग्रह नहीं रखना चाहिए। बंगाल में 'श्रमिक' शब्द चलेगा, लेकिन उत्तर के लोगों के लिए 'श्रमिक' शब्द में कोई आपत्ति होगी, तो सभी का विचार ध्यान में लेते हुए 'भारतीय मजदूर संघ' यही नाम उचित रहेगा।' और आखिर में 'भारतीय मजदूर संघ' यही नाम निश्चित हुआ।

अन्य संस्थाओं में हमने सुना भी है कि, 'हाँ, ठीक है। वे क्या अखिल भारतीय लोग हैं, अपने ivory tower हस्तिदंती मीनार में बैठे हैं। उनको क्या पता है कि नीचे हमारी क्या कठिनाइयाँ होती हैं।' अब वास्तव में अखिल भारतीय अधिकारियों को निम्न स्तर पर काम करनेवाले कार्यकर्ताओं की कठिनाइयाँ मालूम नहीं होंगी तो वह ऊपर के अधिकारियों का दोष है ही। वह इसका निदर्शक है कि संपर्क और संवाद की शृंखला ठीक नहीं है। अखिल भारतीय स्तर का निर्णय करना है तो हर जगह की सुविधा-असुविधा, हर जगह का सुखदुख, बलस्थान या कमजोरियाँ ऐसी सभी बातें ध्यान में लेते हुए संतुलित निर्णय होना

आवश्यक है। नहीं तो वह निर्णय lop sided एक तरफा हो सकता है। यह तो ठीक है। किन्तु ऊपर संपूर्ण परिस्थिति का विचार हो इसलिए भी line of communication संपर्क शृंखला की आवश्यकता है। हर तरह की जानकारी आवश्यक है। वैसे ही अपने यहाँ की स्थिति अन्य स्थानों से कुछ अलग सी है, यह जानकारी भी जगह जगह के विभिन्न कार्यकर्ताओं को यदि रही, तो मैं समझता हूँ, उनकी मानसिकता में, वृत्ति में अंतर आएगा और हर जगह की स्थिति अलग अलग होने के कारण सब जगह केंद्रीय निर्णय सुविधाजनक ही होगा ऐसा नहीं, यह भी वे मान लेंगे। उसके कारण कई ईकाइयों को तो असुविधा बरदाश्त करनी ही पड़ेगी। एकसूत्री निर्णय लेना है, अनुशासनबद्ध चलना है तो फिर कितना भी अच्छा निर्णय लिया तो भी सब के लिए सुविधाजनक हो नहीं सकता, यह समझदारी भी कार्यकर्ताओं में होना आवश्यक है। लेकिन इस लिए हम लोग 'अपनी डफली और अपना राग' ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते। इसलिए मैंने कहा कि two way communication होना चाहिए - ऊपर से नीचे तक और नीचे से ऊपर तक। तो ही केंद्र में फलाना निर्णय क्यों लिया गया इसकी जानकारी कार्यकर्ता को प्राप्त होती है और जगह जगह से प्राप्त हुई जानकारी के माध्यम से, निर्णय प्रक्रिया में नीचे के कार्यकर्ताओं का भी योगदान रहता है।

इसमें और एक बात ध्यान में लेना आवश्यक है। देशभर में संघकार्य का विस्तार हुआ है। अब, अगर स्थान स्थान पर कार्यकर्ताओं की समझदारी बढ़ानी है तो हरेक स्तर की गतिविधियों के बारे में उसी स्थानपर निर्णय होने देना आवश्यक है। याने की अपनी पद्धति में हम विकेंद्रित निर्णय प्रक्रिया विकसित करने का प्रयास करते हैं। हमारे ध्येयसंकल्प और नीति निर्धारण में तो हमारा दृष्टिकोण अखिल भारतीय है। समूचे संगठन की दृष्टि से उनके बारे में निर्णय तो केंद्रीय स्तर पर होगा। लेकिन अपने अपने स्थान पर, समय समय पर जो कार्यक्रम तय करना है, जिम्मेदारियों का और व्यक्ति का विचार करना पड़ता है, कुछ तात्कालिक विधिनिषेधों का विचार करना पड़ता है या कुछ स्थानीय परिस्थिति को समझने की बात होती है तो स्थानीय कार्यकर्ताओं का गुट अपना अपना निर्णय ले, यही हमारी पद्धति है। यह पद्धति इस दृष्टि से विकसित करने का हमारा प्रयास रहता है कि स्थान स्थान पर कार्यकर्ताओं की सूझबूझ बढ़े, उनमें निर्णय लेने की क्षमता निर्माण हो। वे केवल ऊपर से आए निर्णयों को, थोंपे गए निर्णय मानकर काम न करें। स्वयंप्रेरणा से और अपने मन की लगन

से काम करें और उनको अपने कार्य के व्यापक अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य का भी बोध हो। स्थानीय स्तर का अपना निर्णय पूरे अखिल भारतीय कार्य की व्यूहरचना का एक अंशमात्र हिस्सा है, इस जिम्मेदारी का भाव भी उनमें पैदा हो। यह समझदारी बढ़ने की प्रक्रिया समझने के लिए एक उदाहरण देता हूँ पहाड़ी पर चढ़ने का। जब हम पहाड़ी पर चढ़ना शुरू करते हैं और इधरउधर देखते हैं तो कुछ परिसर दृष्टिपथ में आता है। जैसे जैसे हम ऊपर चढ़ते जाते हैं, पहले से ज्यादा परिसर हमारे दृष्टिपथ में आता रहता है। जब पहाड़ी की चोटी पर पहुँचते हैं तो बहुत ही विशाल परिसर हमारे दृष्टिपथ में आ जाता है। ऐसा नहीं है कि पहले यह परिसर उधर था ही नहीं, या चोटीपर पहुँचते ही हमारी आँखों की रोशनी पहले से जादा अच्छी हो जाती है। आँखों की रोशनी वही रहती है, लेकिन ऊँचाई पर आने के कारण दूर तक का दृश्य स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार अपने स्थान पर कार्य करते समय जो बातें ध्यान में नहीं आती वे जिम्मेदारी बढ़ने पर उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में ध्यान में आना शुरू होता है। समझदारी बढ़ती जाती है। व्यापक, अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य मन में बनाए रखने की प्रक्रिया शुरू होती है। फिर अपना स्थानीय काम अखिल भारतीय व्यापक कार्य के शृंखला की एक कड़ी के रूप में देखने की मानसिकता बनी रहती है।

ऐसी सजग विकेन्द्रित निर्णय प्रक्रिया ही, समाज की सभी गतिविधियों में पूरे समाज को स्वयंप्रेरणा से सम्मिलित करने वाले प्रजातंत्र का महत्त्वपूर्ण पहलू है।

■ एकात्म नीतिनिर्धारक गुट

फिर भी स्थान स्थान पर ऐसा निर्णय लेते समय उधर के सभी कार्यकर्ताओं को अपने कार्य के सभी पहलुओं की, नीतियों की तथा समयपर उपस्थित होने वाली परिस्थिति की पूरी सूझ रहती है ऐसी हमेशा अपेक्षा करना असंभव है। इस कारण, ऐसे कार्यकर्ताओं में से इनेगिने प्रगल्भ कार्यकर्ताओं का एक कार्यकारी गुट बनाना पड़ता है। ऐसा गुट, जिसमें से हरेक व्यक्ति के सामने एक ही लक्ष्य है। वे सभी एक ही ध्येय से प्रेरित हैं, एक ही पथ के सब राही हैं, यह भाव आपस में विकसित हुआ है। अपना संकल्प, अपनी कार्यपद्धति, नीति इन सभी विषयों में समान सूझबूझ है। सभी के मन में समर्पितता का समान भाव है। सभी का मन एक दूसरे के प्रति खुला है और सभी निरहंकारी वृत्ति से कार्य

में जुट गए हैं। इसी कारण आपस में पूर्ण विश्वास, परस्पर प्रेम भी है। विभिन्न व्यक्ति विभिन्न गुण के वाहक हैं। फिर भी आपस में व्यूहरचना इस ढंग से की जाती है कि हर एक के गुण का उपयोग संगठन बनाने के लिए हो। जो त्रुटियाँ होंगी, अवगुण होंगे, दोष होंगे वे बाहर प्रकट न हों। उन कमियों की पूर्ति के लिए अन्य लोग अपने गुणों से सहायता करें। ऐसा सामूहिक मानस जिस गुट में विकसित होता है वही समूचे कार्य की गतिविधियों के बारे में, नीतिनिर्धारण में तात्कालिक तथा दूरगामी परिणामों का विचार करते हुए, साकल्य से, तारतम्य से अधिकतर मात्रा में निर्णय ले सकता है। संघ की कार्यपद्धति में जो लोकतांत्रिक आत्मा विकसित होती है वह ऐसे ही हर एक स्तर के - एक उपशाखा से लेकर अखिल भारतीय स्तर तक - समान मानस रखने वाले कार्यकर्ताओं के विभिन्न गुटों में प्रतीत होती है। भले इन गुटों में कोई वैधानिक या औपचारिक जिम्मेदारी न होने वाला कार्यकर्ता भी क्यों न हो।

इसमें एक संकेत का आग्रह रखा जाता है। वह यह है कि ऐसा गुट जब कोई निर्णय लेता है तब अपने अपने स्तर पर जो वास्तविकता है, कार्यकर्ताओं का जो मानस है, उनकी कठिनाईयाँ हैं, सुविधाएँ हैं, उनकी क्षमता और धरातल की परिस्थिति, इन सभी बातों को ध्यान में लेते हुए अपनी नीति के अनुसार वह निर्णय करे। इससे ऐसे गुट के निर्णय के बारे में उस स्तर के सभी कार्यकर्ताओं को विश्वास रहता है। वह निर्णय कितना भी न जँचने वाला क्यों न हो, यह विश्वास होने के कारण वह अपनाया जाता है। इस लिए ऐसे गुट के कार्यकर्ताओं का सभी के साथ सघन संपर्क रहना आवश्यक है। सभी के साथ संपर्क, संबंध, चर्चा और इसमें से विकसित सर्वाभिप्राय (consensus) यही तो लोकतंत्र का मूलाधार है।

■ युवा कंधों पर बुजुर्ग मस्तिष्क

इस प्रक्रिया में पुराने ज्येष्ठ कार्यकर्ताओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण रहती है। इस संदर्भ में नए नए कार्यकर्ता विकसित करने की जो विशेष पद्धति हमारे कार्य में है वह ध्यान में आती है। एक दृष्टि से कहा जाए तो नए कंधों पर बुजुर्ग मस्तिष्क (old brains on young shoulders) ऐसी यह रचना है। बहुत से पुराने कार्यकर्ता, जिन्होंने वर्षों तक अपनी अपनी जिम्मेदारियाँ बड़ी सक्षमता से, बड़ी समझदारी से निभाई है, अब वे शारीरिक दौर्बल्य के कारण या कुछ व्यावहारिक सीमाओं के कारण इतने सक्रिय नहीं रहे हैं। ऐसे कार्यकर्ता नए कार्यकर्ताओं

को प्रशिक्षित, विकसित कर सकते हैं। कार्य की प्रत्यक्ष जिम्मेवारी तो नए कार्यकर्ताओं पर ही रहेगी, रहनी चाहिए। वे ही वर्तमान कार्य का भार सँभालेंगे। लेकिन उनको सही दिशा का संकेत ये पुराने कार्यकर्ता कर सकते हैं। यह कुछ वैधानिक नेतृत्व नहीं होता है, बल्कि पारिवारिक नेतृत्व जैसा मामला है। (not constitutional leadership but patriarchal leadership) हमारा कार्य तो पारिवारिक ढ़ंग से चलता है तो ऐसे बुजुर्ग कार्यकर्ताओं का हमारे काम में महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। अधिकार पद की प्रतिष्ठा का भाव मन में न रखते हुए विकसित हुई, 'पिता' के समान, नेतृत्व की यह पद्धति है। इसलिए एक सावधानी ऐसे पुराने कार्यकर्ताओं के मन में होना आवश्यक है। 'यह करो, वह न करो,' ऐसी आदेशबाजी करने वाली मानसिकता से दूर रहना आवश्यक है। यदि यह हो सकता है तो पुराने अनुभवी कार्यकर्ताओं का, नए कार्यकर्ताओं की समझ बढ़ाने की दृष्टि से हमारे कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त हो जाता है। वृद्धावस्था में, जीवन के अंतिम क्षणतक वे योगदान कर सकते हैं।

■ संगठन की शक्ति संख्या में नहीं।

अब ध्यान में आ सकता है कि संघ जैसे देशव्यापी संगठन जिन सिद्धान्तों के आधार पर चलता आया है, विकसित हुआ है, उन सिद्धान्तों की जैसे एक निजी आंतरिक शक्ति (intrinsic strength) है, वैसे ही उसकी कार्यपद्धति में भी उसकी अपनी शक्ति है। लेकिन इस शक्ति का हिसाब हम कैसे कर सकते हैं? केवल संख्यात्मक योग के आधार पर? बाजार में आए हुए पाँच सौ आदमियों की ताकत और संघशाखा पर आए पाँच सौ स्वयंसेवकों की ताकत क्या एक ही हो सकती है? दोनों जगह संख्या एक ही है, लेकिन बाजार में आए व्यक्तियों ने अपना अपना व्यक्तित्व (identity) अलग अलग रखा है। उनका अहंकार अलग है। एक जगह आने का हेतु अलग है। दूसरी ओर संघस्थानपर उतनी ही संख्या में आने वाले स्वयंसेवक समान हेतु, समान मानसिकता, हम सब मिलकर एक हैं, यह एकात्मता का भाव, यह सब होते हुए इकठ्ठा आते हैं। इसके कारण वे संगठित होते हैं। वे अपना 'अहम्' मिटा कर 'वयम्' की अनुभूति करते हैं। अलगाव का कोई नामोनिशाँ नहीं रहता। उसमें से एक सामूहिक अहंकार निर्माण होता है। (organisational ego of all of us put together) इस सामूहिक अहंकार से ही संगठन बनता है। इस दृष्टि से रास्ते में, बाजार में होने वाली भीड और संगठन ये दो बातें अलग अलग हैं। जैसे मिश्रण (mixture)

और संयुग (compound) में फर्क है। संयुग में अलग अलग द्रव्यों के निजी गुणधर्म एक दूसरे में मिलकर तीसरा पदार्थ बनता है और उसकी शक्ति और गुणवत्ता दोनों के योग से भी अधिकतर होती है।

बीजगणित में एक प्राथमिक सूत्र का उदाहरण होता है। अ को अलग रख कर वर्ग किया तो $अ^२$ होता है वैसे ही ब का $ब^२$ होता है। तो $अ^२$ और $ब^२$ एक साथ आनेपर भी $अ^२ + ब^२$ होता है। लेकिन अपना अलगपन छोड़कर अगर (अ + ब) ऐसे पहले ही एक प्रकोष्ठ में (bracket) आए और फिर उसका वर्ग किया तो उसका परिणाम आता है $अ^२ + २ अब + ब^२$। किन्तु $अ^२ + ब^२$ के साथ यह '+ २ अब' शक्तिघटक निर्माण हुआ, वह कहाँ से आया? तो वह अ और ब पहले ही इकट्ठा आने से याने उन के संगठन से आया है। वैसे ही संगठन की आंतरिक शक्ति 'अहम्' का अलगाव का भाव 'वयम्' में समर्पित करने से ही निर्माण होता है। वह केवल संख्यात्मक योग से नहीं गिनी जाती।

लोकतंत्र के इस जमाने में लोग, संख्या कितनी है इस मुद्दे को सबसे ज्यादा महत्त्व देते हैं। चुनावी परिणाम की बात होती है तो मतदाताओं की संख्या को अधिकतम महत्त्व रहता है। अपना बहुमत होना चाहिए इसपर जोर दिया जाता है। लेकिन जब सिद्धान्त और उसीपर आधारित कार्यपद्धति की शक्ति का सवाल होता है, तब यह निश्चित है कि संख्या का विषय तो मामूली हो जाता है। क्योंकि सिद्धान्त तथा कार्यपद्धति की अपनी अपनी निजी आंतरिक शक्ति रहती है और वह बहुमत पर निर्भर नहीं रहती।

'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस पहले विभाग में कुछ वैज्ञानिकों के दूसरे संदर्भ में आए हुए उदाहरण, इस संदर्भ में भी हम देख सकते हैं। जैसे बायबल में आया है कि पृथ्वी यह केन्द्र है और सूरज उसके मंडल में घूमता है। इस सूत्र को मध्ययुग के बाद वैज्ञानिकों ने अपने संशोधन से चुनौती दी। कोपरनिकस ने लगातार चौंतीस वर्ष परिश्रम करके यह सिद्ध किया कि सूर्य यह ग्रहमाला का केन्द्र है और पृथ्वी उसकी चारों ओर अन्य ग्रहों के साथ चक्कर काटती है। यह अन्वेषण बायबल के मत के विरोध में था। यह कोपरनिकस का सिद्धान्त जब छपकर तैयार हुआ, तब वह मृत्युशय्या पर था। उसके मित्रों ने उसके छपी हुई प्रति उसके हाथ में दी और थोड़े ही समय के अंदर उसका प्राणोत्क्रमण हुआ। उसके पश्चात लंबे समय तक उसके अन्वेषण की दखल किसी ने नहीं ली। केवल केपलर नामक एक अन्य शास्त्रज्ञ ने कोपरनिकस के सिद्धान्त का

passing reference दिया। कोपरनिकस के मृत्यु के पश्चात उसके सिद्धान्त को नकारात्मक मान्यता मिली। व्हॅटिकन सिटी ने आदेश निकाल कर सभी ईसाइयों को बताया कि पोप ने यह पुस्तक प्रक्षिप्त की है। इसलिए किसी ने इसको छूना तक नहीं। मतलब यह हुआ कि उस समय का संपूर्ण योरप कोपरनिकस के सिद्धान्त के विरोध में था।

आगे चलकर गॅलिलिओ, ब्रूनो जैसे वैज्ञानिकों ने कोपरनिकस का सिद्धान्त और दृढता से दोहराया। लेकिन उनको पाखंडी मानकर छलवाद का शिकार बनाया गया। पूरा ख्रिस्ती धर्मपीठ और ख्रिस्ती समाज उनके विरुद्ध थे। बहुमत विरुद्ध था। गॅलिलिओं को बुढ़ापे में कारावास भुगतना पड़ा। ब्रूनो को तो उसके मत के आग्रह के कारण ईसाइयों ने चिता पर जलाकर मार दिया। लेकिन सत्य की शक्ति बहुमत पर निर्भर नहीं होती। इन वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों को आज सर्वदूर मान्यता है। क्योंकि उनकी अपनी निजी आंतरिक शक्ति थी।

मराठी संत तुकाराम ने कहा है

सत्य असत्यासि । मन केले ग्वाही
मानियले नाही । बहुमता ।।

माने मन की अंत:प्रेरणा से सत्य की जो अनुभूति प्राप्त हुई है, उसकी सत्यता परखने के लिए अपने मन की गवाही ही ले ली है। बहुमत को प्रमाण नहीं माना।

बहुमत से प्रस्ताव पारित करने से अग्नि उष्णता और प्रकाश इन गुणधर्मों को छोड़ नहीं सकता, ना तो शीतलता और अंधेरे का आश्रय कर सकता है।

■ पू. डॉक्टरजी के ध्येयदर्शन का प्रगत उन्मीलन

गत पचहत्तर सालों से ऐसी ही कार्यपद्धति के द्वारा संघकार्य चलता आया है, विकसित हुआ है। ऐसी स्वयंपूर्ण कार्यपद्धति के द्वारा स्वयंसेवक राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का साधन इस नाते संस्कारित होंगे – संगठन निर्माण होगा, बढ़ेगा और जैसा 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस विभाग में बताया है, स्वयंसेवकों की ऐसी संगठित संस्कारित शक्ति के द्वारा समाजजीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में अपनी सनातन जीवनपद्धति के, जीवनमूल्यों के अनुसार आज की परिस्थिति, आज के समाजजीवन की आवश्यकताएँ, ध्यान में लेकर अन्यान्य रचनाएँ (institutional framework) खड़ी होंगी, याने धर्मप्रवण व्यक्तिमानस और धर्माधिष्ठित समाजरचना सिद्ध होगी

यह संघ का दृढ विश्वास है। इसमें यह बात तो साफ है, कि धर्म के आधार पर ऐसी युगानुकूल संस्थाओं का निर्माण करके समाजपरिवर्तन करने के लिए धर्मप्रवण व्यक्तिमानस की बुनियादी आवश्यकता पूरी करनी पड़ती है। इसलिए जैसे पहले बताया है पू. डॉक्टरजी ने मानो एक तरह का श्रमविभाजन किया। उन्होंने सोचा कि व्यक्तिमानस धर्मप्रवण सुसंस्कारित करने का कार्य संघस्थान पर होगा, शाखा में होगा। फिर ऐसे सुसंस्कारित और धर्मप्रवण व्यक्ति विभिन्न समाजक्षेत्रों में जाकर विविध संस्थाओं का तथा रचनाओं का निर्माण करेंगे। पू. डॉक्टरजी कहते थे – जो सबसे कठिन कार्य है, हिन्दू संगठन का कार्य है, वही हम करेंगे। उसके फलस्वरूप धर्मरक्षण और उसीके द्वारा राष्ट्र को परम वैभव प्रत ले जाना यह कार्य होगा। लेकिन सबसे बुनियादी कार्य तो हिन्दू संगठन का है। इसलिए ये संपर्क, स्वयंसेवक, संस्कार, संगठन आदि बातें आती हैं। तो Organisation is our beginning and organisation is our end. याने 'संगठन के लिए संगठन।' उस समय भी प्रश्न पूछे जाते थे, 'राष्ट्र को परम वैभवप्रत ले जाने के लिए राष्ट्र जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने की आवश्यकता है, विचारों का विकास होना आवश्यक है। आप तो कहते हैं कि हम दक्ष-आराम के सिवा अन्य कुछ नहीं करेंगे। तो यह होगा कैसे?' तब ऐसा बताया जाता था, ''संघ कुछ भी तो नहीं करेगा। लेकिन देश में, समाजजीवन में ऐसा एक भी कार्य नहीं रहेगा जो करने लायक है और जो हुआ नहीं। ऐसे कार्य कौन करेंगे? संघकार्य से संस्कार और प्रेरणा प्राप्त किए हुए स्वयंसेवक व्यक्तिगत रूप में राष्ट्रजीवन के विभिन्न अंगों में राष्ट्रोपयोगी विचारों का विकास और कार्य करेंगे। इसके द्वारा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य होगा। जैसे बिजली निर्माण का केन्द्र होता है। उस बिजली के आधार पर ही दिये, पंखे चलेंगे, खेतों में पंपोंद्वारा पानी पहुँचेगा, सब व्यवहार होंगे। लेकिन बिजली घर तो केवल बिजली का ही निर्माण करेगा। दूसरा उसका कोई काम ही नहीं। तो पहले से ही यह श्रमविभाजन संघकार्य में जारी है।

इसका मतलब यही है कि संघकार्य की विकास प्रक्रिया में अपना मूल कार्य संघस्थानपर ही होगा यही बात निश्चित है। और संघस्थानपर जो बनता है उसीके प्रभाव के कारंण अन्यान्य क्षेत्रों में कार्य के विविध आयाम खड़े हो जाते हैं। जैसे कि अमावस की रात चंद्रमा दिखाई नहीं देता है। फिर शुक्ल पक्ष प्रारंभ होता है। प्रतिदिन चंद्रकला का विकास होता है। जैसे जैसे चंद्रकला विकसित होती जाती है, वैसे वैसे उसका प्रकाश चारों ओर फैलता है। शुक्ल पक्ष में बढ़ने

वाला चंद्रमा का प्रकाश आप के आँगन में आता है, फिर बरामदे में आता है, शयनगृह में आता है। इसका मतलब यह नहीं है कि चंद्रमा ने अपना स्थान छोड़कर आप के बरामदे में या शयनकक्ष में प्रवेश किया है। चंद्रमा तो अपने ही स्थान पर है किन्तु जैसे जैसे उसकी कला बढ़ती जाती है वैसे वैसे उसके बढ़ते हुए प्रभाव का परिचायक याने उसका प्रकाश चारों ओर दूर दूर फैलता है। यह संभव नहीं है कि चंद्रमा का विकास तो हो किन्तु उसके प्रभाव का परिचायक प्रकाश अधिक मात्रा में बाहर न फैले। वैसे ही संघ अपने ही स्थान पर याने संघस्थान पर है। उसके बढ़ते हुए प्रभाव के परिचायक उसके स्वयंसेवक चंद्रकिरणों के समान विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई दें यह स्वाभाविक ही है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि संघ अपना संघस्थान छोड़कर बाहर आया है।

दूसरी तरफ विकास के विभिन्न आयाम संघकार्य को प्राप्त होते रहे हैं, यह भी कुछ नई बात है ऐसा नहीं है। सभी आयाम तो संघ के मूल राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के संकल्प में पहले से थे ही। संघ की कार्यपद्धति का एक विशेष है कि जो बात जिस समय पर करनी है उसी समय हो जाती है। उसके बारे में पहले से ही सभी बातें मोटे तौर पर बोलना यह संघ की पद्धति नहीं है। जब कोई ताकत ही न हो तब उस समय पूरा विचार समाज के सामने रखना भी अनावश्यक है। पहले मोटे तौर पर केवल इतना ही बोल दिया, राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना है, वह पर्याप्त था। लेकिन जैसे जैसे शक्ति बढ़ती जाती है, तो उस क्षमता के स्तर के अनुसार अधिक बातों का विशदीकरण करना उपयुक्त होता है। लेकिन उसमें कोई नई बात तो नहीं होगी। बातें तो पहले से ही संकल्प में थीं। उसमें कोई हेरफेर होने वाला नहीं है। अंतर इतना ही है, शक्ति कम थी इसलिए जादा विचार प्रकट करने की आवश्यकता नहीं थी। जैसे किसी गरीब आदमी के मन में विचार हो कि मैं राजप्रासाद बनाऊँगा। उसके पास पैसा नहीं है। इस स्थिति में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि राजप्रासाद बनाना है, इसके लिए पैसा इकट्ठा करना है। उस समय यदि कोई पूछेगा कि भाई आर्किटेक्ट कौन रहेगा, प्लान क्या होगा, कमरे कितने होंगे और यह सब कैसे कैसे होगा। तो ये सभी बातों की उस समय प्रारंभिक अवस्था में जिक्र करना मूर्खता ही कही जाएगी। लेकिन जैसे जैसे ताकत बढ़ती जाएगी और अपनी कल्पना साकार करने की क्षमता आएगी तब धीरे धीरे एक एक बात प्रकट होने लगेगी। माने उस गरीब आदमी के मन में तो अपने राजप्रासाद का पूरा चित्र पहले से ही संकल्प के रूप में उपस्थित है लेकिन जब हाथ में कुछ भी नहीं उसी

समय से मोटे तौर पर अपने प्रासाद के बारे में बड़ी बड़ी बातें वह करेगा नहीं। साधन हासिल करते करते, बढ़ती हुई ताकत के अनुसार वह अपने मन की एकेक बात बताते जाएगा।

जैसे कोई कुशल चित्रकार पहले अपने मन के संकल्पचित्र की केवल आऊटलाईन खींचता है। क्या कोई कह सकता है क्या कि आऊटलाईन के आगे उसके सामने कुछ भी नहीं है। ऐसा तो नहीं। उसके मन में तो पूरा चित्र स्पष्ट रूप से रेखांकित हुआ करता है, और कागज पर खींची हुई आऊटलाईन में धीरे धीरे उसीके अनुसार रंग भरते भरते, उमलते हुए रंगों से कल्पना साकार होती है। अंग्रेजी में जिसे progressive unfoldment कहा जाता है वैसी यह प्रक्रिया है। unfoldment का मतलब, बात पहले से ही मौजूद रहती है, लेकिन समय के अनुसार उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकट होकर दिखाई देना प्रारंभ होता है और स्पष्ट होती जाती है। मानो सबेरे चार बजे हम अपनी खिडकी के बाहर झाँकते हैं तो सामने का वृक्ष अंधेरे में दिखाई देता है, परंतु साफ नहीं। धीरे धीरे प्रकाश फैलता है। वृक्ष स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वृक्ष वही है। कोई ऐसा नहीं कह सकता कि पेड उत्क्रांत हुआ। पहले जो नहीं था वह एकाएक हो गया, सो बात भी नहीं। पेड़ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। बस, प्रकाश अधिक होने से डालियाँ, पत्ते, फूल सभी कुछ दिखाई देने लगे हैं। unfoldment का मतलब यही है, कि चीज वही है फिर भी उसका दर्शन क्रमश: उत्तरोत्तर स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। वैसेही संघकार्य के बारे में है। पूरे हिन्दू राष्ट्र का पुनर्निर्माण यह संकल्प तो पहले दिन से किया हुआ है। उसकी पूर्ति के लिए समयानुसार जो आवश्यकताएँ उपस्थित होने लगीं वे समय समय पर पूरी करने के लिए अन्यान्य व्यवस्थाएँ, रचनाएँ सिद्ध होती रही। तो संघकार्य का विकास याने पू. डॉक्टरजी के मन के ध्येयदर्शन का प्रगत उन्मीलन है। The growth of R.S.S. is progressive unfoldment of Dr. Hedgewar's vision बिना शक्ति के जिस कल्पना को पागलपन कहा जाता था, वही अब सही ढंग से सोचने वालों में बुद्धिमानी मानी जाने लगी है।

संघ से प्रेरणा और संस्कार प्राप्त किए हुए स्वयंसेवक अपनी रुचि, प्रकृति, प्रवृत्ति के अनुसार राष्ट्र जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करेंगे। अपने अपने क्षेत्र में संघ के द्वारा बनाए हुए पथ्य तथा निषेधों का पालन करते हुए उपयुक्त कार्यों की रचना करेंगे। रचना के अनुसार संघसंस्कार तथा मूल्यविचार उधर बोने का प्रयास करेंगे और ऐसे विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का प्रयास

जारी रहेगा। यह बताया गया है, मानो एक तरह का श्रमविभाजन है। संघ स्वयंसेवकों का निर्माण करेगा; स्वयंसेवक विविध विचारों का तथा कार्यों का विकास करेंगे।

इस दृष्टि से संघ और संघप्रेरित संस्थाएँ इन दोनों में जो संबंध है, उसका संकेत करनेवाला परमात्मा का वर्णन भगवद्गीता में आता है। –

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ (भ.गी. १३-१४)

अर्थात् जिसमें सभी इंद्रियों के गुणों का आभास होता है, किन्तु वास्तव में जिसको एक भी इंद्रिय नहीं है; जिसकी कहीं भी आसक्ति नहीं है तो भी जो सब का भरणपोषण करता है; जो स्वयं निर्गुण है किन्तु निर्गुण रहते हुए भी सभी गुणों का उपभोक्ता है (ऐसा परमात्मा)

संघ तो सभी संघप्रेरित संस्था-रचनाओं की प्रेरणा के नाते धारण-पोषण करता है फिर भी वह सभी से अलग-असक्त है।

संघस्थान पर प्राप्त होने वाले संस्कार प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने के संदर्भ में ऐसा कहा गया था – The battle of Waterloo was won, on the play ground of Eton! यही अपनी भी पद्धति का तथ्य है।

ध्यान में आता है कि बड़ी सूक्ष्मता से दूरदर्शी विचार करते हुए राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की संघ की सर्वंकष योजना (all out scheme) सोची गई है। योजना सर्वसमावेशक है किन्तु साथ ही यह भी आग्रहपूर्वक कहा है कि इसका मूलाधार संघशाखाही है। इन सभी कार्यों की रचना पिरॅमिड के समान रहनी चाहिए। पिरॅमिड में चूना, सीमेन्ट आदि का उपयोग नहीं किया गया। केवल बड़े बड़े पत्थर एक के ऊपर एक रखकर पिरॅमिड बनाए गए। फिर भी वे तीन चार हजार वर्षों से वैसे के वैसे खड़े हैं। इसका रहस्य क्या है? इसका रहस्य है उनका पहला स्तर सबसे विस्तृत होना, दूसरा उससे छोटा, तीसरा दूसरे से छोटा आदि, इस तरकीब से सारे पत्थर एक दूसरे पर जमाकर रखे गए हैं। यदि कोई व्यक्ति सोचे कि मैं उल्टा पिरॅमिड बनाऊँगा जिस का पहला स्तर सबसे छोटा होगा और ऊपर का स्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत होने वाला होगा तो ऐसा पिरॅमिड बनते बनते ही गिर जाएगा। संघसृष्टि के पिरॅमिड का पहला आधारभूत स्तर यानी शाखा है। यह स्तर छोटा रहा और इसके ऊपर के विभिन्न संस्थाओं के स्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत बनने वाले रहे तो इस सृष्टि

का यह पिरॅमिड बनते बनते ही टूट जाएगा, सारे पत्थर गिर जाएँगे। योजना सर्वंकष है किन्तु क्रियान्वयन का मूलाधार, केन्द्रबिन्दु शाखा है। जिस तरह संघ दर्शन का केन्द्रबिन्दु हिन्दू राष्ट्र है। बिना हिन्दू राष्ट्र के संघदर्शन अर्थात् Hamlet (Play) without Prince of Denmark। माने, 'हॅम्लेट' नाटक को प्रस्तुत करना है, लेकिन उसमें डेन्मार्क का राजपुत्र हॅम्लेट (नायक) ही नहीं है। वैसे ही बिना शाखा के संघयोजना अर्थात् बिना छेना के रसगुल्ला। इस दृष्टि से संघ की कार्यपद्धति का मूलभूत सूत्र दृष्टि से ओझल नहीं होने देना आवश्यक है। 'दक्ष-आरम' को हमेशा ख्याल में रखना आवश्यक है।

इसका मतलब है It is a two way process! दोहरी प्रक्रिया है। संघस्थान पर गठित हुई संस्कारित शक्ति अन्य क्षेत्रों में जाएगी और अन्य क्षेत्रों में हुई मूल्याधिष्ठित रचनाओं से संघ के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य को बढ़ावा मिलेगा।

इस दृष्टि से एक बाध्यता है। अन्य क्षेत्रों में गए स्वयंसेवकों का संघसंस्कार ताजा रहे, क्षीण न हो। संघशाखा से वे कायम संबद्ध रहे।•

अब गत करीबन हजार सालों में परकीय आक्रमणों का मुकाबला करने के प्रयास में हमारा समाज व्यस्त रहा - उसकी जिंदगी और मौत का, माने मूल अस्तित्व का ही यह संघर्ष था। समाज में राष्ट्रीय प्रेरणा निर्माण करने हेतु तथा समाज को हमेशा सचेत और सतर्क रखने हेतु जनजागरण की जो स्वाभाविक व्यवस्थाएँ हमारे समाज में पहले से मौजूद थीं वे आक्रमण के इस प्रदीर्घ कालखंड में क्षीण हुईं। माँ के दूध में से, पिता के वस्तुपाठरूप आदर्श से, शिक्षकों के उपदेश से, समाज में जो महानुभाव होते हैं उनके शुद्ध, समाजसमर्पित चारित्र्य के नमूनों से जो संस्कार जनमानस पर होने चाहिए वे इस प्रदीर्घ काल में नहीं हुए। चाणक्य, शंकराचार्य जैसे कृतिशील चिंतक तथा महात्माओं की परंपरा खंडित हुई। और नई कुछ संस्कारप्रणाली भी निर्माण नहीं हुई। मानो unborn tomorrow, dead yesterday माने, भविष्य का कोई ठिकाना नहीं और भूतकाल तो गुजर गया है। ऐसी स्थिति पैदा हुई। इसलिए संघ जैसे युगानुकूल संस्कार प्रणाली का निर्माण तो आवश्यक हो गया था। इसी दृष्टि से संघ की कार्यपद्धति की रचना हुई है। कुछ मात्रा में पुरानी संस्कारप्रणाली का पर्याय इस नाते और

• अन्य क्षेत्रों में जाने वाले स्वयंसेवकों की मानसिकता तथा वर्तनसूत्र और व्यवहार इनके बारे में पूरा विवरण अगले विभाग में करना है।

कुछ मात्रा में पुराने संस्कार माध्यम को पूरक इस दृष्टि से यह पद्धति विकसित हुई है।

■ संघकार्य की कोई ज्युबिली नहीं।

लेकिन जैसे पहले बताया, संघ कोई संप्रदाय नहीं है। पूरे हिन्दू समाज को नित्यसिद्ध शक्ति के रूप में खड़ा करना यह संघ का कार्य है। सब समाज को साथ लेकर यह शक्ति खड़ी हो जाए यह संघ का प्रयास रहा है। संघ का यह पारिवारिक संगठन इतना व्यापक हो कि संघ की सीमा और राष्ट्र की सीमा एकरूप हो जाए। ऐसी स्थिति में संघ के अलग व्यक्तित्व (entity) की जरूरत ही नहीं रहेगी। समाज की अंतर्गत शक्ति स्थायी रूप में सिद्ध होगी और स्वाभाविकता से कार्यान्वित होगी तब संघ जैसी एक दृष्टि से कृत्रिम रचना की आवश्यकता नहीं रहेगी।

उस अवस्था में संघ समाजरूप होगा और समाज संघरूप बनेगा। ऐसी स्थिति में 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' इस विशेषनाम की आवश्यकता नहीं रहेगी। जैसे कोई जख्म होता है तो उसपर झिल्ली आती है। झिल्ली यह जख्म भर जाने की प्रक्रिया को गति भी देती है और सुरक्षा भी देती है। किन्तु जख्म पूर्णरूपेण भर जाने के बाद झिल्ली स्वयमेव निकल आती है। वैसे ही समाज विघटन का जख्म पूर्णरूपेण भर आएगी तथा अन्य राष्ट्रीय विकृतियाँ जब पूर्णरूपेण दूर हो जाएँगी तब 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' इस नाम की झिल्ली स्वयमेव निकल जाएगी।

इसी दृष्टि से पू. डॉक्टरजी कहते थे कि संघ कार्य की ज्युबिली करने की कल्पना नहीं है। याने कि शतकानुशतक संघ अपने ही स्वरूप में समाज को संगठित करने का कार्य करता रहेगा यह कल्पना नहीं है।

अब कई कार्यकर्ताओं को इसमें विरोधाभास जैसा महसूस होता है। एक तरफ हम कहते हैं कि संघकार्य परिस्थितिनिरपेक्ष है, यह पीढ़ियों का कार्य है। दूसरी तरफ हम कहते हैं कि जुबिली मनाने की कल्पना नहीं है। जब हम कहते हैं कि संघकार्य परिस्थितिनिरपेक्ष है तब यह अभिप्रेत अर्थ ध्यान में लेना चाहिए कि समाज को संगठित करने का - रखने का संघ का जो कार्य चल रहा है उस संगठन की आवश्यकता किसी भी समाज में हमेशा के लिए रहती है। हम ऐसे भी कहते हैं कि संघ कार्य प्रतिक्रियात्मक नहीं है। माने किसी विशेष प्रतिकूल परिस्थिति के संदर्भ में वह आवश्यक है ऐसा नहीं है।

संगठन यह किसी भी जीवमान समाज की स्वाभाविक अवस्था है। यदि यह सुसंगठितता नहीं होती तो उसका मतलब होता है कि उस समाज की जीवनशक्ति क्षीण हो गई है, या वह बेहोषी में आया है। तो संगठन यह किसी भी समाज की स्वाभाविक अवस्था चिरंतन रूप से आवश्यक है। बाहर से कोई भी खतरा अपने राष्ट्रजीवन को न होते हुए भी समाज संगठित रखने का कार्य तो आवश्यक ही है। यदुकुल को कोई बाहरी खतरा नहीं था। लेकिन समाजसंगठन की आंतरिक स्थायी शक्ति क्षीण होने के कारण 'यादवी' याने अंतर्गत संघर्ष हुआ और आपस में लड़ते लड़ते संपूर्ण यदुकुल का विनाश हो गया। तो इस दृष्टि से संघकार्य तो परिस्थितिनिरपेक्ष है लेकिन संघ जैसे हेतुतः बनाई हुई संस्कार पद्धति की लगातार जरूरत न पड़े ऐसा संघ का प्रयास रहा है। हो सकता है कि आगे चलकर संघकार्य की पद्धति केवल 'दक्ष-आरम' की न रहे।

पू. डॉक्टरजी का vision द्विआयामी था। चष्मे के नीचे के हिस्से से उन को नजदीक का लक्ष्य दीखता था। और वह था स्वराज्य। वह तुरन्त प्राप्त हो इस अर्थ में वे कहते थे, 'याचि देही याचि डोळां' यानी 'इसी जीवन में अपनी आँखों के सामने।' लेकिन चष्मे के ऊपर के हिस्से से उनको संघ का अंतिम लक्ष्य दीखता था। वह था हिन्दू राष्ट्र का परम वैभव। यह प्राप्त करने के लिए प्रदीर्घ काल तक संघ को कार्य करना पड़ेगा। 'याचि देही याचि डोळा' यह शब्दरचना केवल नजदीकी लक्ष्य के बारे में थी। वह अंतिम लक्ष्य के बारे में हो ही नहीं सकती यह स्पष्ट है। इस दृष्टि से संघ की कोई ज्युबिली मनाने की कल्पना नहीं है।

■ बड़े काम के लिए कोई Short Cut नहीं।

फिर भी धीरज न रखनेवाले स्वयंसेवकों को कभी कभी लगता है, इतना लंबा रास्ता किस लिए किया है, जरा छोटा रास्ता ले लेते। खास करके १९४७ के बाद अन्य संस्थाएँ, अन्य रचनाएँ इनकी कार्यपद्धति के संपर्क में हमारे कार्यकर्ता आने लगे और वे कहने लगे कि हमारी कार्यपद्धति बहुतही कठिन है, समय लेनेवाली है। कोई short cut निकाला जाना चाहिए। 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस विभाग में उल्लेख किया है कि, लोगों को ऐसा भी लगता है कि आज के जमाने में संगठन की जरूरत ही क्या है? संगठन तो सोलहवी सदी की पुरानी कालबाह्य बात है। अब कुछ आधुनिक तंत्र आया है। संगठन पर अब काम निर्भर नहीं रहता है। आज कल हवा पर काम चलता है। लहर आती

है और लहर पर काम होता है, ऐसा इन लोगों का कहना है। लेकिन हम इस में विश्वास नहीं रखते। हमारी दृष्टि से संगठन यह विषय सर्वाधिक महत्त्व का है।

इस संदर्भ में ध्यान में लेना आवश्यक है कि जो shortcuts हैं उन रास्तों से हम अपने गंतव्य पर नहीं पहुँचेंगे। हाँ, ऐसे छोटे मार्गों से हम कहीं न कहीं पहुँचेंगे, लेकिन हमने जो गंतव्य हमारे सामने रखा है, वहाँ तक नहीं पहुँचेंगे। यदि हमने सोचा है कि मैसूर के महाराजा के राजभवन जैसा बड़ा प्रासाद बनाएँगे तो हजारों, करोड़ों रुपये लगाने होंगे, वर्षों तक काम करना पड़ेगा, हजारों मजदूर और कारीगरों को काम पर लगाना पड़ेगा। अब तुम यदि कहोगे 'इतना सारा करने के लिए हम तैयार नहीं है, पैसा या मजदूर नहीं लगाएँगे, हमको इतना लंबा रास्ता मंजूर नहीं है', तो नजदीकी रास्ता हो सकता है। १२ आनों में ताश मँगवा लेना, दो मिनिट में ताश का महल बन सकता है। लेकिन वह मैसूर के महाराजा के राजभवन जैसा प्रासाद नहीं होगा। और जैसे ही हवा का झोंका आएगा तो उससे वह महल ढहवा जाएगा। वह राजभवन जैसे मजबूत हो ही नहीं सकता। तो इसका मतलब है Shortcut will cut you short! छोटा रास्ता आपके संकल्प को ही काट देगा।

मुगलसराय का रेल्वे यार्ड बहुतही प्रसिद्ध है। इस रेल्वे यार्ड में हमेशा शंटिंग चलती रहती है। पूल भी है। फिर भी लोग रेल्वे लाईन का रास्ता ढूँढते हैं। पूल पर से जाने में समय लगता है, चढ़ना उतरना होता है, इसलिए जो सीधे रेल्वे लाईन्स पार करते हैं। लेकिन इसी कारण दुर्घटनाएँ होती हैं। रेल्वे ने वहाँ एक साईन बोर्ड लगा रखा है जिसपर लिखा है, ''बड़े कामों के लिए छोटा रास्ता नहीं हो सकता।'' इसी तरह हम कह सकते हैं कि संघ ने जो बड़ा कार्य या लक्ष्य अपने सामने रखा है इसके लिए कोई छोटा रास्ता नहीं है। हमारे शास्त्रोंने कहा है, ''एषः पन्थाः नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय''। मतलब, यही रास्ता है, उसके अलावा दूसरा रास्ता हो ही नहीं सकता। उसीके अनुसार संघ की यह कार्यपद्धति ही हमें ध्येय तक पहुँचाएगी इस श्रद्धा के साथ काम करना है।

जब इतनी व्यापक और विशाल ध्येयसृष्टि निर्माण करने की बात हम कर रहे हैं तो उसके लिए धीरज तो होना ही चाहिए। मेरी दादी मेरे बचपन में एक कहानी बताती थी। जब भगवान ने सृष्टि निर्माण करने का सोचा, तब पहले उन्होंने आदमी का निर्माण किया। फिर इस पृथ्वी पर कुछ वनस्पति भी हो

इस दृष्टि से उन्होंने आदमियों में विभिन्न वनस्पति के पौधे बाँटना शुरू किया। उनमें कुछ पंद्रह दिनों में फल देनेवाले थे, कुछ दो महीनों के बाद फल देने वाले, कुछ एक वर्ष के बाद फल देने वाले ऐसे पौधे थे। अपनी अपनी रुचि से आदमी ने चुन लेना था। अब जो व्यवहार चतुर लोग थे उन्होंने तो तुरन्तही फल देने वाले पौधे चुन लिए। भगवान प्रत्येक फल का नाम और फलधारणा का समय बता रहे थे और लोग अपना अपना पौधा चुन ले रहे थे। इतने में भगवान ने एक पौधा सामने रखकर कहा – यह कल्पवृक्ष का पौधा है लेकिन उसको विकसित होने के लिए सौ बरस लगेंगे। तो सब व्यवहारचतुर लोक हँसने लगे। सोचा कि ऐसा कौन सा पागल आदमी है जो सौ बरस दम रखकर ठहरेगा। अब कोई सामने नहीं आया। तो कोई सब्जी का पौधा, कोई इस फल का, उस फल का पौधा उठा रहा था, लेकिन जिस वृक्ष के नीचे किसी की भी सभी कामनाएँ तृप्त हो जाती थीं उसका पौधा लेने कोई भी आगे नहीं आया।

दादीने बताई यह कहानी जब मुझे याद आती है तब लगता है, एक पागल आदमी उन लोगों में जरूर होगा जिसने कल्पवृक्ष का पौधा चुना होगा और जो धीरज के साथ ध्येयपूर्ति के लिए राह देखने के लिए तैयार था। वे थे पू. डॉक्टर हेडगेवार।

जैसे कि प्रारंभ में बताया, संघकार्य का माध्यम सरल, सुलभ है, लेकिन दूसरी तरफ उसकी कार्यशैली बिल्कुल रूखी, कठिन और धीरज की कसौटी देखने वाली है। केवल एक घंटे के लिए संघस्थान पर आना यह बिल्कुल सुलभ सरल लगता है। लेकिन दूसरी तरफ प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर संस्कार अंकित करके उसे समाजसमर्पित बनाना यह इतना आसान नहीं है। देश के वर्तमान वायुमंडल में हमारी कार्यपद्धति तो लोकप्रिय होही नहीं सकती। एक ही बात दिन प्रतिदिन करना, वही 'दक्ष आरम' करना यह तो monotonous लगता ही है। इस दृष्टि से देश में चलने वाली तरह तरह की संस्थाओं में शायद ही संघ जैसा संगठन होगा कि जिसकी कार्यशैली इतनी रूखी, कठिन और धीरज वाली हो। इसमें कोई रोमँटिक बात भी नहीं है। केवल काम करना है, स्वार्थरहित काम। बस ! बाकी कुछ भी नहीं।

इस संदर्भ में बीच बीच में तरह तरह के सुझाव भी आते रहते हैं। संघ की प्रारंभ की अवस्था के दिनों से ये सुझाव आते रहे हैं कि संघ के कार्यक्रमों को जरा आकर्षक बनाना चाहिए। यह करना चाहिए, वह करना चाहिए। किन्तु ऐसा लगता है कि रा. स्व. संघ के नेतागण रोमँटिक नहीं हैं। शायद इसी कारण से इन आकर्षकता के सुझावों को वे स्वीकार नहीं करते।

उनका आग्रह रहता है कि कार्यक्रम केवल आकर्षक नहीं, उपयुक्त, संस्कार अंकित करने वाले, परिणामकारी होने चाहिए। कार्यपद्धति के विषय में संघ का यह निष्कर्ष है कि यही एकमात्र रास्ता है कि जो हमें ''विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिः'' के माध्यम से राष्ट्र के परम वैभवप्रत पहुँचा सकता है।

कार्य तो जल्दी होना चाहिए लेकिन वह अगर पक्की और निर्दोष नींव पर खड़ा होना है तो समय लगेगा ही। जल्दबाजी से काम बिगड़ता है। ऐसा कहा जाता है कि Undue haste causes delay इसलिए पू. गुरुजी ने जो संकेत दिया है वह ध्यान में रखना आवश्यक है – धीरे धीरे जल्दी करो माने Hasten slowly!

■ संशयवाद का शिकार न बने

फिर भी अपने स्वयंसेवक बार बार चिंतित होते हैं और संशयवाद के शिकार बनते हैं। अपने कार्य की आलोचना, समय समय पर अपने कार्य का लेखाजोखा लेना आवश्यक तो है ही। लेकिन एकबार ध्येयनिश्चिती हुई है, मार्गनिश्चिती भी हुई है, फिर भी अगर मन में आशंका पैदा होती है, तो इसको हम 'बुद्धिवाद' नहीं कहेंगे। वह तो 'संशयवाद' है।

मानो किसी को नागपुर से दिल्ली जाना है। बार बार पूछ कर दिल्ली जाने वाली गाड़ी में बैठे। अब गाड़ी तो ठीक समयपर, अपना पूरा समय लेती हुई दिल्ली पहुँचेगी ही। लेकिन बुद्धिवादी होता है तो उसके मन में आशंका पैदा होती है। अगले ही स्टेशन पर उतर कर वह एक बार फिर गार्ड से पूछता है कि गाडी दिल्ली जानेवाली है न? फिर दो घंटे बाद सोचता है कि अब तक दिल्ली कैसी नहीं पहुँची है? फिर उतरकर पूछ लेता है। ऐसी उतावली से हर स्टेशनपर उतर कर पूछता रहता है। यह बुद्धिवाद नहीं, संशयवाद है। एक बुद्धिवादी बंदर की कथा तो सुपरिचित है। उसने एक बार आम का फल खाया। अच्छा लगा। पूछा, कैसा पैदा होता है? किसीने बताया कि आम की गुठली जमीन में बोने से आम का पेड़ ऊग आता है। अब उसने गुठली जमीन में गाड़ दी और नजदीक के पेड़कर जा बैठा। फिर एक घंटे के बाद सोचने लगा, पेड कैसे ऊग आया नहीं। गुठली कहीं गायब तो नहीं हो गई। फिर जमीन उखाड कर देखा। गुठली वैसी ही थी। फिर उस पर मिट्टी ढकेल कर पेड़पर जा बैठा। फिर घंटे बाद वही आशंका मन में – अभी तक पेड़ कैसे नहीं ऊग आया? तो बार बार उखाड़कर देख रहा था। तो पेड़ आयेगा ही कैसे? बंदर

की यह बुद्धिमानी तो नहीं, संशयवाद है। हमारे स्वयंसेवकों का भी कभी कभी ऐसा होता है। वे भी ऐसे संशयवाद का शिकार बनते हैं।

अब यह अजीब बात है कि जिधर हमारे कुछ कार्यकर्ताओं के मन में अपने कार्य की सिद्धि के बारे में तथा कार्यपद्धति के बारे में संदेह रहता है उधर समाज के जो बाकी घटक वर्ग हैं उनको तो हमारे कार्य के बारे में विश्वास रहता है। विरोध करने वालों को भी यह निश्चिती रहती है। विश्वास रहता है।

एक कम्युनिस्ट नेता हमारे अच्छे मित्र थे। उनको ऐसा अनुभव आने लगा कि पहले जमाने जैसी अब पार्टी के केडर में अपने ध्येय तथा सिद्धान्तों के प्रति प्रतिबद्धता नहीं रही। आजकल के व्यक्तिवादी, अवसरवादी माहौल का प्रभाव कार्यकर्ताओं पर भी हो रहा है। तो इसका इलाज क्या हो सकता है। तो उनको ऐसा लगा कि संघ के कार्यकर्ताओं का धीरज तो बदले हुए माहौल में भी जैसा का तैसा है। क्यों न उनसे उनके cadre building का कुछ curriculum मँगवाए। तो उन्होंने मुझसे बात की तो मैंने अपने और वरिष्ठ अधिकारियों को बताया। तो उन्होंने कहा, 'संघ के तंत्र पर वे यांत्रिकतासे अमल कर सकेंगे। लेकिन संघकार्य का जो मंत्र है, वह वे कैसे अपना सकते हैं? वह मंत्र है, व्यक्तिगत संपर्क के माध्यम से एक दूसरे में संस्कार संक्रमित करना।' मैंने भी विचार किया, यह बात उस कम्युनिस्ट नेता को कैसे समझाऊँ? तो मैंने उनसे कहा कि 'भाई हम हमारा curriculum नहीं दे सकते। वह गुप्त है।' उन्होंने कहा, 'यह तो ठीक है। आप का कार्य तो गुप्तता के आधार पर ही चलता है।

राष्ट्र सेवा दल ने भी संघ जैसा प्रयोग किया। वही बाह्य उपचार अपनाया। वैसीही शाखा चलाई। लेकिन संघकार्य की आत्मा से अनुप्राणित पद्धति वह नहीं ढूँढ पाया।

हमारे चचेरे दादाजी थे। काँग्रेस के नेता थे। हमारे साथ उनकी बातें होती थीं संघ के बारे में। वे ना मानते थे। एक बार हमने उनसे अनुरोध किया कि आप संघस्थान पर आ कर दूर से देखिए तब आप की संघ के बारे में जो गलत धारणा है वह दूर हो जाएगी। उन्होंने मान लिया और दूर से संघस्थान पर होने वाले कार्यक्रम देखना उन्होंने शुरू किया। चार पाँच दिनों के बाद अचानक आना बंद कर दिया। पूछा तो बोले, ''मुझे डर लग रहा है अगर पन्द्रह दिन मैं दूर से ही शाखा के कार्यक्रम देखता रहूँ तो उनके प्रभाव से मैं कब शाखा में आकर तुम लोगों के साथ खड़ा रहूँगा पता नहीं

लगेगा।'' याने दूर रहने के लिए भी यह पद्धति की परिणामकारी शक्ति का प्रत्यय ही कारण होता है।

रामायण में एक बड़ा उद्‌बोधक प्रसंग है। सीता को वश करने के लिए बहुत सारे उपाय रावणने किए और अब क्या कर सकते हैं यह पूछने के लिए कुंभकर्ण को बड़े प्रयासों से जगाया। उन्होंने पूछा, 'क्या बात है?' रावण ने कहा, 'रामचंद्र के रूप की ही सीता मन ही मन पूजा करती है। उस रूप के अलावा किसी को मानने को वह तैयार नहीं है।' कुंभकर्ण ने कहा, 'फिर बात तो बिल्कुल आसान है। तुम तो बहुरूपी हो, कौई भी रूप ले सकते हो, तो राम का रूप लेकर उनके पास जाओ।' रावण ने कहा – 'वह भी करके देखा। लेकिन मैंने जब राम का रूप लिया तब परस्त्री के बारे में मेरे मन की अभिलाषा नष्ट हो गई।' इस उदाहरण से, संघ की कार्यपद्धति के संदर्भ में हमें जो तथ्य प्राप्त होता है, वह यह है कि अन्य किसी भी पद्धति से अपेक्षित फल नहीं मिलेगा और अगर विरोधकों ने भी इस पद्धति का तथ्य अवगत करके उसको अपनाया, तो संघ के प्रति उनका विरोध समाप्त हो जाएगा, इतनी परिणामकारी शक्ति हमारी पद्धति में है।

■ कार्यपद्धति को शत प्रतिशत उपयोग में लाया जाए

एक बात ध्यान में लेना आवश्यक है। किसी भी माध्यम की, पद्धति की यशस्विता, हम कितनी लगन से, कितनी निष्ठा से, सुजानता से और सक्षमता से वह पद्धति अमल में लाते हैं इसपर निर्भर रहती है। उस पद्धति की अपनी जो क्षमता रहती है उसको शत प्रतिशत उपयोग में न लाते हुए हम कहते रहेंगे कि अब यह पद्धति कालबाह्य हुई है, उसको बदलना चाहिए तो यह बात अशास्त्रीय तथा तर्क से विपरीत सिद्ध होती है।

सोचने की बात है, जब पू. डॉक्टरजी ने संघ का प्रारंभ किया तो उनके पास क्या था? कुछ नहीं। केवल ध्येयनिष्ठा और अपने जीवनव्रत से प्रतिबद्धता। फिर जैसे शून्य में से संघसृष्टि निर्माण हुई है; अनेक प्रकार की विपरीत परिस्थिति का सामना करते हुए, अस्तित्व के प्रलयंकारी संघर्षों में भी विजयी होकर सिद्ध हुई है, वह इसी कार्यपद्धति के आधार पर यह हम न भूले। जो बड़ी बड़ी बातें-गतिविधियाँ होती हैं वे कालक्रमेण ही होती हैं। धीरे धीरे सिद्ध होती हैं। हमारे यहाँ कहा है –

शनैः पन्थाः शनैः कन्थः शनैः पर्वतमस्तके।
शनैः विद्या शनैः वित्तं पंचैतानि शनैः शनैः॥

मतलब, रास्ता धीरे धीरे ही कट जाता है। कम्बल पहन कर योगी बनने की साधना में भी समय लगता है। पर्वतारोहण करना या विद्या और धन प्राप्त करना ये भी समय से होनेवाली बातें हैं।

मानवेंद्रनाथ रॉय इस श्रेष्ठ क्रांतिवादी तत्त्वज्ञ, तथा विचारक ने जीवन के अंतिम चरण में समाजपरिवर्तन का मार्ग बताया था वह बहुत ही लंबा है, It is a very long way ऐसा उनके कुछ शिष्यों का कहना था। उनको जवाब देते समय श्री रॉय ने कहा, वह संघ की कार्यपद्धति के संदर्भ में भी कहा जा सकता है। उन्होंने कहा था – It may be a long way but if it be the only way it is also the shortest way. मतलब, यह मार्ग लम्बा क्यों न हो, लेकिन अगर यही एक मात्र है, तो यही सबसे छोटा मार्ग है। हमारी परिपूर्ण कार्यपद्धति की क्षमता पूर्णरूपेण उपयोग में लाकर बड़ी लगन से, प्रतिबद्धता से, अडिग श्रद्धा से उसका अमल करना आवश्यक है। ऐसा कहा जाता है, 'Those who march do arrive' मतलब, जो चलते रहते हैं, वे ही पहुँच जाते हैं। इसलिए कार्य की गति बढ़ानी चाहिए।

■ स्वयंपूर्ण कार्यपद्धति

हमारा यह विश्वास है कि समाजसंगठन तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का अपना ध्येय प्राप्त करने की दृष्टि से संघ की कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है। यह स्वयंपूर्ण है, इसके दो अर्थ हैं, पहला – यदि हम इस कार्यपद्धति से काम करते हैं तो संघ का ध्येय सिद्ध करने के लिए दूसरी किसी भी पूरक कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं है और दूसरा अर्थ यह है, कि किसी भी कारण यदि हम इस कार्यपद्धति को छोड़ देते हैं तो दूसरी ऐसी कौन सी भी वैकल्पिक कार्यपद्धति नहीं हो सकती, जो हमें वहाँ पहुँचा सके जहाँ रा. स्व. संघ हमें पहुँचाना चाहता है। दोनों अर्थों में, अर्थात् किसी पूरक कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं और कोई वैकल्पिक पद्धति हो नहीं सकती, संघ की कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है।



कार्यकर्ता

'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' और 'अपनी कार्यपद्धति' इन दोनों विषयों की चर्चा में पुनः पुनः 'कार्यकर्ता के निर्माण' का उल्लेख आया है। हमारे अधिष्ठान के रूप में सदियों से चलते आए हमारे जीवन तत्त्वज्ञान को चरितार्थ करनेवाली संघ की कार्यपद्धति है। और उस कार्यपद्धति के द्वारा बड़ी स्वाभाविकता से हमारा ध्येयसंकल्प पूरा करने हेतु संगठित शक्ति सिद्ध करने के लिए कार्यकर्ता का निर्माण करना, यह अपने कार्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। कार्यकर्ता निर्माण का संघ का प्रयास प्रारंभ से चलता आया है।

तो यह स्पष्ट है कि संकल्प के अनुसार अपनी कार्यपद्धति विकसित हुई है, उसी तरह आगे चलकर संकल्प, कार्यपद्धति और कार्यकर्ता इनमें भी आंतरिक संबंध है।

■ मनुष्य निर्माण की भी तो कोई प्रक्रिया है।

कार्यकर्ता निर्माण की, या व्यक्तिनिर्माण की यह जो बात संघ में बार बार दोहराई जाती है वह बाहर के लोगों की समझ में नहीं आती। जब तक संघ के साथ प्रत्यक्ष परिचय नहीं होता तब तक संघ समझने में कठिनाई रहती है। मैंने स्वयं इस बात का अनुभव किया है।

तब मैं कॉलेज में पढ़ता था। मैं और मेरे अन्य साथी अपने आप को बहुत ही प्रगतिशील progressive समझते थे। मेरे स्वयंसेवक बंधुओं की 'संघ का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण है।' आदि बातें समझ में नहीं आती थीं। अब यह तो संघ की परिभाषा है। उसका विशिष्ट तथ्य है। हमें लगता था कि जब हम मनुष्य हैं ही, तो यह मनुष्य-निर्माण की बात कैसे हो सकती है। इतने में उन्हीं दिनों में हमारे कॉलेज की पत्रिका में प्रकाशित एक कविता मैंने पढ़ी, जो इस प्रकार थी –

Wanted men!
Not systems, fit and wise,
Not faith, with rigid eyes,
Not wealth in mountain piles,
Not power with gracious smiles,
Not even the potent pen,
Wanted men!

कवि कहता है, मुझे मनुष्य चाहिए; सक्षम और सुचारू व्यवस्थाएँ नहीं, कर्मठ श्रद्धा नहीं, संपत्ति के ढेर नहीं, उदात्त हितकारी सत्ता भी नहीं और तेज कलम भी नहीं चाहिए। मुझे केवल अहं भूमिका निभाने वाले, मनुष्यत्व का मूर्तिमान रूप, ऐसे मनुष्य चाहिए। यह कविता पढ़ने से संघ की मनुष्य निर्माण की बात याद आई।

इसके बाद एक उद्‌बोधक कहानी पढ़ने में आई। प्राचीन ग्रीस के एक सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक डायजेनिस, एक दिन भरी दोपहर में हाथ में लालटेन लेकर अथेन्स राजधानी के बाजार में आए। लोगों के पूछने पर उन्होंने कहा, 'मैं मनुष्य ढूँढ़ रहा हूँ'। लोग कहने लगे कि हम सारे मनुष्य ही तो हैं। फिर उनकी खोज क्यों कर रहे हैं। डायजेनिस गरज पड़े, ''मुझे मनुष्य चाहिए बौने नहीं''। (I want men, not pigmies) फिर मेरा दिमाग सोचने लगा, संघ भी मनुष्य-निर्माण की बात करता है, कवि और तत्त्वज्ञ भी मनुष्य की खोज में हैं - बात क्या है?

इतने में स्वामी विवेकानंद का एक छायाचित्र देखा उसके नीचे उनका एक वाक्य लिखा था, ''I want men with capital M'' तब समझ में आया कि मनुष्य बनाने के लिए कुछ करना पड़ता है। मनुष्य-निर्माण की कोई प्रक्रिया है। केवल दो हाथ, दो पैर होने से मनुष्य नहीं बनता। और फिर संघ के कार्यकर्ता-निर्माण के प्रयास का महत्त्व ध्यान में आया।

इस दृष्टि से जब मैं सोचता हूँ तो ध्यान में आता है कि हमारे समाज में मनुष्य इस नाते आज सामान्य अपेक्षित व्यवहार करने की भी आदत नहीं दिखाई देती। जैसे कि व्यक्तिगत स्वच्छता की बात है। खास कर के सार्वजनिक स्थानों में पानी का पर्याप्त मात्रा में, लेकिन जरूरत हो उतना ही उपयोग करना। एक बार प्रयाग में पं. नेहरूजी के घर गांधीजी थे। हाथ धोने के लिए गांधीजी के हाथों पर पंडितजी पानी डाल रहे थे, लेकिन उनका चित्त विचलित होने

के कारण पानी नीचे गिर रहा था। उस पर गांधीजी ने खेद व्यक्त किया, तो पंडितजी बोले, 'उसमें कौन सी बड़ी बात है। हमारे यहाँ से तो गंगा बहती है।' उस पर महात्माजी ने कहा, 'गंगा तो किसी एक आदमी के लिए नहीं बहती है। उसके दोनों किनारों पर जो लोग, पशु, प्राणी, वनस्पति हैं, उन सभी के लिए गंगा बहती है।''

मतलब यह कि जो काम थोड़े पानी से हो सकता है, उसके लिए ज्यादा पानी खर्च ना करे। खास कर के सार्वजनिक स्थान पर कपड़े धोना आदि से पानी खराब होता है, यह भी लोगों के ध्यान में नहीं आता।

जहाँ ज्यादा लोग इकट्ठे रहते हैं वहाँ कभी एक ही सुविधा सब के लिए उपलब्ध रहती है। तो अपना निजी दैनंदिन व्यवहार निपटने के लिए किसी एक ने ही ज्यादा समय लिया तो दूसरों को असुविधा हो सकती है। जैसे संघकार्यालय में जहाँ अधिक कार्यकर्ता रहते हैं और उन सब को प्रभात शाखा में जाना होता है वहाँ अपना स्नान आदि विधि निपटने में कम से कम समय लेना आवश्यक है।

उसी तरह सामान्य शिष्टाचार का अनुसरण भी लोग करते नहीं। दूसरों की खिड़की में से अंदर झाँकना; बिना पूर्वसूचना के किसी के घर जाना; दूसरों की कुछ व्यक्तिगत बातें चल रही हों, तो उनमें बिना जरूरत जा कर बातें शुरू करना; ऐसी मामूली दीखने वाली किन्तु महत्त्व की बातों पर भी लोग उचित बर्ताव नहीं करते। दूसरों के घर से लायी हुई कोई चीज समय पर और पहले की स्थिति में लौटाना; दूसरों से मिलने के लिए, या काम के लिए दिया हुआ समय सँभालना; वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा अन्य वरिष्ठों का योग्य सम्मान करना; संबंध में आए व्यक्ति को उसकी योग्यता तथा संबंध के अनुसार संबोधित करना; 'धन्यवाद, sorry, शाब्बास, वाह वा', आदि उचित वाक्प्रयोगों का उपयोग करते हुए दूसरों की कदर करना; किसी के घर गए तो परिवार के सभी घटकों की योग्य पूछताछ करना; ये बातें भी ध्यान में आती नहीं। न्यूनतम इन्सानियत की दृष्टि से सार्वजनिक स्थानों पर वरिष्ठ, वृद्ध, व्याधिग्रस्त, अपंग तथा महिला इनकी सहायता करना; चढ़ाई पर रिक्षा खींचने वाले का बोझ हलका करने के लिए रिक्षा से नीचे उतरना, ये बातें भी लोग करते नहीं। अपने विपत्काल में जिन्होंने हमारी मदद की, हमारे अच्छे दिन आने के बाद उनको भूल जाना; संबंधियों के संदर्भ में जो सुखदुख के प्रसंग आते हैं, उनमें सहसंवेदना न रखना, ये भी कमियाँ व्यक्तिजीवन में इन्सानियत को नीचे करने वाली बातें होती हैं।

अब मनुष्य होने के नाते अगर ये सर्वसाधारण अपेक्षाएँ रहती हैं तो मनुष्य निर्माण का प्रारंभ भी इतनी मामूली सी, लेकिन महत्त्वपूर्ण व्यवहारों की बातों से करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में कार्यकर्ता निर्माण के बारे में तो बड़ी बारीकी से विचार करना पड़ता है।

पू. गुरुजी की माताजी से प्राप्त व्यवहारसूत्र

इस संदर्भ में मुझ जैसे कार्यकर्ताओं को पू. गुरुजी की माताजी से, जिन्हें हम 'ताई' कर के संबोधित करते थे, बहुत कुछ व्यवहार सूत्रों का संस्कार मिला। मैं तो स्वयं आपके घर में रहता ही था, लेकिन आपके घर आने वाले अन्यान्य कार्यकर्ताओं से उनका बहुत ही घनिष्ठ संपर्क था। और बोलते बोलते हम लोगों को अपनी छोटी छोटी बातों में से बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्यों से आप अवगत करा देती थीं।

सभी निजी व्यवहार स्वयं करने की कार्यकर्ता की आदत होनी चाहिए। कपड़े धोना, प्रेस करना आदि कई बातों में कार्यकर्ता का अभ्यास होना चाहिए, जैसे कि नीचे से ऊपर के माले पर पानी भरना; बाजार से आवश्यक चीजें खरीद लाना; घर के काज में मदद करना; भोजन के समय ठीक ढंग से परोसना; रसोई बनाना आदि। कुछ घरेलू आवश्यकताएँ पूरी करने का भी अभ्यास होना चाहिए जैसे प्रथमोपचार हैं, मरीज की शुश्रुषा है। बिजली वायरिंग, पेट्रोमॅक्स, सायकल, स्कूटर, मोटर, रेडिओ इन सभी की तांत्रिक जानकारी तथा उनकी मरम्मत का अभ्यास भी होना चाहिए। सब प्रकार के वाहन चलाना उसको मालूम होना चाहिए। पू. ताई का आग्रह रहता था कि कार्यकर्ता किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्रसंग का सामना करने में सक्षम रहे।

हमारा कार्य संपर्क के आधार पर चलता है तो कार्यकर्ता को अपने कार्यक्षेत्र की पूरी जानकारी यानी रास्ते, बाजारहाट, गलियाँ, प्रमुख स्थान; उस गाँव के बस- रेल्वे मार्ग, उनकी समयसारिणी; आजूबाजू के उद्योग व्यवसाय, उनके छुट्टी के दिन; समाज में से विभिन्न जाति, समूह, गुट; रीति-प्रथा, शकुन-अपशकुन की अवधारणाएँ, रहनसहन की पद्धतियाँ आदि की जानकारी होनी चाहिए। उसी दृष्टि से कार्यकर्ता का संपर्क शिक्षासंस्था, सहकारी संस्था, नगरपालिका, जिला परिषद, ग्रंथालय, अखाडा, भजनी मंडल, रुग्णालय, आदि से होना आवश्यक है। समाज में जो कुछ महत्त्व के व्यक्ति होते हैं, डॉक्टर्स, इंजिनिअर्स, वकील, जाति के मुखिया, राजनीतिक नेता, तथा गुंडे भी, इन से उसका संपर्क रहना

चाहिए। बस स्टेशन, रेल्वे स्टेशन, हवाई अड्डे, टेलिफोन एक्स्चेंज, पुलिस थाना इत्यादि से भी उसका अच्छा संपर्क होना उपयुक्त रहता है।

समाज में घुलमिलकर रहना है तो जिन प्रचलित बातों की चर्चा समाचार पत्रों में, या समाज में होती रहती है, उनकी जानकारी कार्यकर्ता को होनी चाहिए ताकि वह विभिन्न स्तरों के लोगों से संवाद प्रस्थापित कर सके, जैसे क्रिकेट है, राजनीति है, समाज में होने वाली सामयिक गतिविधियाँ हैं।

व्यक्ति के जीवन में कुछ क्षण भावनिक महत्त्व के रहते हैं, जैसे पहले बच्चे के जन्म का अवसर, नामकरण विधि, सालगिरह, परीक्षा अच्छी तरह से उत्तीर्ण होना, कॉलेज का पहला दिन, नौकरी का पहला दिन, विवाह। वैसे ही परिवार में किसी की बीमारी, दुर्घटना, मृत्यु आदि जैसे दुखद प्रसंग भी होते हैं। ऐसे सभी सुखदुख के प्रसंगों का ख्याल रखना और उनमें सहभाग लेते हुए उनका आनंद बढ़ाना, दुख कम करना, यह सभी कार्यकताओं का कर्तव्य होता है। उसके साथ ही ऐसे सभी प्रसंगों में आवश्यक बातें तथा विधि की जानकारी भी कार्यकर्ता को होनी चाहिए। किसी की मृत्यु के अवसर पर अंत्यसंस्कारों के लिए पूरी व्यवस्था करने में कार्यकर्ता पीछे नहीं रहना चाहिए। ऐसे किसी भी प्रसंग को ठीक तरह से निभाना आवश्यक है।

समाज में जो जो उपेक्षित हैं, लापरवाह माँ-बाप के बच्चे, परिवार के बोझ के नीचे दबी हुई उपेक्षित गृहिणी, विकलांग, वृद्ध, संभ्रमित किशोरावस्था के बच्चे, सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित व्यक्ति, गुट, समूह इन सभी के लिए सहारा बन कर कार्यकर्ता रहे ऐसी उसकी मानसिकता होनी चाहिए। अगर किसी व्यक्ति में ऐसी संवेदनशीलता नहीं होती, तो पू. ताई कहती थीं – 'इसकी आँखें हैं लेकिन दृष्टि नहीं है।'

ये सब छोटे छोटे व्यवहार सूत्र पू. ताई के संस्कारों से हम जैसे कई कार्यकर्ताओं को प्राप्त हुए। कार्यकर्ता सभी दृष्टि से सक्षम रहे, उसको अकेले रहने में कोई दिक्कत न रहे इस दृष्टि से आपका यह आग्रह रहता था।

प्रचारक इस नाते पहली पीढ़ी के जो कार्यकर्ता निकले उनमें मा. रामभाऊ जामगडे थे। वे पू. गुरुजी के यहाँ ही रहते थे। ग्रामीण जिले के कई कार्यकर्ता उनसे मिलने आते थे। उनकी बातों से ग्रामीण, देहाती विभाग के कार्यकर्ता के बारे में पू. ताई की कुछ धारणाएँ, अपेक्षाएँ बनी थीं। खेती के सभी पहलुओं की जानकारी, खेती की सभी प्रक्रियाओं की जानकारी, खेती के औजार, जानवरों की चिकित्सा की जानकारी, इ. से अवगत रहना ऐसे कार्यकर्ता के लिए आवश्यक

होता है। इस के साथ ही देहातों में काम करने वाले अन्य कारीगर, लुहार, बढ़ई आदि, इनके काम की जानकारी आवश्यक है। ऐसी सब जानकारी रहेगी तो ही कार्यकर्ता समाजजीवन से एकात्म होकर काम कर सकता है ऐसा पू. ताई का कहना था।

कार्यकर्ता को अपने सभी आर्थिक व्यवहारों का हिसाब बिल्कुल बारीकी से रखने का प्रयास करना आवश्यक है ऐसा आपका आग्रह रहता था। जो पैसा समाज का है उसके बारे में तो हमारी जिम्मेदारी होती ही है, लेकिन निजी व्यवहार में भी यह आदत आवश्यक है ताकि हम अपने खर्चे की ठीक तरह से छानबीन कर सकें और अनावश्यक खर्च टाल सकें।

इस संदर्भ में पू. गुरुजी के जीवन का एक प्रसंग याद आता है। सरकार्यवाह होने के पूर्व श्रीगुरुजी को पू. डॉक्टरजी ने किसी काम के लिए दूसरे शहर भेजा था और उधर आने-जाने का खर्च श्री कृष्णराव मोहरील से लेने के लिए कहा था। वैसे कृष्णराव से पैसे लेकर श्रीगुरुजी गए और काम करके लौट आए। आने के बाद, लिए हुए पैसों का हिसाब देने के समय श्रीगुरुजी एकदम अस्वस्थ हुए जब कि एक ढब्बू पैसे का हिसाब नहीं लगता था। उन दिनों में दो पैसे का मिलकर एक ढब्बू पैसा होता था। वह ढब्बू पैसा कहाँ खर्च हो गया, यह भी ध्यान में नहीं आता था। इसी अस्वस्थ मनस्थिति में श्रीगुरुजी घर आए। और कपडे उतार कर नहाने गए, तो बनियन की जेब में वह ढब्बू पैसा मिल गया। श्रीगुरुजी को 'युरेका' का आनंद हुआ और स्नान होते ही आपने कृष्णरावजी को वह पैसा वापस कर दिया।

हिसाबकिताब के संदर्भ में अपने स्वयंसेवकों की ऐसी सजगता रहने के कारण हमारे कार्यकर्ता के बारे में समाज में बहुत ही विश्वसनीयता रहती है।

अपने और एक पुराने कार्यकर्ता के बारे में ऐसी ही यादगार है। पू. विनोबाजी भावे ने पवनार में अपना आश्रम बनाया और कई वर्षों के बाद वे भूदान यज्ञ के लिए पवनार छोड़कर बाहर निकले। आश्रम छोड़ने तक की जो कालावधि थी उसका हिसाबकिताब बराबर लिखा है या नहीं यह आप देखना चाहते थे। आपने यह हिसाब देखने का काम अपने किसी सर्वोदयी कार्यकर्ता को नहीं दिया। जो संघ स्वयंसेवक इस नाते प्रसिद्ध थे (और संघ के अ. भा. व्यवस्था प्रमुख थे।) ऐसे श्री वसंतराव बापट को आपने यह काम सौंपा और उन्होंने भी पूरी छानबीन करने के बाद यह लिखा कि १९४२ के कुछ महीनों का हिसाब छोड़कर बाकी संपूर्ण हिसाब ठीक ढंग से लिखा हुआ है।

ये सभी व्यवहारसूत्र दीखने में मामूली से दीखते हैं लेकिन 'संघ के मनुष्यनिर्माण-प्रक्रिया का और आगे चलकर कार्यकर्ता निर्माण की प्रक्रिया का यह मूलारंभ' इस दृष्टि से बहुत ही महत्त्व के हैं।

■ सिद्धान्त प्रस्थापना में कार्यकर्ता का अहं स्थान

हम मानते हैं कि तत्त्वज्ञान कितना भी महान हो उसको चरितार्थ करनेवाले कार्यकर्ता न हो तो उसकी कोई कीमत नहीं होती। हमको याद है जब हम परतंत्र थे, उस समय हमारे देश के परम श्रेष्ठ कवि रवींद्रनाथ ठाकुर को, जिसे वैश्विक सम्मान माना जाता है वह नोबेल पुरस्कार मिला था। बाद में आप जापान गए थे। वहाँ एक विश्वविद्यालय में आपका भाषण रखा था। भाषण सुनने के लिए कुछ लोग तो आए थे ही, लेकिन बहुत सारे लोग नहीं गए। जो लोग नहीं आए उनसे बाद में पूछा गया कि 'भाई आप रवींद्रनाथ ठाकुर को सुनने के लिए क्यों नहीं आए?' तो उन्होंने कहा कि 'हम गुलाम देश के कवि की बात सुनने के लिए नहीं आएँगे, भले वह कितना भी श्रेष्ठ कवि होगा, वह देश अगर स्वतंत्र नहीं हो सकता तो उसकी कौन सुनेगा?' तो तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ होगा लेकिन जीवन में उसका साक्षात्कार नहीं है तो उस तत्त्वज्ञान का कोई उपयोग नहीं। इस दृष्टि से हमारा ध्येयसंकल्प एवं तत्त्वज्ञान इनका साक्षात्कार करके उनको आचरण में लाने वाला कार्यकर्ता निर्माण करने का संघ का प्रयास रहा है।

इसलिए कार्यकर्ता ही अपने कार्य का माध्यम है और आधार भी है ऐसा हम मानते हैं। वैसे देखा जाए तो कार्यकर्ता के बारे में संघ की जो धारणा है वह भी अपने पारंपरिक समाजविज्ञान से विकसित हुई है। इस कार्यकर्ता को न केवल संघटना का एक साधनरूप घटक इस नाते हम देखते हैं। तो हमारे सामने जो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का भव्य संकल्प है उसीके परिप्रेक्ष्य में हम कार्यकर्ता को देखते हैं। इस दृष्टि से संघ की कार्यकर्ता के बारे में जो अवधारणा है वह अन्य संगठनों की तुलना में वैशिष्ट्यपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण भी है।

■ अस्थिसमूह जैसा समाज में कार्यकर्ता वर्ग

शरीर में जो स्थान अस्थिसमूह का है, वही समाज में कार्यकर्ता वर्ग का है; समाज की धारणा की दृष्टि से इस वर्ग का अस्तित्व अनिवार्य है, और इसकी आवश्यकता एवं उपयुक्तता परिस्थितिनिरपेक्ष है, यह हमारे प्राचीन समाजविज्ञान का मूल्य था।

१९४७ के सत्तांतरण के पश्चात स्वतंत्र भारत में इस वर्ग की आवश्यकता समाप्त हुई ऐसा माहौल बन गया, लेकिन वह समाजशास्त्र की अज्ञानता का परिचायक है। जैसे कि पिछले विभाग में बताया है, समाज स्वयंशासित हो, शासन के द्वारा केवल इस स्वयंशासन में उत्पन्न हुई कुछ बाधाएँ तथा विकृतियाँ दूर की जाएँ यही हमारी मान्यता रही है। अगर समाज ने स्वयंशासन के आदर्श को चारितार्थ करना अपेक्षित है तो फिर सामाजिक स्वयंशासन की आधारभित्ति कार्यकर्ता वर्ग ही हो सकता है।

अपनी परंपरागत ऐसी आदर्श स्थिति में जो रचना स्वाभाविक रूप में विद्यमान थी, वह आज की परिस्थिति में न रहने के कारण, विभिन्न क्षेत्रों में समाजसेवा करने वाले कार्यकर्ताओं की विशेष आवश्यकता है।

समाज में ऐसे कार्यकर्ताओं के अनुपात के बारे में पू. डॉक्टरजी ने जो एक सूत्र दिया है, उससे किस गुणवत्ता का कार्यकर्ता हमें अपेक्षित है उसका संकेत मिलता है। अनुपात है, शहर विभाग में, समाज में तीन प्रतिशत और ग्रामीण विभाग में एक प्रतिशत, इतनी मात्रा में कार्यकर्ताओं की संख्या अपेक्षित है। इसमें जो गृहीत अपेक्षा है, वह कभी कभी कार्यकर्ताओं के समझ में नहीं आती। १९४१ में जबलपुर के हेमंत शिबिर में जो निवेदन हुआ उसमें एक जिले के प्रतिवृत्त में बताया कि हमने हमारे जिले में यह तीन प्रतिशत और एक प्रतिशत संख्या की अपेक्षा पूर्ण की है। उस समय पू. गुरुजी उपस्थित थे। आपने पूछा कि 'यह एक प्रतिशत जो कार्यकर्ता है वह किस क्षमता के हैं? क्या वे बाकी जो निन्यानबे प्रतिशत समाज है उसका नेतृत्व करने की क्षमता रखने वाले हैं? या केवल संख्या की दृष्टि से उनके बारे में देखा जाए?'

■ क्या है कार्यकर्ता की पहचान?

इसका मतलब है जिस कार्यकर्ता का हम जिक्र कर रहे हैं वह अपने अपने स्तर पर कम जादा मात्रा में स्वयंसेवक तथा समाज इनका नेतृत्व करने की क्षमता रखने वाला होना चाहिए यह संघ की अपेक्षा है। इस दृष्टि से संघ में हर कार्यकर्ता एक ओर से अनुयायी होगा फिर भी दूसरी ओर से अपने अपने स्तर का नेता भी होता है। जैसा हमने पिछले विभाग में देखा है, हमारा उद्देश्य है देशव्यापी संगठन खड़ा करना और वह भी ऐसे व्यक्तियों का संगठन, जिन में ठीक ढंग से सोचने की, अपना कार्य पूरी तरह से समझने की और नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता है।

इसलिए संघ में कोई नेता नहीं है और सब नेता ही हैं, ऐसा भी हम कह सकते हैं। कार्य का आधार तो कार्यकर्ता ही है, लेकिन कुछ विशेष स्तर की जिम्मेदारी निभाने वाला कार्यकर्ता कुछ मात्रा में नेतृत्व की जिम्मेदारी भी निभाता है और उस कार्यकर्ता की जिम्मेदारी संघ कार्य में अधिक मानी जाती है।

तो हम समझ सकते हैं कि किस तरह के कार्यकर्ता की इस कार्य में अपेक्षा है? याने कि हमारे कार्यकर्ता का व्यक्तिमत्त्व किस तरह होना चाहिए?

■ कार्यकर्ता स्वयं अपना खुदका संगठन करे।

इस संदर्भ में मेरा स्वयं का ही अनुभव याद आता है। जिस समय भारतीय मजदूर संघ की स्थापना हुई (सन १९५५) तब हमारी मनस्थिति कैसी होगी इस की कोई भी कल्पना कर सकता है। नया काम था। बड़ी जिम्मेदारी थी। कैसा होगा, क्या होगा ऐसे विचार मन में थे। स्थापना के पश्चात पुणे गया तो वहाँ के एक कार्यकर्ता श्री भाऊसाहब परांजपे, जो पुणे के प्रसिद्ध स. प. महाविद्यालय के उपप्राचार्य थे और मेरे मित्र थे, उनके सामने मन की अवस्था प्रकट की। उन्होंने कहा कि काम बड़ा है तो किसी श्रेष्ठ संत का आशीर्वाद प्राप्त करेंगे तो अच्छा रहेगा। मैंने भी हाँ भर दी। वहाँ उस समय पूज्य श्री वामनराव गुळवणी महाराज जैसे श्रेष्ठ संत थे जो भाऊसाहब के गुरु थे। हम उनके पास गए। मेरी उमर तो कुछ चालीस वर्ष से भी कम थी और इस कारण ऐसी उमर में जो कुछ स्वाभाविक सा अहंकार का भाव कहिए, आत्मविश्वास कहिए, (कभी कभी दोनों भाव एक दूसरे में समाए होते हैं।) वैसा कुछ मेरे मन में भी था। परिणामत: मेरे मन में संमिश्र भाव था कि संत पुरुष का आशीर्वाद तो मिलना चाहिए। लेकिन साथ ही मन में अहंकार का भाव भी था कि मैं कोई सामान्य शादी-ब्याह करने वाला, बालबच्चे पैदा करने वाला प्रापंचिक कार्यकर्ता थोड़े ही हूँ। मैं तो संघ का प्रचारक हूँ। मैंने देश के लिए आत्मसमर्पण किया है और समाज के लिए कष्ट उठा रहा हूँ। तो मैं असामान्य तो हूँ ही। भाऊसाहब पू. गुळवणी महाराज के साथ बातें करने लगे और मेरा परिचय उनसे कराने का दो तीन बार उन्होंने प्रयास भी किया। फिर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया। तो भाऊसाहब ने कहा कि 'ये आप का आशीर्वाद चाहते हैं, मार्गदर्शन चाहते हैं। इन्होंने अभी अभी भारतीय मजदूर संघ शुरू किया है।' तो उस संत पुरुष ने पूछा, 'भारतीय मजदूर संघ' यह क्या है? हमने कहा कि मजदूरों का कल्याण

कैसे किया जाए इसका विचार हमें करना है। तो वे बोले, अच्छा है। फिर उन्होंने मेरी तरफ देखा तक नहीं। तो भाऊसाहब ने फिर कहा कि आप का मार्गदर्शन लेने आए हैं। तो फिर उन्होंने कहा, 'नहीं, नहीं। इनको मेरे मार्गदर्शन की क्या आवश्यकता है? ये तो हिन्दुस्थान के सभी मजदूरों का मार्गदर्शन करनेवाले हैं। हिन्दुस्थान के सभी मजदूरों का कल्याण किस बात में है यह वे जानते हैं तो खुद का कल्याण किस बात में है यह तो उन्होंने पहले ही पहचान लिया होगा। इन्हें हमारे मार्गदर्शन की क्या जरूरत है?'

हम जब बाहर निकले तो भाऊसाहब ने कहा, 'माफ करना। आप को मार्गदर्शन नहीं मिला।' मैंने कहा कि, 'हमें पूरा मार्गदर्शन मिला। पूज्य गुळवणी महाराज के कहने का मतलब इतना ही है कि बेटा, खुद का कल्याण किस में है यह मालूम नहीं और बाकी मजदूरों का मार्गदर्शन करोगे? जो खुद का मार्गदर्शन कर नहीं सकता वह दुनिया का मार्गदर्शन करने जा रहा है? तो यह हमारी मूर्खता उन्होंने हमें बताई। हमें पूरा मार्गदर्शन मिला है।'

उसके पहले से ही अहंकारी मानसिकता के कारण मैं अपने मन के असंतुलन का अनुभव ले रहा था। मैं संघ में बचपन से नहीं तो बहुत देरी से आया। पू. डॉक्टरजी के समय में नियमित स्वयंसेवक नहीं था। कोई पकड़ कर ले गया तो मैं शाखा में जाता था। १९३८ से नियमित स्वयंसेवक बना। उस समय कॉलेज में भाषण करने का मौका मिलता था। अब रगड में से जाते हुए छोटे छोटे काम करते हुए संघकार्य में आगे बढ़ने का अनुभव नहीं था। उसके पहले ही भाषणकला के कारण पाँचसात बार बौद्धिक देने का अवसर मिला और यह बात मेरे दिमाग में चढ़ गई। मन में आना शुरू हुआ, मेरे पहले संघ में आए लोग बौद्धिक दे नहीं सकते और एक ही साल में मुझे तो जगह जगह बौद्धिक के लिए बुलाने लगे हैं। निश्चित ही बाकी लोग केवल दंड घुमा रहे हैं, मेरी संघ के बारे में समझदारी उनसे कुछ ज्यादा है। अब इस अहंभाव के साथ मेरा कार्य चल रहा था किन्तु एक बार तृतीय वर्ष संघशिक्षा वर्ग के समारोप कार्यक्रम में पू. गुरुजी ने कहा कि, ''संघ क्या है यह समझने का मैं अब भी प्रयास कर रहा हूँ।'' मैं समझ बैठा था कि मैंने संघ पूरी तरह से समझ लिया है और पू. सरसंघचालक कह रहे थे कि 'संघ क्या है यह मैं अभी भी धीरे धीरे समझ रहा हूँ।' मेरी आँखें तो उनके इस वाक्य से खुल गईं।

आत्मदीपो भव

हमारे एक ज्येष्ठ प्रचारक मा. दादाराव परमार्थ हमेशा कहते थे कि Begin with first person singular स्वयं से प्रारंभ करो। तो कार्यकर्ता को पहले आत्मनिरीक्षण, आत्मचिंतन करने की आवश्यकता होती है। रोमैंटिक शब्द का प्रयोग करना हो, तो कह सकते हैं कि कार्यकर्ता स्वयं अपने संगठन (Self Organisation) का विचार करे। अन्य लोगों के समान हमें ऐसा नहीं सोचना है कि सारी दुनिया को कैसे दुरुस्त करना इसका विचार पहले किया जाए। हमें तो यह सोचना आवश्यक है कि पहले स्वयं अपने को कैसे ठीक किया जाए। एक एक व्यक्ति, एक एक कार्यकर्ता जब अपना स्वयं का संगठन करता है तो वह अपने कार्य का एक परिणामकारी साधन बन सकता है।

निर्वाण के पहले, भगवान बुद्ध का आखिरी वाक्य था, 'आत्म दीपो भव।' हर व्यक्ति स्वयं के लिए दीपक के समान हो, स्वयं अपना मार्गदर्शन करे।

लेकिन स्वयं अपना संगठन करना यह बात तो बहुत ही कठिन है। हम जानते हैं कि व्यक्ति याने शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों घटकों का मेल है। अपना शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों का बराबर संगठन हो, चारों का बराबर संतुलन हो यह बहुत कठिन काम है। हमेशा हम सोचते हैं कि हमारे संघ के कार्य में मेलजोल कैसा रहेगा। यह शायद इतनी कठिन बात नहीं है जितनी अपने जो चार अंग हैं-शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इनमें संगठन करने की बात होती है। मामूली उदाहरण है। व्यक्ति अगर डायबेटिक पेशंट हो और रसगुल्ला सामने आया तो शरीर, माने जिव्हा कहती है, रसगुल्ला खाया जाए। लेकिन बुद्धि कहती है, नहीं, तुम डायबेटिक पेशंट हो, तुम्हारे लिए यह अच्छा नहीं है। तो शरीर और बुद्धि का संघर्ष जारी रहता है।

जो चारित्रिक और बाकी दृष्टि से श्रेष्ठ लोग हैं उन सन्तों ने भी कहा है कि अंतर्बाह्य जगत के साथ रात दिन हमें लड़ाई लड़नी पड़ती है। संत तुकाराम कहते हैं-"रात्रंदिन आम्हा युद्धाचा प्रसंग"। बाह्य जगत के साथ लड़ाई करना तो आसान है। मन के साथ लड़ाई करना बहुत ही कठिन काम है और यह लड़ाई व्यक्ति के आंतरिक संगठन के अभाव की परिचायक होती है। हम तो सामान्य कार्यकर्ता होते हैं। यदि हम अपने मन को नहीं सँभालते हैं तो हमारा मन हम को कहाँ ले जाएगा इसका कोई भरोसा नहीं और इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि हमारा सबसे बड़ा मित्र कौन है? हम खुद हैं और हमारा सबसे बड़ा दुष्मन कौन है, तो वह भी हम स्वयं ही हैं। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव

रिपुरात्मनः।' (भ.गी. ६.५) यह शत्रुत्व एक ऐसी निश्चित प्रक्रिया है कि स्वयं अपने को पता भी न चलते हुए धीरे धीरे हम गड्ढ़े में चले जाते हैं।

और ऐसा भी नहीं कि योग्य क्या है और अयोग्य क्या है, इस बात का अज्ञान इस संघर्ष का कारण है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि मूल्यों की जानकारी तो सभी को होती है। संत रामदास ने कहा है –

बरे सत्य बोला यथा तथ्य चाला।
बरे बोलती लोक तेणे तुम्हाला॥

अर्थात सत्य बोलने से और उसीके अनुसार अपना जीवन व्यवहार निभाने से आम लोग हमको बधाई देते हैं, यह भी सभी को ज्ञात होता है। फिर भी आंतरिक संघर्ष के कारण, आंतरिक संगठनहीनता के कारण व्यक्ति की प्रवृत्ति का ही असर अधिक मात्रा में होता है। और उसका व्यवहार सुविहित होता नहीं। महाभारत में दुर्योधन ने कहा है –

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥

'धर्म क्या है मैं जानता हूँ लेकिन उसके प्रति मेरी प्रवृत्ति नहीं है और अधर्म क्या है, यह भी मैं जानता हूँ फिर भी उससे मैं निवृत्त-परावृत्त नहीं हो सकता।'

संत तुकाराम ने कहा है – माझे मज कळो येती अवगुण। काय करू मन अनावर॥ मतलब, मेरे अवगुन मैं जानता हूँ, लेकिन क्या करूँ! मेरे मन को मैं सम्हाल नहीं सकता।

ऐसी सभी बातें व्यक्ति के स्वयं के आंतरिक संगठन के अभाव की परिचायक हैं।

तो राष्ट्र के पुनर्निर्माण का जो भव्य ध्येयसंकल्प हमने सामने रखा है वह प्रत्यक्ष में लाने हेतु साधनरूप जो कार्यकर्ता होना चाहिए उसके व्यक्तिमत्त्व का पहला बुनियादी पहलु है कार्यकर्ता का निजी आंतरिक संगठन। इस हेतु कार्यकर्ता को स्वयं के ऊपर निरंतर निगरानी रखकर रहना आवश्यक है। वैसे देखा जाए तो हमारे कार्य के पहले तीन घटक हैं वे तो स्थायीरूपेण (constant factors) स्थिर रहनेवाले हैं। वे हैं अपने सिद्धान्त की सत्यता की निजी शक्ति; (जिसका जिक्र 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस विभाग में किया है), संगठन की सत्यता

की निजी शक्ति और अपनी कार्यपद्धति की निजी शक्ति; (ये दोनों की चर्चा 'अपनी कार्यपद्धति' इस विभाग में आई है)। अब अपने कार्य की दृष्टि से ऐसा स्थिर न होने वाला एक ही घटक है, वह है स्वयंसेवक कार्यकर्ता की निजी शक्ति का स्तर। हमें अपने कार्य बढ़ाना है तो यह स्थिर न रहने वाला जो घटक है, उसको स्थिर करके उसकी क्षमता बढ़ानी होगी। हरेक स्वयंसेवक अपनी कार्यसिद्धि का आधार इस नाते विकसित हो जाए, उसकी आंतरिक प्रेरणाशक्ति का स्तर निरंतर उच्चतम रहे, इसका प्रयास हम करते हैं। अगर इस मूलभूत बात की हम चिंता करेंगे तो बाकी सभी बातों की चिंता करने की जरूरत नहीं होगी। They will take care of themselves. वे सारी बातें खुद को सम्हालेंगी।

■ कार्यकर्ता – लालटेन की काँच जैसा

इस दृष्टि से हमारा कार्यकर्ता यही हमारे कार्य का आधार है। हमारा कार्य कार्यकर्ताओं के कारण ही बढ़ने वाला या घटने वाला है। यही हमारा साधन है। हमारे कार्यकर्ताओं के माध्यम से हमारे ध्येयसंकल्प का दर्शन समाज कर सकता है। भगवान का दर्शन अगर भक्त के माध्यम से होना है तो भक्त कैसा होना चाहिए? उसके लिए एक उदाहरण लालटेन की काँच का है। दीपज्योति आँधी में भी जलती रहे, इसलिए लालटेन में काँच होती है। वह काँच लगाने से पवन का झोंका भी आ गया तो भी वह ज्योति बुझती नहीं। हमको अच्छा प्रकाश भी मिलता रहता है। इस काँच में से हम ज्योति को भी देख सकते हैं। लेकिन इस काँच पर यदि धूल जम गई तो न प्रकाश अच्छी तरह से बाहर आएगा न हम ज्योति को देख सकेंगे। काँच पर अगर कोई रंग लगा दिया तो भी ज्योति का जो सही प्रकाश है वह बाहर नहीं दिखाई देगा, न तो ज्योति भी अपने निजी रूप में दिखाई देगी। अगर हमारे कार्यकर्ता के माध्यम से ही कार्य का प्रभाव समाज में फैलने वाला है और उसी के माध्यम से हमारे ध्येयसंकल्प का दर्शन समाज को होने वाला है तो कार्यकर्ता भी लालटेन की काँच के जैसा निष्कलंक और पारदर्शी होना चाहिए। स्वयं के निजी व्यक्तित्व के दूसरे किसी भी रंग का असर अपने कार्य में दिखाई नहीं देना चाहिए।

कुछ कॅलेंडरों में चित्र की रचना ऐसी रहती है कि ऊपर किसी सुन्दर दृश्य का चित्रण और नीचे के पानी में उसका प्रतिबिंब। जैसे ऊपर ताजमहल और नीचे के पानी में ताजमहल का प्रतिबिम्ब होता है। कार्यकर्ता और कार्यक्षेत्र

का ऐसा ही संबंध है। कार्यकर्ता का प्रतिबिंब भी कार्यक्षेत्र में दीखता है। जो अच्छा कलाकार होता है उसने ऊपर का ताजमहल देख लिया तो पानी में उसके प्रतिबिंब का सहज अनुमान वह लगा सकता है। या केवल पानी में प्रतिबिंब देखकर ऊपर का ताजमहल कैसा होगा उसकी भी कल्पना वह कर सकता है। वैसे ही कार्यकर्ता को देखकर कार्यक्षेत्र का और कार्यक्षेत्र को देखकर कार्यकर्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। अपने ज्येष्ठ कार्यकर्ता मा. एकनाथजी रानडे ऐसा कहते थे कि 'कार्य और कार्यकर्ता इनमें इतना अनिवार्य सम्बन्ध है कि मैं यदि किसी कार्यकर्ता को देख लेता हूँ, उसके स्वभाव, गुणदोष आदि पूरी तरह समझ लेता हूँ तो फिर उसके कार्यक्षेत्र में न जाते हुए भी कार्यक्षेत्र का पूरा पता चलता है।' और वैसे ही वे कहते थे कि 'यदि मैंने कार्यकर्ता का मुँह तक देखा नहीं, उसके बारे में मुझे कुछ भी मालूम नहीं और यदि उसके कार्यक्षेत्र का मैंने अध्ययन किया है कि कार्यक्षेत्र के गुणदोष क्या हैं? व्यवस्थाएँ कैसी लगाई गई हैं, तो कार्यकर्ता का दर्शन न लेते हुए भी उस कार्यकर्ता की मानसिकता, क्षमता, गुणदोष आदि के बारे में बराबर पता लग सकता है, इतना अनिवार्य, अन्योन्याश्रित सम्बन्ध कार्यकर्ता और कार्यक्षेत्र इनमें रहता है।' जब इस ईश्वरीय कार्य की पूर्ति का साधन मात्र यह विनम्र भाव, स्वयं के बारे में कार्यकर्ता के मन में निर्माण होता है तब स्वाभाविक रूप से ऐसा कार्यकर्ता साधन इस नाते ज्यादा से ज्यादा उत्तम बनने का प्रयास करेगा ही। अपने कार्य के तथा ज्येष्ठ कार्यकर्ताओं के व्यक्तिगत संपर्क में आने से जो संस्कार स्वयंसेवक अपने मन पर अंकित करता है उसी से यह विनम्र भाव उसके मन में पैदा होता है और ध्येय के अनुरूप ही अपना जीवन निर्मल, स्वच्छ तथा सुयोग्य बने ऐसा कार्यकर्ता का प्रयास रहता है।

■ निर्णय अपना अपना

ऐसे संस्कारों के कारण ध्येयप्राप्ति की तीव्र इच्छा स्वयंसेवकों के मन में पैदा होती है और परिणामस्वरूप अपने निजी जीवन के बारे में वह निर्णय करता है कि हम इस काम में जुट जाएंगे। यह निर्णय पू. डॉक्टरजी के जमाने में भी कठिन था। आज तो देश का वायुमंडल इस निर्णय के लिए प्रोत्साहक तो है ही नहीं बल्कि प्रतिकूल ही है। आदर्शवादिता के स्थान पर सर्वदूर अवसरवाद, व्यक्तिवाद तथा व्यक्तिगत आकांक्षावाद बल पकड़ता जा रहा है। Service before self के स्थान पर Self without service की भावना प्रबल होती जा रही है। ऐसी स्थिति

में अपने ध्येयसंकल्प का साक्षात्कार जिसे हुआ है वही यह निर्णय कर सकता है और इस कार्य में वह इतना तन्मय हो जाता है कि इसके मुकाबले में अन्य किसी बात को उसके जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहता और ऐसा निर्णय स्वयं अपना अपना होता है, स्वयंप्रेरणा से होता है कि मुझे इस तरह जीवन बिताना है। राजा मानसिंग और राणा प्रताप, दोनों की बाह्य परिस्थिति तो समान ही थी। दिल्ली में अकबर का प्रबल शासन था। वह सभी को अंकित करने का प्रयास कर रहा था। राजा मानसिंग ने सोचा कि ऐसी प्रबल सत्ता के मुकाबले में खड़े रहने की जगह, क्यों न उसीसे संधि करें और चैन से, आराम से जीवन बिता दें। उसी में व्यावहारिक होशियारी है। लेकिन उसी परिस्थिति में राणा प्रताप ने यह होशियारी नहीं बताई। लड़ना स्वीकार किया। हल्दी घाटी के युद्ध में उसके बाईस हजार सैनिक मारे गए। महल छोड़ कर जंगल में रहना पड़ा। पत्नी और बच्चे भूखपीडित हो गए। तो जो ध्येयवादी होता है वह स्वयं ऐसे लौकिक दुख, वेदना का भी स्वीकार करता है। 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' विभाग में स्वतंत्रता संग्राम में शहीद हुए एक क्रांतिकारी का – रामप्रसाद बिस्मिल्ल का उदाहरण आया है, वह इस संदर्भ में हम फिर ध्यान में ले सकते हैं। ऐसा निर्णय लेने में कोई भी व्यक्तिगत, भौतिक लाभ नहीं।

इस दृष्टि से कार्यकर्ता का एक अनिवार्य गुण है त्याग की तैयारी। त्याग यह जीवनमूल्य होना इसका अर्थ क्या है उसका जिक्र 'हमारा अधिष्ठान' इस विभाग में किया है। यहाँ इस संदर्भ में और एक बात ध्यान में लेनी है।

ऐसा त्याग माने केवल स्वयं शारीरिक कष्ट उठाना, खाना नहीं मिलेगा तो भी यही कम करते रहना इतना ही नहीं होता। त्याग मानसिक स्तर पर भी जारी रहता है।

मानो कार्यकर्ता कुटुंबवत्सल है। पत्नी है, बच्चे हैं। आजूबाजू के सामाजिक माहौल में ही ये सब व्यवहार करते हैं। आसपास के महिलाओं में जो रहनसहन की पद्धति और स्तर रहता है उसीके अनुसार पत्नी की अपने निजी जीवन के संदर्भ में अपेक्षाएँ रहती हैं। अगर छोटा बच्चा पूछेगा कि पड़ोसी के घर में टी.व्ही, फ्रिज, है तो हमारे घर में क्यों नहीं हैं? तो राणा प्रताप और शिवाजी महाराज के उदाहरण बता कर कार्यकर्ता उस छोटे बच्चे का समाधान नहीं कर सकता है। ऐसी जो मानसिक समस्याएँ पैदा होती हैं वे एक तरह से मानसिक त्याग के स्वरूप की ही होती हैं। इस संदर्भ में अपने परिवार के सभी घटकों के मन पर जो मानसिक तनाव रहता है उसका भी सामना कार्यकर्ता को करना पड़ता है।

हमारे एक कार्यकर्ता थे। आपात्काल (Emergency) में जो तानाशाही का अमल चल रहा था उसका शिकार होकर मिसाबंदी हो गए थे। तब उनके घर की कठिनाइयों की जानकारी प्राप्त करने हेतु हम उनके घर गए। उनकी पत्नी से पूछताछ की। क्या क्या कठिनाइयाँ हैं, कैसे निभा रही है? तो उन्होंने कहा – 'आर्थिक कठिनाई काहे की। आज तक इतने दिन नौकरी करते हुए भी कभी इतना वेतन घर में नहीं आया।' अब जेल में होने के कारण इस कार्यकर्ता को आधा वेतन मिलता था। लेकिन जब काम पर थे तब हमारे काम के लिए इतनी छुट्टियाँ लेनी पड़ती थी कि कभी आधा वेतन भी वे घर नहीं ले जा सकते थे, सब छुट्टियाँ तो बिगर वेतन लेनी पड़ती थीं।

अपने घर में ऐसी भौतिक सुविधाएँ कम ही रहेंगी; शायद नहीं भी रहेंगी इससे कार्यकर्ता को मानसिक समझौता करना ही पड़ता है और वह भी एक दृष्टि से त्याग ही है। हमारे जीवनयापन और जीवन स्तर की परिभाषा यह है कि चमड़ी और हड्डियाँ साथ रहने के लिए (to put skin and bones together) जो आवश्यक है वह न्यूनतम हमारे जीवन में रहेगा। ऐसी न्यूनतम सुविधाएँ लेकर ध्येय के साथ एकात्म होकर कार्य करने वाला हमारा कार्यकर्ता हो ऐसा हमारा प्रयास रहता है।

इस संदर्भ में मोहम्मद पैगंबर का उदाहरण हमारे सामने है। लड़ाई में उनके पास बहुत सी लूट की संपत्ति आ जाती थी किन्तु उनके स्वयं के लिए घर में शाम के समय दिया जलाने के लिए तेल भी नहीं रहता था। उनकी बीवियों के मन में आता था कि उनका पति कितना धाकड़ है, इतनी लड़ाइयाँ जीतता है, इतना पैसा आता है, लेकिन उनको कुछ भी नहीं देता। अपने सैनिकों में बाँट देता है। बद्र की प्रसिद्ध लड़ाई में (battle of Badr) बहुत सी संपत्ति मिली। तो उनकी सारी बीवियों ने उनकी सबसे प्रिय पत्नी आयेशा के नेतृत्व में एकसाथ जाकर मोहम्मद साहब से अनुरोध किया कि 'हर समय लड़ाई में आने वाली सारी संपत्ति आप सैनिकों में बाँट देते हैं किन्तु इस समय हमारी प्रार्थना है कि इस संपत्ति का कुछ हिस्सा आप हम लोगों के लिए भी अलगसा रखिए। महंमद साहब ने कहा, 'कुछ हिस्से की ही बात क्या, मैं लूट की पूरी की पूरी संपत्ति अपने पास रख लूँ तो मुझे कोई पूछने वाला नहीं है। तुम्हारे कहने पर मैं वैसा ही करता हूँ। यह सारी संपत्ति तुम लोगों के हाथ में देता हूँ। तुम आपस में बंटवारा कर लो। किन्तु एक बात ध्यान में रखो। यह संपत्ति प्राप्त करने के बाद तुम में से किसी को भी यह कहने का अधिकार नहीं रहेगा

कि मैं पैगंबर की बीवी हूँ।' यह सुनकर सभी ने कहा, 'हमें संपत्ति नहीं चाहिए। पैगंबर की बीवी रहना हमारे लिए सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है।' जीवन किस प्रकार चरितार्थ करना चाहिए, उस जीवन-सीमा को उन्होंने जान लिया। उस सीमा में रहना ही सच्चा मार्ग इस नाते उन्होंने चुन लिया।

हमारे बीच ऐसे कई कार्यकर्ता हैं उनकी योग्यता और क्षमता ऐसी हो सकती है कि अपना जो समय और अपनी शक्ति वे संघ के काम में लगाते हैं, अगर उन्होंने अपनी निजी शक्ति और समय व्यक्तिगत काम में किसी व्यवसाय के रूप में लगाई होती तो लौकिक दृष्टि से उनको दसगुना लाभ होता था। ऐसे भी कार्यकर्ता हैं कि जिनके बचपन के साथी किसी बड़े ओहदे पर होंगे। उनके पास कार, बंगला होगा। उनके बच्चे अच्छी पढ़ाई करते होंगे, कोई विदेश में भी सुखासीन जीवन बिताते होंगे। पहले कभी जो साथ में पढ़ते थे, शायद उनकी बुद्धिमत्ता भी कम थी, वे आज भौतिक सुखसमृद्धि की चोटी पर हैं। लेकिन यह सब होते हुए भी उनका मार्ग न अपना कर हमारा कार्यकर्ता सामान्य जीवन बिताता है। कभी कभी आधी तनख्वाह भी नहीं मिलती होगी, दो वक्त का खाना खाने को भी समय नहीं मिलता होगा। इससे उन्हें क्या मिलता है? कई बार शायद मन में आता होगा कि 'इस कार्य से तूने क्या कमाया? देखो! तुम्हारे इतने साथी किस तरह का सुखमय जीवनयापन कर रहे हैं।' लेकिन कई बार अपने ऐसे ही कार्यकर्ताओं को मैंने यह कहते सुना है कि 'जो आनंद मुझे इस कार्य से मिलता है, मेरे मन को जो शान्ति मिलती है, मालूम नहीं वह मिलती या नहीं अगर मैं भी ऐसे ही भौतिक सुख के पीछे पड़ता था।'

ऐसे कार्यकर्ता हमेशा दूसरों का, समाज का सोचते हुए अपना जीवन बिताते हैं। कोई करे या न कर मुझे तो करना ही है, यह विचार उनके मन में होता है। The best should suffer so that the rest may prosper जो उदात्त, उन्नत प्रवृत्ति के होते हैं उनको दूसरों के लिए त्याग करना आवश्यक ही होता है। यही सूत्र उनके सामने रहता है। संघ की परिभाषा में इसी को 'आत्मनेपदी विचार' कहा जाता है।

ऐसी तैयारी होने के कारण ही कार्यकर्ता ध्येय प्राप्ति की तीव्र इच्छा की धुन से स्वयं को भूल कर सालोंसाल कार्य में जुटा रहता है। एक दिन जलना आसान है, जीवनभर जलते रहना बहुत ही कठिन है।

एक बार पू. डॉक्टरजीने मा. नानासाहब टालाटुलेजी के मकान में एक श्रेष्ठ पुरुष का चित्र देखा। उसके नीचे लिखा था – 'Teach us how to die'

पू. डॉक्टरजी ने कहा, 'नानासाहेब, इस वाक्य को बदल डालो। यहाँ लिखिए – 'Teach us how to live' ध्येय के लिए हुतात्मा बनना निःसंदेह सम्माननीय तथा स्पृहणीय बात है। किन्तु उससे भी कठिन बात है, संपूर्ण जीवन, जीवन का प्रत्येक क्षण, केवल ध्येय साधना में लगाना।'

संघ ने हम को देश के लिए केवल मरना ही नहीं सिखाया, देश के लिए कैसे जीना यह भी सिखाया है। यह एक बात मन में ठान ली कि इस कार्य को मैं करता रहूँगा, जीवन के अंत तक करता रहूँगा, यही कार्य मेरे जीवन का गौरव है, तो इस भाव के आधार पर ही कार्यकर्ता असीम त्याग कर सकता है। तो अपने ध्येयसंकल्प पूर्ति की तीव्र इच्छा, उसीको दृढ़ करके बढ़ावा देने वाली सैद्धान्तिक निष्ठा, उससे निर्माण हुआ पूर्ण समर्पण का भाव और साधना के लिए असीम त्याग की तैयारी इन सभी आयामों से जो दृढ़ धारणा (conviction) कार्यकर्ता के मन में निर्माण होती है वह अपने कार्यकर्ता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहती है।

■ निजी परिवार का भी सहभाग

जैसा कि पिछले कुछ उदाहरणों से ध्यान में आता है कि इसमें केवल कार्यकर्ता का ही त्याग नहीं, पूरे परिवार की भी त्याग की तैयारी रहती है, और रहना आवश्यक भी है। ऐसे कार्यकर्ताओं के बल पर और उनके परिवारों के आधार पर ही हमारा कार्य चल रहा है, बढ़ रहा है। लेकिन अपने परिवार के घटक भी अपने कार्य की महत्ता समझकर त्याग के लिए तैयार हो इसलिए सोच समझकर प्रयास करना पड़ता है। कभी कभी इस बात का महत्त्व अपने प्रापंचिक कार्यकर्ता के ध्यान में नहीं आता। ऐसी परिस्थिति में कार्यकर्ता तो अपने ध्येयपथ पर दौड़ता रहता है और परिवार को अपने पीछे घसीट कर ले जाता है। कार्यकर्ता कभी कभी इस संदर्भ में इतना असंवेदनशील रहता है कि हम कहाँ जा रहे हैं, वापस कब लौटेंगे, खाना घर में खाएंगे या नहीं, ऐसी मामूली बातें भी वह घर में बताता नहीं। बाहर कार्य तो बड़ी लगन से, सक्षमता से करता है। लेकिन घर में अपने कार्य के बारे में अंधेरा छाया रहता है। कार्यकर्ता यह नहीं समझ पाता कि उस तरह से घसीटने से परिवार के घटकों के, खास करके अपनी सहचारिणी के मन में अपने कार्य के प्रति प्रतिकूलता का भाव पैदा होता है। आगे चलकर निजी जीवनयापन के बारे में भी मानसिक जलन का वह अनुभव करने लगती है। परिवार का परस्पर सामंजस्य का, समरसता का वायुमंडल बिगड़ जाता है और कार्यकर्ता के मन पर

भी इस असंतुष्टता का असर होने लगता है। उसका मानसिक स्वास्थ्य तथा संतुलन ढ़ल जाता है। सामाजिक कार्य की लगन और प्रापंचिक भाव तथा पारिवारिक जिम्मेदारियाँ इनमें खींचातानी होने लगती है। कार्यकर्ता स्वस्थ मानसिकता में तभी कार्य कर सकता है जब वह अपने पूरे परिवार को अपने इस विशाल व्यापक उच्चतम कार्य की प्रेरणा से प्रेरित करता है। किसी भी सामाजिक कार्य में अपने परिवार का, खास करके अपनी सहचारिणी का साथ मिलना अत्यावश्यक है यह कार्यकर्ता ने ध्यान में लेना चाहिए। इस लिए यह बात प्राथमिक महत्त्व की होती है कि कार्यकर्ता घर के बाहर जो कार्य करता है उसकी पूरी जानकारी, उसकी महत्ता तथा सात्त्विकता का पर्याप्त परिचय परिवार के सभी घटकों को हो। उसीसे वे इस कार्य से मानसिकता से जुट जाते हैं और आगे चल कर उनका पूरा सहकार्य तथा सहयोग कार्य में मिलता रहता है। धीरे धीरे इस कार्य की महानता का अनुभव भी वे करने लगते हैं। पूरा परिवार कार्य के प्रति समरस हो जाता है। जब अपने कार्य के प्रति अपने परिवार के पारिवारिक समरसता के भाव का अनुभव प्रापंचिक कार्यकर्ता करता है तब उसको अपने कार्य में बढ़ावा मिलता है और सामाजिक-प्रापंचिक खींचातानी से वह बच सकता है। संघजीवन में ऐसे अनगिनत कार्यकर्ता रहे हैं जिन्होंने यह पारिवारिक समरसता के भाव को अनुभव करते करते ही अपना कार्य बढ़ाया है।

कार्यकर्ता का मापदण्ड

अगर कार्यकर्ता के लिए हमने कोई एक मापदण्ड तय किया है तो वह है उसकी विश्वसनीयता। भले ही किसी व्यक्ति की क्षमता (ability), कुशलता (expertise), कार्यतत्परता (efficiency) अच्छी हो, फिर भी अगर उसमें conviction के आधार पर अपने कार्य के प्रति निःस्वार्थ प्रतिबद्धता (commitment) न हो, तो हम उसे कार्यकर्ता नहीं मानेंगे। क्षमता, कार्यकुशलता तथा तत्परता एक ओर और विश्वसनीयता तथा सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता दूसरी ओर, इनमें से अगर चुनना है तो हम कम क्षमता आदि गुणवाला लेकिन पूर्ण समर्पितता, प्रतिबद्धता और विश्वसनीयता होने वाला कार्यकर्ता चुन लेंगे। असमर्पित कर्तृत्ववान व्यक्ति से आत्मसमर्पित कम कर्तृत्ववान व्यक्ति हमारे कार्य की दृष्टि से हम स्पृहणीय मानते हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र में तो professionalism और conviction इनकी प्रतिद्वंद्विता हमेशा नजर आती है। लेकिन संघ में ध्येय-प्रतिबद्धता, समर्पितता, विश्वसनीयता को ज्यादा महत्त्व प्राप्त होता है।

■ पागल लोगों का संगठन

एक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हमारा संगठन पागल लोगों का एक संगठन है। क्योंकि हमारे कार्यकर्ताओं में व्यावहारिक चतुराई का पूर्ण अभाव रहता है और पागलपन का स्वीकार हमने हेतुपूर्वक किया है। ऐसा नहीं है कि हमारे कार्यकर्ता चतुराई की क्लृप्तियाँ जानते ही नहीं, इस संदर्भ में वे बिल्कुल अनाड़ी हैं। लेकिन इनके समर्पित भाव के कारण ऐसे मार्गों का सहारा नहीं लेना है यह उन्होंने जानबूझकर तय किया है। इस में ही हमारे कार्य और कार्यकताओं की प्रतिष्ठा है। हमारे कार्य में शीघ्रगति से सफलता नहीं मिलेगी, शायद समय समय पर असफलता भी आएगी। तो भी अपनी रीति-नीति पद्धति से, मूल्यों से समझौता करके सफलता के लिए ऐसे short cuts हम नहीं अपनाएँगे। अपने अपने क्षेत्र में संघ ने जो मार्ग बताया है उसी का अनुसरण हमें स्थिर बुद्धि से करना है। उसमें और भी एक बात ध्यान में लेना चाहिए। ऐसी बुद्धिमानी से थोड़े समय के लिए लोगों को कोई गुमराह कर सकता है। लेकिन ज्यादा देर तक किसी को गुमराह करना संभव नहीं होता है। अंग्रेजी में एक सूत्र आया है – One can befool some people for all times or all people for some time; but no one can befool all people for all times. अर्थात, कोई व्यक्ति थोडे लोगों को हमेशा के लिए बेवकूफ बना सकता है; या सभी लोगों को थोड़े समय के लिए बेवकूफ बना सकता है। लेकिन, कोई भी आदमी सभी लोगों को हमेशा ही बेवकूफ नहीं बना सकता।

सार्वजनिक जीवन में ऐसी चतुराई से जल्दबाजी होने का कारण है कुछ निहित स्वार्थ या हितसंबंध। लेकिन अपने कार्य में तो कार्यकर्ता के मन में पूर्ण समर्पितता का नि:स्वार्थ भाव रहता है। यहाँ स्वयं के लिए कुछ पाने का सवाल ही नहीं उठता। केवल देना ही है।

और यह नि:स्वार्थ, समर्पण की भावना तभी पैदा होती है जब कार्यकर्ता के मन में अपने ध्येयसंकल्प की पूर्ति का मात्र एक साधन इस दृष्टि से स्वयं के बारे में भाव स्थिर हो जाता है। राष्ट्रदेवता के इस पूजन में देवता पर चढ़ाए गए फूल के रूप में जब कार्यकर्ता स्वयं को देखता है तब अनायास उसके अहंभाव का भी विलय हो जाता है।

■ आत्मसमर्पण की भावना के कारण प्रचंड मनोबल

ऐसी समर्पित मानसिकता के कारण ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता की आंतरिक शक्ति कुछ अलग ही रहती है। अहंकाररहित आत्मार्पण की भावना से कार्यकर्ता में एक प्रचंड मनोबल पैदा होता है। अगर ऐसा मनोबल रहा तो शारीरिक शक्ति कम होने के बावजूद भी आदमी प्रचंड कार्य कर सकता है। अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। कम्युनिस्ट जगत में और पश्चिम में गुरिल्ला युद्ध (guirilla war) के तंत्र के जन्मदाता चे ग्वेवारा की सहायता से क्यूबा में फिडेल कॅस्ट्रो ने सत्ता प्राप्त की। कॅस्ट्रो ने उनको सेंट्रल बँक का गवर्नर नियुक्त किया। लेकिन कुछ दिन बाद ही जब चे ग्वेवारा ने सुना कि कुछ दक्षिण अमरीकी देशों में भी स्वातंत्र्य संग्राम उभडकर आ रहा है तो फिर ऐसे संग्राम में हिस्सा लेने के लिए वे अपना पद छोड़कर बोलेविया में चले गए। जंगल में रहकर गुरिल्ला युद्ध का संचालन किया और वही उनकी मृत्यु भी हुई। उस समय उनको अस्थमा, ब्राँकायटिस जैसी बीमारी थी। फिर भी केवल मनोबल के आधार पर उन्होंने उस बीमारी में भी युद्ध का संचालन किया।

अपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह माननीय माधवरावजी मुले का उदाहरण ऐसा ही है। आपात्काल में (Emergency) उनकी तबियत बहुत ही खराब थी। फिर भी संपूर्ण देश में जो भूमिगत संघर्ष (underground activity) तानाशाही के मुकाबले में चल रहा था उसका संचालन माधवरावजी ने अतीव सक्षमता से किया। आपात्काल की पाबंदी उठने के बाद ही उनकी मृत्यु हो गई।

नक्षलवादी आंदोलन के प्रणेता चारू मुझुमदार ने घोर बीमारी की अवस्था में ही एक नया क्रांतिकारी आंदोलन बड़ी सक्षमता से चलाया। जब वे गिरफ्तार हुए तब सब को आश्चर्य हुआ कि उनके पास न तो कोई रायफल या पिस्तौल था या न कोई हँडग्रेनेड था। उनके पास केवल एक ऑक्सिजन सिलेंडर था जिसकी उन्हें तबियत की खराबी के कारण जरूरत पड़ती थी।

इसका मतलब है, कार्यकर्ता की शक्ति, शारीरिक क्षमता भी उसके मनोबल पर निर्भर रहती है और ऐसी शक्ति का स्तर प्रसंगवशात्, परिस्थिति या समय के अनुसार बदल सकता है यह अनुभव है। उसका अंदाज लगाना इतना आसान नहीं है। इसलिए वह मनोबल पर निर्भर है यह कहना उचित है।

महाराष्ट्र के इतिहास में एक उदाहरण आया है सरदार बापू गोखले का। एक दिन घर में नाई के हाथ से दाढ़ी बनाते समय चोट लग गई। तात्काल उनके मुँह से वेदना के कारण 'स् स्' ऐसे शब्द निकले। तो नाई को बड़ा

आश्चर्य हुआ। इतना बड़ा सेनापति इतनी मामूली चोट से 'स् स्' करता है। उन्होंने कहा - 'कमाल की बात है। आप इतने बड़े सेनानी और इतनी छोटी सी चोट सह नहीं सकते?' बापू ने कुछ जवाब नहीं किया। दाढ़ी होने के बाद नाई को अपना एक पैर सामने रखने को कहा। बाद में उसपर अपना पैर रखा। कोने में भाला था वह हाथ में लेकर इतना जोर से पैरों में घुसेड़ दिया कि दोनों पैर पार करके वह जमीन में घुस गया। नाई चिल्लाने लगा। बोला, 'मैंने क्या अपराध किया था कि मुझे आपने ऐसी सजा दी।' बापू ने कहा, 'यह सजा नहीं है। यह तुम्हारे सवाल का जवाब है। दाढ़ी बनाते समय चोट लगी तो वेदना से स्स् करने वाला मैं युद्धभूमि पर कैसा लड़ता हूँगा, इस बात का यह जवाब है। अब भाला तो मेरे पैर में भी घुस गया है लेकिन तुम चिल्ला रहे हो और मैं हँस रहा हूँ।' तो दो बातें अलग अलग हैं। क्योंकि दोनों अवसर की मानसिकता (spirit) अलग अलग होती है। व्यक्ति एक ही, लेकिन दाढ़ी के समय की शक्ति का स्तर अलग और लड़ाई के समय की शक्ति का स्तर अलग।

हमारे सामान्य जीवन में भी हम इसका अनुभव कर सकते हैं। हमारा घराना निम्न मध्यमवर्गीय (lower middle class) का है। लेकिन हमारे एक चचेरे भाई ने किसी संपन्न घराने के लड़की से शादी की। हमारे घर आने के बाद उस बहू को घर की रसोई आदि काम करना पड़ता था जिसकी उसको आदत नहीं थी। चपाती करते समय या चूल्हे से बर्तन उतारते समय हाथ की जलन होती थी वह उससे सही नहीं जाती थी। संजोग से एक दिन घर में आग लग गई। सभी ओर से ज्वालाएँ घर को लपेट रही थीं। सब लोग तो तुरंत बाहर आए। लेकिन यह बहू के ध्यान में आया, अपना नन्हा बच्चा तो अंदर ही रह गया। अब ध्यान में आते ही स्वयं की बिल्कुल फिक्र न करते हुए, जलते हुए मकान में वह घुस गई। दूर अंदर अपना बच्चा था उसको झटके से उठाकर बाहर आई। जब तक उसकी साड़ी जलने लगी थी। बदन भी कुछ मात्रा में आग का शिकार बन गया। अब सोचने की बात है कि घर का काम करते समय चूल्हे की आग से जो डरती थी उसमें जलते हुए मकान में, आग की फिक्र न करते हुए प्रवेश करके, अपने बच्चे को बचा कर लाने का साहस कैसे पैदा हो गया? यह शक्ति का स्तर है उसके मनोबल का। उस मनोबल को उचित और पर्याप्त आवाहन प्राप्त हुआ और वह प्रकट हो गया। अपने कार्य में यह आवाहन अपने अधिष्ठान से ही हमें प्राप्त होता है।

ध्येय के साथ एकात्म होने से विजिगीषु वृत्ति

ध्येय के साथ एकात्म होने से ऐसा जो मनोबल कार्यकर्ता को प्राप्त होता है, उससे एक जबरदस्त आत्मविश्वास उसके मन में पैदा होता है। और इस जबरदस्त आत्मविश्वास के आधार पर किसी की साथ न होते हुए भी अकेले ही चुनौतियों का सामना करने में उनको कोई आपत्ति नहीं होती है।

ऐसा ही आत्मविश्वास आर्य चाणक्य ने प्रकट किया था। विशाखादत्त के 'मुद्राराक्षस' इस नाटक में एक प्रसंग आया है। आर्य चाणक्य अपने गुप्तचर से पूछताछ कर रहे हैं और साम्राज्य की परिस्थिति का अंदाजा ले रहे हैं। उस दिन यही सुनने का अवसर आया कि यह राजा अपना दल छोड़ कर चला गया, वह सेनापति शत्रुदल में चला गया, वह भी हम को छोड़कर जा रहा है...आदि आदि। सभी समाचार उनकी साथ छोड़कर जानेवालों के हीं थे। वह सुनकर चाणक्य कहते हैं –

एका केवलमर्थसाधनविधौ सेना शतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलन दृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥

मतलब यह कि जिन्हें छोड़कर जाना था वे चले गए। जो छोड़कर जाना चाहते हैं वे भी चले जाएँ, कोई चिन्ता की बात नहीं। लेकिन ईप्सित प्राप्त करने में जो सैकड़ों सेनाओं से भी अधिक बलवान है और नन्द साम्राज्य के निर्मूलन के कार्य में जिसके वीर्य की महिमा दुनिया ने देख ली है केवल वह मेरी बुद्धि मुझे छोड़कर न जाए। कितना प्रचंड आत्मविश्वास है।

ऐसा ही एक उदाहरण पहले बाजीराव पेशवा का है। वे उत्तर दिग्विजय करना चाहते थे। स्वराज्य तो नया नया था और ऐसे दिग्विजय के लिए आवश्यक साधन-सामग्री उनके पास नहीं थी। इस कारण शाहू छत्रपति बाजीराव को उत्तर दिग्विजय की अनुमति नहीं दे रहे थे। उस समय बाजीराव ने लिखा कि, 'आप हमें केवल अनुज्ञा दीजिए। सेना खड़ी करना, आवश्यक कोष निर्माण करना और साधन जुटाना यह काम हम करेंगे..... आप के आशीर्वाद से हम हिन्दुस्थान जीत लेंगे।'

लिपझिक की लड़ाई में नेपोलियन के पास उनके सहकारी पहुँचे और बड़ी चिंतावाली खबर बताई कि शत्रु की सेना की संख्या हमारी सेना से तीन गुना है। नेपोलियन ने कहा उसमें चिंता की क्या बात है? तुम्हारी भी संख्या उतनी ही है। अब वास्तव में नेपोलियन की संख्या केवल पचास हजार थी

और शत्रु की संख्या डेढ़ लाख थी। तो नेपोलियनने कहा, 'देखो, आपके पास पचास हजार की सेना है और मैं स्वयं एक लाख। दोनों मिलकर देढ़ लाख हुए तो हमारी सेना तो उनकी सेना के बराबर ही है।' अब केवल पचास हजार सेना साथ होने के बावजूद जो स्वयं अकेले की ताकद और हिम्मत एक लाख सैनिकों के बराबर समझता है उसके पास कितना प्रचंड आत्मविश्वास होगा। नेपोलियन का यह उदाहरण, गुरु गोविंदसिंहजी के उस वाक्य का स्मरण दिलाता है – 'सवा लाख से एक लड़ाऊँ कबै गोविंदसिंग नाम कहाऊँ।'

पहले महायुद्ध में फ्रान्स में मार्न नदी के किनारे तक जर्मन सेना आ पहुँची। तब फ्रेंच जनरल जॉफ्रे ने बीस अॅडज्यूटन्ट्स को बुलाया और बताया कि अब पीछे हटना तो संभव नहीं है। प्रत्याघात के सिवा कोई चारा नहीं। तो प्रत्याघात शुरू करो और अडतालीस घंटों के अंदर मुझे टेलिग्राम करो। बीस में से उन्नीस अधिकारी हार मान कर बैठे। जर्मन सेना जब पॅरिस से लगभग बीस मील तक आ पहुँची तब केवल अॅडज्यूटन्ट फॉ (Fotch) ने अपने कमांडर जनरल जॉफ्रे को टेलिग्राम भेजा था - उसका मतलब था

My right recedes, my centre gives way!
Situation is excellent, I shall attack!

याने 'मेरे साथ वाली दाहिनी बाजू पीछे हट गई है। मध्य की बाजू टूट गई है। (लेकिन) परिस्थिति बहुत ही अच्छी है। मैं तो प्रत्याघात करूँगा ही।' बाद में उन्हें संवाददाताओं ने पूछा कि तुम्हारे साथ वाले उन्नीस अॅडज्यूटंट्स सब परास्त हुए। फिर आप अकेले विजयी कैसे हुए। तो उन्होंने इतनाही सीधा जवाब दिया, 'मुझे विजय प्राप्त हुई इसका कारण मैंने निर्धार किया था कि मैं परास्त नहीं हूँगा। (I was simply determined not to be defeated)

दूसरा उदाहरण फ्रान्स के संदर्भ में ही है। दूसरे महायुद्ध में फ्रान्स का पूरा पराभव हुआ। पॅरिस भी जर्मनों के हाथ में चला गया। मार्शल पेताँ के नेतृत्व में बोर्डो गाँव में एक प्राथमिक पाठशाला में, आगे चलकर क्या करना, इसके बारे में विचार करने के लिए राजनीतिक नेता तथा सेनानी बैठे थे। आम लोगों की ज्यादा मात्रा में कत्ल न हो इस दृष्टि से शरणागति स्वीकार लेने का निर्णय हुआ। लेकिन जनरल द गॉल को यह मंजूर नहीं था। उन्होंने इस निर्णय के खिलाफ भाषण दिया और वे बैठक में से भाग निकले ताकि उनको कैद न हो। सीधे लंडन में आए और फ्रान्स का विस्थापित शासन (Govt. in exile)

घोषित करके शरणागति न स्वीकारते हुए वहाँ से जर्मनों के खिलाफ संघर्ष जारी रखने का निश्चय घोषित किया। अपने आत्मचरित्र में इस समय स्वयं की स्थिति के बारे में उन्होंने लिखा है –

I was nothing at the start. At my side, there was no so much as a shadow of an army or any organisation. In France, I had no guarantor and no reputation. Abroad, I had neither credit nor justification. अर्थात, 'शुरू में मेरे पास न कोई साथ देने वाली सेना थी, न तो फ्रांस में मैं ख्यातनाम था या मेरा न कोई भरोसा देनेवाला था। विदेश में भी न मेरी कोई पत थी या न कोई मेरा समर्थक था।

फिर भी धीरज रख कर बिना किसी साधनों के साथ भी उन्होंने संघर्ष जारी रखा और आखिर में फ्रान्स के लिए विजय हासिल की।

हमारे यहाँ कहा है –

क्रिया सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

अर्थात, महान लोगों की कार्यसफलता साधनों पर नहीं, उनके सत्त्व पर निर्भर रहती है। ध्येय के साथ एकात्म होने से निर्माण हुए इस आत्मविश्वास के आधार पर ही कार्यकर्ता सफलता पाता है। सफलता पाने के लिए अगर कुर्बानी भी करनी पड़ती है तो भी यह कुर्बानी विफल नहीं होने देता है।

हमारे इतिहास में ऐसा उदाहरण आता है, श्री शिवाजी महाराज के एक साथीदार बाजीप्रभू का। शिवाजी का पीछा करने वाली सेना की संख्या बहुत ही ज्यादा थी और वह तेज भी थी। अगर शिवाजी महाराज उनके हाथ लग जाते तो हिन्दवी स्वराज्य का संकल्प वही समाप्त होता। सोचा गया कि जिस छोटी सी घाटी से गुजरते हुए आगे बढ़ना है उधर ही अपने कुछ इनेगिने, चुने हुए साथी सैनिकों की हिम्मत पर बाजीप्रभू उस घाटी में शत्रुसेना को रोकें और शिवाजी कुछ सैनिकों के साथ आगे निकल जाएँ। यह भी तय हुआ था कि शिवाजी महाराज आगे बढ़कर विशालगड सुरक्षित पहुँचते ही तोपों की आवाजें होंगी। तब तक घाटी में शत्रु को रोकना है। अब सामने मृत्यु दिखाई दे रही थी। किंतु जब तक तोपों की आवाजें नहीं आतीं तब तक आखिरी दम तक शत्रु से जूझेंगे और उन्हें घाटी पार करने नहीं देंगे यह निश्चय था। एक एक साथी घायल होकर धराशायी होने लगा। स्वयं बाजीप्रभू भी खून से लथपथ हुए थे। फिर भी सभी के कान तोपों की आवाजों की ओर लगे थे और जब

तक आवाजें नहीं सुनाई देती तब तक वे मरने को भी तैयार नहीं थे। सभी ने प्राण तभी छोड़े जब शिवाजी महाराज विशालगड सुरक्षित पहुँचे यह सूचना देने वाली तोपों की आवाजें सुनाई दीं।

रोम के इतिहास में भी ऐसा प्रसंग है। शत्रू की भारी सेना रोम के पास आ पहुँची थी। वहाँ की टायबर नदी पर जो पुल था वह पार कर वह रोम का कब्जा ले सकती थी। उसके मुकाबले में रोम की सेना बहुत ही कम थी। तो ऐसा तय हो गया कि ऱ्हेटॅशिअस नाम के वीर के नेतृत्व में केवल तीन वीरपुरुषों ने शत्रु सेना को पुल के उस पार ही रोक रखना है और तब तक इधर पुल तोड़ा जाए ताकि शत्रुसेना रोम तक नहीं आ सकेगी। इतनी भारी शत्रुसेना और केवल तीन वीर पुरुष उसे रोक रहे हैं। बाकी दोनों की मृत्यु होने के बाद भी अकेला ऱ्हेटाशिअस लड़ता रहा। जब तक पुल नहीं टूटा और यह विश्वास नहीं हुआ कि अब शत्रुसेना किसी भी हालत में रोम नहीं पहुँचेगी तब तक वह लड़ता रहा। केवल तीन पुरुषों के पराक्रम से रोम उस समय बच गया। यह घटना ईसा पूर्व ४८८ की है।

जो व्यक्ति अपने ध्येय से एकात्म होता है वह बाजीप्रभू या ऱ्हेटॅशिअस के समान होता है। उसे नहीं लगता है, हम अकेले हैं, थोड़े ही हैं, हम से यह कैसे होगा? काम कैसे निभाना? उन्हें विश्वास रहता है, हमारा ध्येय उदात्त है, हमारी विजय तो निश्चित है।

विश्व में जब कोई ऐतिहासिक परिवर्तन हुआ है वह कुछ इने गिने चुने लोगों ने अपने आत्मविश्वास से ही कर दिखाया है। लेनिन ने इसे determined minotiry कहा है। ध्यान में आता है कि जय-पराजय तो केवल संख्याबल पर नहीं बल्कि कार्यकर्ता की आदर्श निष्ठा पर, निश्चय पर, धीरज और साहस पर अवलंबित होता है।

■ ध्येय की आंतरिक शक्ति का वाहक

इसका कारण है, व्यक्ति जब 'अहं' को भूल जाता है, स्वयं को ध्येय में विलीन कर देता है तब उसकी शक्ति असीम होती है। अगर व्यक्ति अपने अहं को लेकर चल रहा हो तो उसकी अकेले की ही शक्ति काम आती है। लेकिन ध्येय में 'अहं' को विलीन करने के कारण ध्येय की जो अंगभूत आंतरिक शक्ति intrinsic strength होती है उस असीम शक्ति का वह वाहक बन जाता है। लोगों को आश्चर्य होता है कि बाजीप्रभू या ऱ्हेटॅशिअस जैसे लोगों के अंदर

इतनी शक्ति कैसी आती है। ऐसा साहस ये कैसे कर सकते हैं। तो हमें यह ध्यान में रखना है, यह शक्ति ध्येय के आंतरिक शक्ति के वाहक इस नाते उनमें पैदा होती है।

और जब ऐसे निजी अहंकार ध्येय में मिलाकर कार्यकर्ता इकट्ठे आते हैं तब संगठन की शक्ति केवल संख्यात्मक दृष्टि से बढ़ती नहीं। तो गुणात्मक शक्ति भी बढ़ती है। अब संख्यात्मक शक्ति में एक और एक मिलाकर दो होते हैं, दो और एक मिलाकर तीन, तीन और एक मिलाकर चार, ऐसी श्रेणी में शक्ति बढ़ती है। लेकिन जब ध्येय के प्रति निरहंकारिता से समर्पित कार्यकर्ता एक साथ आते हैं तब शक्तिबंधन का सूत्र अलग हो जाता है। अब एक और एक मिलाकर ग्यारह होते हैं, दो नहीं। तीसरा कार्यकर्ता खड़ा होता है तो एक सौ ग्यारह होते हैं और चौथा कार्यकर्ता मिलता है तो एक हजार एक सौ ग्यारह होते हैं, चार नहीं।

■ विपरीत परिस्थिति में भी अडिग

ऐसी निरहंकारी ध्येयसमर्पितता के कारण प्रतिकूल, विपरीत परिस्थिति में भी कार्यकर्ता अपना धीरज न खोते हुए स्थिर चित्त से काम कर सकता है। हमारे कार्य की दृष्टि से परिस्थिति कभी बहुत विपरीत, प्रतिकूल होगी, कभी थोड़ी सी अनुकूल होगी। ऐसे सभी हालातों में कार्य की सफलता के लिए कार्यकर्ता की मन:स्थिति शान्त, संयत और संतुलित होना अतीव आवश्यक है। यह कठिन तो है ही। भारतीय युद्ध के प्रारंभ में ही जब अर्जुन जैसे योद्धा के मन में भी दुर्बलता, क्लैब्य का भाव निर्माण हुआ तब भगवान ने कहा –

सुखदु:खे समे कृत्वा, लाभालाभौ जया जयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (भ.गी.२-३८)

सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय ऐसे सभी हालातों में अपना संतुलन रखके अब क्षत्रिय इस नाते 'युद्धाय युज्यस्व' युद्ध के लिए युद्ध करो। थोड़ी विजय हो तो आनंद हुआ, पराजय हुई तो एकदम दुख हुआ ऐसा नहीं। कार्य करना यही अपना कर्तव्य है। उसका फल क्या होता है, अच्छा या बुरा, यह देखके की आवश्यकता नहीं। हम कार्य करते ही जाएँगे। अंततोगत्वा हमें जहाँ पहुँचना है, जरूर पहुँचेंगे। इसलिए मन की स्थिरता होनी चाहिए। यह स्थिरता सभी अच्छे बुरे प्रसंगों से रास्ता निकालने के लिए बहुत आवश्यक है। हमें यह

समझना चाहिए कि कार्य करना ही आनंद है। Work is its own reward! हम कार्य कर रहे हैं यही हमारे लिए पुरस्कार है।

इस दृष्टि से भगवद्गीता में कार्यकर्ता का जो विवरण किया है वह हमारे लिए बहुत ही उद्बोधक रह सकता है।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ (भ.गी. १८-२६)

मतलब है, जो अनासक्त है, निरहंकारी है, धैर्य तथा उत्साह से युक्त होता है, अपने कार्य की सफलता या असफलता से जिसके मन की साम्यावस्था ढ़ल नहीं सकती ऐसे ही कार्यकर्ता को सात्त्विक कर्ता कहा जाता है। हमारा कार्यकर्ता ऐसे सभी गुणों से युक्त, सात्त्विक कार्यकर्ता बने यह हमारा प्रयास रहता आया है।

ऐसे कार्यकर्ता के मन में अपनी कार्यसिद्धि के बारे में कभी निराशा नहीं पैदा होती। आदर्श क्या है यह तो उनके सामने हमेशा रहता है ही, फिर भी धरातल के वास्तव का भान भी पक्का रहता है। उन्तीस हजार फीट की एव्हरेस्ट की चोटी तक पहुँचना है, फिर भी उसके लिए पहला कदम तो उन्तीस इंच का ही होगा यह वह जानता है। एव्हरेस्ट जाने वाले एकदम ऊपर जाने का तो विचार नहीं करते हैं। थोड़ा ऊपर चढ़ते हैं, फिर कॅम्प लगाते हैं, राह बनाते हैं। भोजन, विश्राम करते हैं। फिर आगे चढ़ते हैं। ऐसे करते करते ही चोटीपर पहुँच जाते हैं। हजार मील पैदल जाना है तो भी पहला कदम तो डेढ़ फीट का ही बढ़ाना पड़ेगा, यह चलनेवाले को मालूम होता है। इस दृष्टि से हमारा कार्यकर्ता व्यवहारी आदर्शवादी (practical idealist) होता है। इसके कारण वह कार्यसिद्धि के बारे में निराशा का शिकार कभी नहीं बनता। 'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः' यश-अपयश में निर्विकार ऐसी उसकी वृत्ति रहती है।

ऐसी संतुलित मानसिकता के कारण ही उसके मन पर कभी अधैर्य या उतावली का असर नहीं होता है। कभी भी now or never यह मानसिकता पैदा नहीं होती। कार्यसिद्धि की लगन होने के कारण वह जल्दी पूरा हो जाए ऐसा उसका भी प्रयास रहता है। लेकिन धीरज छोड़ कर कार्यहानि करने वाली जल्दबाजी वह नहीं करता है। पू. गुरुजी ने किए हुए Hasten slowly इस संकेत का जो उल्लेख पिछले विभाग में आया है वह इस संदर्भ में ध्यान में लेना आवश्यक है।

अपना संगठन का कार्य कल्पतरू की तरह है। आप को मालूम होगा कि कल्पतरू के नीचे जाकर इच्छा करने से सारी कामनाएँ तृप्त हो जाती हैं ऐसा माना जाता है। जो चीजें हम चाहते हैं वे सामने आ जाती हैं। हम धीरज रख कर संगठन के अंतर्गत काम करेंगे तो सफलता मिलेगी ही। लेकिन संगठन के कल्पतरू की शक्ति न जानते हुए अगर धीरज छोड कर काम करेंगे तो न केवल हमारी, बल्कि संगठन की भी हानि होगी। एक बार ऐसा हुआ कि भूखा-प्यासा आदमी थककर कल्पतरू के नीचे आ गया। उसे पता नहीं था कि वह कल्पवृक्ष था। मन में आया प्यास लगी है। पानी मिलता तो अच्छा होता। अब कल्पतरू के नीचे ही बैठा था। तो पानी आ गया। फिर भूख का सोचा तो भोजन भी मिला। लेकिन खाना खा कर जब वह आराम से बैठा, तब मन में आया आखिर ये सब चीजें कहाँ से आईं? कोई दिखाई तो नहीं देता। शायद लाने वाला कोई शैतान भी हो सकता है। तो सचमुच शैतान उपस्थित हो गया। अब यह पांथस्थ घबराकर सोचता है कि कहीं हमें यह खा न जाए। तो शैतान ने उसे खा भी लिया।

ठीक यही हालत धीरज न रखने वाले अपने कार्यकर्ता की हो सकती है। यदि धीरज से काम करे, सन्तुलित मानसिकता से काम करे, तो संगठन का कल्पवृक्ष हमारी कार्यसिद्धि की तमन्ना पूरी करेगा ही !

अगर कार्यकर्ता स्थिर मानसिकता से काम में जुटा रहता है तो किसी भी विपरीत परिस्थिति में भी न डगमगाते हुए मार्ग निकालता है। जो अच्छे और कर्तृत्ववान कार्यकर्ता होते हैं, संकटकाल और चुनौतियों के समय उनका कर्तृत्व प्रकट होता है। बाहर से प्रतिकूलता का आव्हान प्राप्त होने पर उसका पूरी सामर्थ्य से मुकाबला करने के लिए वे हमेशा सिद्ध रहते हैं। वे रबड़ की गेंद की तरह होते हैं। यदि कोई रबड़ की गेंद को जमीन पर पटकता है तो वह पटकने वाले के सिर के ऊपर तक उछलती जाती है। जिसका चित्त स्थिर है, अपने काम के प्रति समर्पित है वही चुनौतियों से उछलता है। अस्थिर, असंतुलित मानसिकता ऐसे मौके पर कायरता की शिकार बनती है। जैसा शेक्सपियर ने कहा है, Cowards die many times before their death. याने कि जो कायर होते हैं, वे अपनी मृत्यु के पूर्व ही अनेक बार मर चुके होते हैं। 'कायर तो जीवन मरत दिन में बार बार, प्राण पखेरू वीर के उडत एक ही बार।' बहादुर तो एक ही बार मरता है, इतना ही नहीं, अपना जीवितसंकल्प, जिद, साहस इनके आधार पर कठिनाई को अवसर

में बदलने की हिम्मत भी इन बहादुर कार्यकर्ताओं में होती है (converting calamity into opportunity) जैसे कि ये दो बातें एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जिसे बाद में William the Conquerer कहा गया वह विल्यम इंग्लैंड की भूमि पर आक्रमण करने के लिए हॉलंड से सेना लेकर आया। समुद्र से बाहर जमीन पर जैसा ही पहला पैर उन्होंने रखा, तो पैर फिसल गया। एक हाथ के ऊपर उन्होंने अपने को सँभाला। अब इसे बुरा शगुन समझकर सैनिकों में कानाफूसी होने लगी। विल्यम ने देखा, इसके कारण सैनिकों का मनोबल कमजोर होने लगा। तब उन्होंने आज्ञा दे दी कि, सामने के पहाड़ की चोटी के पास चलें, कोई भी पीछे न देखें। मैं वहाँ आप से बात करना चाहता हूँ। सब लोग आगे चले। जिन जहाजों से वे सब आए थे, उनको जला देने की आज्ञा अपने खास विश्वस्त लोगों को विल्यम ने दे दी और स्वयं सैनिकों के साथ पहाड़ की चोटी के पास पहुँचा। पहली बात उन्होंने बताई कि भगवान ने यहाँ आते ही हमें बड़ा आशीर्वाद दिया। जैसे ही मैंने इस भूमि पर कदम रखा, मेरी हस्तमुद्रा इस भूमि पर लग गई। तो हमारी विजय निश्चित है। और अब समुद्र की ओर पीछे देखो। जिन जहाजों से हम आए हैं वे सारे जलाए जा रहे हैं। अब वापिस जाने के लिए कोई रास्ता नहीं है। हमें इसी भूमिपर रहना है तो हम बहादुरी के साथ लड़ेंगे, विजय प्राप्त करेंगे अथवा हमारी मृत्यु होगी। लेकिन वापस जाना अब बिल्कुल असंभव है। सैनिकों ने देखा अब दूसरा कोई रास्ता नहीं है, तो पूरी ताकत और बहादुरी के साथ लड़े। उन्होंने विजय प्राप्त की।

तो हर बात को देखने का, हारजीत को देखने का ढंग होता है। सही नेतृत्व उसी का होता है कि जो बदशगुन को भी शुभशगुन के रूप में प्रस्तुत करके, आपत्ति को भी अवसर के रूप में सामने रखकर अनुयायियों की हिम्मत बढ़ाता है।

■ कार्यकर्ता विचलित होने के मनोवैज्ञानिक कारण

लेकिन हम देखते हैं कि आजूबाजू के विपरीत वायुमंडल के कारण कार्यकर्ता कई बार विचलित होते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो इसके तीन कारण दिखाई देते हैं। पहला है, भूतकाल की त्रुटियों का, गलतियों का पछतावा, जो खो गया है उसके लिए शोक (past regrets); दूसरा भविष्य के बारे में आशंकाएँ (future fears) और तीसरा है वर्तमान का तनाव (present tension)। कार्यकर्ता को इन तीनों से स्वयं को बचाना चाहिए। ध्यान में आता है कि विपरीत परिस्थिति

में मन में पैदा हुई कमजोरी के कारण कई श्रेष्ठ पुरुषों के मन में भी तात्कालिक ही क्यों न हो, विचलितता आती है। एक उदाहरण याद आता है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में जिन्होंने अपना सर्वस्व मातृभूमि के चरणों पर अर्पण किया, ऐसे स्वातंत्र्यवीर सावरकर जब अंदमान में पचास वर्ष की सजा अपने सीने पर लेकर उससे जूझते थे, तो १९२०-२१ के दरमियान बहुतही भारी बीमारी की पीड़ा उनको त्रस्त कर रही थी। मानो साक्षात मृत्यु का ही दर्शन हो रहा था। ऐसी स्थिति में मन की विकल अवस्था होना स्वाभाविक था। उस समय उन्होंने एक दीर्घ कविता मराठी में लिखी थी – 'मरणोन्मुख शय्येवर।' उसमें मृत्यु को ही आवाहन करके उन्होंने कहा है कि 'अब मेरी ये आँखें चैन से बंद करो अगर करना ही हो तो। लेकिन आज लगता है, प्रीति क्षणमात्र थी, विरह तो चिरंतन है।' और जो प्रौढ अवस्था में भी सह नहीं सकती ऐसी बातें मुझे नवयौवनावस्था में निभानी पड़ती हैं। और चांदनी रातों में क्रीडा करने का षौक तो अधूरा ही रह गया।' आगे भी और ऐसी खोई हुई बातों के बारे में अपने मन की व्यथा उन्होंने इस कविता में व्यक्त की है। तो इतने महान क्रांतिकारी नेता का मन भी प्रसंगवशात पलभर विचलित हो सकता है। इसलिए कार्यकर्ता को इन तीनोंसे - भूत, भविष्य, वर्तमान के विचलित करने वाले कारणों से स्वयं को सावधानी से बचाना चाहिए। भूतकाल की त्रुटियों के, गलतियों के बारे में सोचना तो जरूर चाहिए ताकि वे दोहराई न जाएँ। लेकिन उनके पछतावे का बोझ मन पर रहना हानिकारक होता है। भविष्य के बारे में चिंतन जरूर करना है ताकि हम आने वाली कार्यविधि का ठीक तरह से नियोजन कर सके। लेकिन चिंतन करना और चिन्ता करना इनमें बहुत अंतर है। मुझे स्मरण है कि हमारे पिताजी बहुत चिन्ता करते थे। सदैव परेशान रहते थे। कारण कि गरीबी से ऊपर आए थे। प्रत्येक संकट का मुकाबला करते हुए ऊपर आए थे। बाद में वे ॲडव्होकेट बने। सारा जीवन उनका कष्टमय बन गया। इसके कारण चिन्ता करना यह उनकी आदत बन गई थी। जीवन के अन्तिम चरण में उन्हें पैसे आदि का अभाव नहीं था। फिर भी उनको चिन्ता रहती थी। हमारे एक दूसरे रिश्तेदार जो सन्तुलित मन के थे, उनके ऊपर बहुत आपत्तियाँ थीं, साठ सत्तर हजार का कर्जा था। लेकिन वे आराम से सोते थे। हर दिन सुबह हलवा आदि प्रसन्नता से खाते थे। जब कि पिताजी ऐसा नहीं कर सकते थे। हमेशा चिन्ता करने की और हड़बड़ में रहने की आदत बन गई थी। मैंने उस रिश्तेदार से पूछा, 'हमारे पिताजी बड़ी चिन्ता में रहते हैं। रातभर नींद नहीं आती है। और आप की स्थिति तो बहुत

खराब है, फिर भी आप रात में अच्छा सोते हैं। सुबह हलवा भी खाते हैं तो यह अन्तर क्यों?' तो उन्होंने कहा, 'तुम अपने बाप से पूछो कि उनको रातभर नींद नहीं आती तो क्या वे रातभर सोचविचार करते रहते हैं? कोई आदमी इतने लम्बे समय तक एकाग्रता से सोच विचार नहीं कर सकता। वे तो व्यर्थ चिंता करते रहते हैं। क्या होगा? कैसा होगा? इसी मन्त्र का जप रातभर करने के कारण नींद नहीं आती है।' वे दोनों बराबर की उम्र के थे इसलिए ऐसे हलकेपन से प्रेमयुक्त संभाषण चलता था। मैंने पूछा, 'तो फिर आप क्या करते हैं?' तो उन्होंने बताया, 'मैं जब बिस्तर पर लेटता हूँ तो घडी देखकर विचार कर लेता हूँ, कि जितनी भी समस्याएँ हैं उनके बारे में दस या ग्यारह बजे तक सोच विचार करना है। एकाग्रता के साथ विचार करता हूँ। जब मैं दस बजकर उनसठ मिनट पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि उनका कोई समाधान नहीं है, कोई रास्ता नहीं है तो बाद के एक मिनिट में अपने मन को समझाता हूँ कि समस्याएँ बड़ी कठिन तो हैं। लेकिन उनमें से कोई रास्ता नहीं है। रातभर जागरण करने से भी कोई लाभ नहीं, इसलिए सोया जाए। और फिर आराम से ग्यारह बजे सो जाता हूँ और छ: बजे उठ जाता हूँ।'

तो चिन्ता और चिन्तन में बड़ा अन्तर है।

और फिर तीसरी बात है। वर्तमानकाल के बारे में तनाव की भी आवश्यकता नहीं। भगवान ने जो कहा है, 'काम करो, लड़ाई करो,' वह आदेश प्रत्येक कार्यकर्ता को हृदय में अंकित करना आवश्यक है। उन्होंने आगे कहा है, 'युद्ध्यस्व विगतज्वरः। लड़ाई करो लेकिन तनाव न रखते हुए। अंग्रेजी में एक कहावत है, Let us cross the bridge, when we reach it! अर्थात, पुल तक पहुँचने के बाद ही सोचेंगे कि कैसे पार करे। लेकिन ब्रिज तो दस मील दूर है। फिर भी अभी से चिंतामग्र हो गए कि कैसे पार करें। फिर पटरियाँ कहाँ रहेंगी। कुछ पकड़ने के लिए सहारा रहेगा या नहीं। उस समय ऐसा कहा जाता है, 'भाई, वहाँ पहुँचेंगे तब सोचेंगे कैसे पार करना।' इसका मतलब, भविष्य के बारे में विचार ही नहीं करना ऐसा तो नहीं है। प्राप्त परिस्थिति में जितना विचार हो सकता है उतना तो जरूर करना है। लेकिन भविष्य की कुछ कल्पित संभावनाएँ मन में रखकर वर्तमान में केवल चिंता करते रहना बराबर नहीं।

इसके साथ ही भविष्य में आने वाली संभवनीयता का अंदाजा लेने वाली दूरदर्शिता यह नेतृत्व का एक विशेष लक्षण रहता है। दूरदर्शिता अर्थात

शेखचिल्ली स्वप्नरंजन नहीं है। कुछ बातें निश्चित होती हैं। ध्येय या अधिष्ठान, वहाँ तक जाने की दिशा, उपयुक्त साधन, आवश्यक विधिनिषेध आदि मौलिक बातों में निश्चितता होती है। किन्तु समय समय पर निर्माण होने वाली परिस्थितियों में अनिश्चितता रहती है। अपने सहयोगियों के स्वभावविशेष; विरोधियों के स्वभावविशेष तथा क्षमताएँ; अकस्मात आने वाली प्राकृतिक या मनुष्यनिर्मित बाधाएँ और घटित होने वाली घटनाएँ, सर्वसाधारण जनमानस का झुकाव जिन पर अपना नियंत्रण नहीं; ऐसे विविध तत्त्वों और ताकतों की गतिविधियाँ आदि बातों के कारण परिस्थितियाँ किस समय कैसा मोड़ लेंगी यह अनिश्चितता हमेशा बनी रहती है। उनके प्रभाव में आकर कुछ लोग प्रवाहपतित बनना स्वीकार कर लेते हैं यह उचित नहीं। किन्तु भविष्य को दिशा देने वाले नेतृत्व के लिए आगे की गतिविधियों के बारे में केवल एक ही अनुमान रखकर योजनाएँ बनाना उचित नहीं है। आने वाली परिस्थिति की अनिश्चितता के कारण विभिन्न विकल्प हो सकते हैं इसका सर्वंकष विचार करना, सभी वैकल्पिक परिस्थितियों की सम्यक् कल्पना करना, और हर एक वैकल्पिक परिस्थिति में कार्य को आगे कैसे बढ़ाया जा सकता है, इसकी विभिन्न वैकल्पिक योजनाएँ मन में तैयार रखना यह दूरदर्शिता का लक्षण है। नेपोलियन कहा करता था कि, 'मॉस्को अपने हाथ में आने के बाद वहाँ का प्रशासन किस तरह का होना चाहिए इसका प्रारूप एक जेब में रखना और साथ ही रूसी सेनाएँ बर्लिन में घुस आईं तो बर्लिन का बचाव कैसे करना, इसका प्रारूप दूसरी जेब में रखना, यह दूरदर्शिता है।' सुनिश्चित बातों के प्रकाश में सर्वथा अनिश्चित भविष्यकाल के विषय में बनानेवाली योजनाओं में लचीलापन होना चाहिए यह स्पष्ट है। यह लचीलापन यानी प्रवाहपतितत्त्व नहीं है। यह निश्चयात्मक बुद्धि का अभाव नहीं है, बल्कि परिपक्वता है।

■ ध्येयपूर्ति की अटल सफलता पर विश्वास

ऐसी मन की स्थिर अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब कार्यकर्ता के मन में कार्य के बारे में पूर्ण श्रद्धा होती है। हमारा कार्य ईश्वरीय कार्य है तो उसका तनाव, उसके भवितव्य की चिन्ता वगैरह का बोझ हम पर आने की क्या जरूरत है? हम यदि पूर्ण समर्पित भाव से कार्य करते हैं तो कार्य के बारे में सभी चिंताएँ, आशंकाएँ, तनाव भगवान पर सौंपते हुए स्थिर मानसिकता से काम करते रहे यही आवश्यक है।

इस संदर्भ में महम्मद साहब के जीवन का एक प्रसंग बताना उपयुक्त रहेगा। एक बार महम्मद साहब के सभी विरोधी लोगों ने उन्हें जान से मारने की योजना बनाकर उनके मक्का स्थित घर को घेर लिया। वे पीछे के मार्ग से निकल भागे। उनके साथ एक सहकारी अबू बकर था। विरोधी लोगों ने उनका पीछा किया। पीछा करनेवालों के पास बहुत अच्छे, तेज ऊँट थे, वैसा महम्मद साहब का नहीं था। अब शत्रु निकट आ रहा है यह देखकर अपने साथी के साथ वे पास की एक गुफा में छिपकर बैठे। शत्रुओं ने उन्हें ढूँढना शुरू किया। उनकी आने वाली आवाज से यह मालूम होता था कि उनकी संख्या बहुत थी। तो अबू बकर डरके मारे कहने लगा, 'उनकी संख्या तो ज्यादा है और हम और आप तो दो ही हैं, तो बचेंगे कैसे?' महम्मद साहब ने कहा, 'हम दो नहीं, तीन हैं।' साथी को आश्चर्य हुआ, तीसरा कौन है? आसपास में कोई दिखाई नहीं दे रहा है। तो महम्मद साहब ने कहा, 'तीसरा तो स्वयं खुदा है हमारे साथ। यदि वह हमारे मुख से अपना पैगाम लोगों से कहलाना चाहता होगा तो हमें कोई मार नहीं सकता। अगर इससे विपरीत, किसी दूसरे से यह काम होने वाला होगा तो हम नहीं बच सकेंगे।' बहुत देर तक ढूंढने पर भी शत्रु को ये दोनों का पता नहीं लगा और दोनों बच गए। जो ईश्वर पर भरोसा रखता है, मेरे ही हाथों से ईश्वरी कार्य होने वाला है ऐसी अडिग धारणा उसके मन में होती है तो ईश्वर भी सहायता करता है।

यह जो आत्मविश्वास है वह केवल व्यक्तिगत अहंभाव के कारण नहीं, बल्कि कार्य की अपरिहार्य सफलता के बारे में जो विश्वास कार्यकर्ता के मन में होता है उसी का परिचायक है। हमारा ध्येय उदात्त है, तो हमारी विजय तो निश्चित है। हमें कौन परास्त कर सकता है? इस दृष्टि से देखा जाए तो अहंकार और आत्मविश्वास इन दोनों में जो सीमारेषा है वह बहुत पतली है। कार्यकर्ता के मन में कुछ मात्रा में अहंकार होना ही चाहिए। इसीसे उसमें कार्य के बारे में कुछ पहल निर्माण हो सकती है। इस संदर्भ में श्री अरविंद का एक वचन याद आता है – Ego is an asset, ego is a liability जब तक मन अपरिपक्व है, अहंकार की प्रेरणा से व्यक्ति काम करते जाता है। ऐसी अवस्था में अगर अहंकार छूटे तो कर्म भी छूट जाएगा। निष्क्रियता आएगी। तो इस दृष्टि से अपरिपक्व अवस्था में अहंकार asset होता है। लेकिन मन की अवस्था अन्यथा परिपक्व होने के बाद भी यदि आदमी के अंदर अहंकार रह जाएगा तो वह खतरनाक है। वह liability बन जाती है। लेकिन कार्यकर्ता

के मन में अपने कार्य के प्रति जो प्रतिबद्धता होती है, उससे इस व्यक्तिगत अहंकार को वह ध्येयनिष्ठ आत्मविश्वास में परिवर्तित करता है और यह परिवर्तन कार्यकर्ता की विकासप्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण अवस्था होती है। हम इसे निरहंकारी आत्मविश्वास का भाव भी कह सकते हैं।

■ साधन सुविधाओं का विचार ही नहीं।

जब ऐसा कार्यकर्ता धीरज के साथ कार्य में डटा रहता है तब सुविधाएँ कितनी हैं? साधन कितना है? अनुकूलता है या नहीं इनके बारे में वह सोचता ही नहीं। अपने हाथ हुए सीमित साधनों के साथ ही वह आगे बढ़ता है क्योंकि साधन नहीं, बल्कि अपनी ध्येयनिष्ठा पर निर्भर मनोबल ही कामयाब होने वाला है यह विश्वास उसके मन में रहता है। कम साधन क्यों न हो, हमें तो काम करना ही है और हम करेंगे ही, सफल होकर ही रहेंगे, ऐसा उसका दृढनिश्चय रहता है। बार बार गोस्वामी तुलसीदास का कहना याद आता है, 'रावण रथी विरथ रघुराई।' रावण तो रथ पर सवार था और रामचंद्रजी तो पैदल थे। दोनों का युद्ध चल रहा था। विषम युद्ध। किन्तु राम विजयी हुए। तो कार्यकर्ता सोचता है विषम परिस्थिति में भी मैं सफल होने वाला हूँ। अपनी लगन के साथ अपने ध्येयपूर्ति के राहपर चलता रहूँ।

अब ऐसा जो साधनविरहित कार्यकर्ता होता है वह जरूरत पड़ने पर आवश्यक साधन भी स्वयं प्राप्त करता है। पूरी आत्मनिर्भरता से, निजी पहल से (initiative), कल्पकता से और आत्मविश्वास के साथ साधन जुटाने में सफल हो जाता है। प्रभु रामचंद्र तो युवराज थे। जब रावण के साथ संघर्ष का प्रसंग आया तो वे सीधे अपनी अयोध्या से सेना मँगवा सकते थे। उत्तर में बाकी राज्यों में भी उनकी बड़ी मान्यता थी। अनुरोध करने पर चारों ओर से सेना जमा हो जाती। लेकिन यह कुछ भी न करते हुए निजी हिम्मत से उन्होंने वानरसेना खड़ी की और साधनसंपन्न, शस्त्रास्त्रसंपन्न रावण सेनासे मुकाबला करके रावण को उन्होंने परास्त किया।

संघ कार्यकर्ता भी जब नए क्षेत्र में जाते हैं उनको स्वयं अपने लिए खाना-पीना, रहना, प्रवास आदि बातों का प्रबंध करना पड़ता है। व्यवस्था लगानी पड़ती है। अपने कार्यक्षेत्र से ही निजी आवश्यकताएँ तथा कार्य की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए साधन खड़े करने पड़ते हैं और वे बिल्कुल आत्मनिर्भरता से व्यवहार करते हैं। वैसी भी अपने संगठन की और कार्यकर्ता की शक्ति तो

साधनों पर नहीं बल्कि कार्यकर्ता के गुणवत्ता पर आधारित है। जब शिवाजी महाराज दक्षिण दिग्विजय के लिए निकले तब कुतुबशहा के राज्य से होकर उन्हें जाना था। अब कुतुबशहा से तो लड़ना नहीं था और कुतुबशहा से बातचीत होने के बाद अपने मुल्कसे जाने की इजाजत कुतुबशहा ने दे दी। कुतुबशहा बड़ा चतुर राजनीतिज्ञ था। शिवाजी की सेना के मजबूत और कमजोर बिन्दुओं को जानने का अपने गुप्तचरों के द्वारा उन्होंने प्रयास किया। तो पता चला कि बहादुरी के लिए प्रसिद्ध ऐसी शिवाजी की सेना में एक भी हाथी नहीं था। यह कमी जब बादशहा को मालूम हुई तो बातें करते करते उन्होंने शिवाजी के सामने प्रस्ताव रखा कि आप के हाथी और मेरे हाथी की लड़ाई हम देखना चाहते हैं। शिवाजी ने तपाक से कहा, ठीक है, लड़ाई का समय बताइए। अब दूसरे ही दिन लड़ाई तय हो गई। दूसरे दिन लड़ाई देखने के लिए मैदान में लोगों की भीड़ लगी। बादशाह का एक मस्त हाथी सूंड में एक दुधारी तलवार रखकर मैदान में आया। अब शिवाजी के हाथी की प्रतीक्षा थी। इतने में एक छोटे कद का साथी येसाजी कंक दोनों हाथों में तलवार लेकर मैदान में हाथी की ओर बढ़ने लगा। हाथी भी उनके ऊपर झपटा। लोग चिल्लाने लगे। 'यह छोटा आदमी तो मर जाएगा, यह क्या बेवकूफी है शिवाजी की।' लेकिन इतने में बड़ी चपलता से हाथी का चक्कर लगाते हुए पीछे से पूँछ पकड़ कर येसाजी हाथी की पीठ पर चढ़ गया। उसने तलवार हाथी के गंडस्थल पर दबाई तो हाथी चीं चीं चिल्लाता हुआ नीचे बैठ गया। तब शिवाजी ने कुतुबशहा से कहा, हमारी सेना के पराक्रमी साथी ही हमारे हाथी हैं। तो शिवाजी की सेना में हाथी न होते हुए भी उसमें कुछ कमी नहीं थी। इसका कारण उसके साथियों का मनोबल।

इसी तरह साधनों की संख्या और गुणवत्ता इनमें भी जो अंतर है वह कार्यकर्ता ध्यान में लेता है। महाभारत का एक प्रसंग है। युद्ध अटल है यह निश्चित होने पर कौरव-पांडव अपनी अपनी सेना की संख्या बढ़ाने हेतु अन्यान्य राजाओं की सहायता माँग रहे थे। इसी हेतु अर्जुन तथा दुर्योधन दोनों श्रीकृष्ण के पास पहुँचे। श्रीकृष्ण ने कहा, 'आप दोनों में से किसी को मैं ना नहीं कह सकता। तो एक ही बात बन सकती है। एक तरफ छप्पन करोड़ की मेरी सेना, दूसरी तरफ मैं स्वयं। इनमें ही बँटवारा हो सकता है। अब इनमें से किस को क्या चाहिए?' तो दुर्योधन ने संख्या को महत्त्व देते हुए सेना को चुना और अर्जुन ने गुणवत्ता का विचार करते हुए अकेले भगवान कृष्ण को चुन लिया।

पिछले पृष्ठों में नेपोलियन, गुरु गोविंदसिंह, न्हेटॅशिअस, ॲडज्युटन्ट फॉ, आर्य चाणक्य या बाजीप्रभू आदि के जो उदाहरण आए हैं वे सभी; संख्या और गुणवत्ता में होने वाले इस अंतर के संदर्भ में भी हम देख सकते हैं।

■ न प्रलोभन, न भय

ध्येय के साथ एकात्म हुआ कार्यकर्ता अपनी ध्येय साधना के राहपर चलते समय कठिनाई आई तो भी अपने मंजिल को न भूलते हुए, इन बातों का शिकार न बनते हुए, अविचल मानसिकता से अपने पथपर ही आगे ही बढ़ता जाता ही है। अपना मन इधरउधर भटकने नहीं देता। हमारी संस्कृति में अपने मार्ग पर अविचल रहने वाले देवताओं का वर्णन आया है। देवताओं ने जब समुद्रमंथन किया तब इस समुद्रमंथन के बारे में कहा गया है कि –

रत्नैर्महार्हैस्तुतुष र्न देवा न भेजि रे भीम विषेणभीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः।

(भर्तृहरि – नीतिशतक ७१)

सारांश में, अमृत निकालना था। परंतु इसके बीच समुद्र ने तरह तरह के रत्न दिए, ताकि ये रत्न पाने के कारण देवता प्रसन्न हो कर अगला प्रयास छोड़ देंगे, किन्तु रत्न प्राप्त होने के पश्चात भी ध्येय को न भूलते हुए उन्होंने मंथन जारी रखा। समुद्र ने सोचा कि ये प्रलोभन के कारण वश नहीं होते तो भीषण कालकूट जैसा विष उन्होंने बाहर फेंका, लेकिन उसके कारण भी देव डरे नहीं। उन्होंने मंथन का प्रयास तब तक जारी रखा जब तक अमृत प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए कहा है कि 'न निश्चितार्थात् विरमन्ति धीराः।'

'अपनी कार्यपद्धति' इस विभाग में कचदेव की साधना का जो उदाहरण आया है वह हम इस संदर्भ में भी फिर एक बार ध्यान में ले सकते हैं। शुक्राचार्य की सुंदर कन्या देवयानी के विवाह के अनुरोध पर भी उसका मोह टालते हुए, अपने उद्दिष्टपूर्ति पर अडिग रहकर कचदेव गुरुगृह से बाहर निकल पड़े थे।

ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता न प्रलोभन के कारण, न भय के कारण अपने ध्येय से विचलित होता है। इसी मानसिकता को धर्मधैर्य कहा जाता है। जो कार्यकर्ता सामाजिक, राष्ट्रीय ध्येयपूर्ति के लिए काम कर रहा है उसकी तो बात ही क्या? अन्य क्षेत्रों में भी निश्चित ध्येय, ध्येय के साथ तादात्म्य और स्वयं अपने

व्यक्तिमत्त्व का आंतरिक संगठन हो, तो व्यक्ति अपने मार्ग पर डंटा रहता है। कोलंबस का ऐसा ही उदाहरण है। उसके अपने मन में पूरा विश्वास था कि समुद्र में पश्चिम की ओर बढ़ते बढ़ते जमीन मिल जाएगी। सप्ताह के पश्चात सप्ताह बीत गए, महिने बीत गए, कहीं जमीन नहीं दिखाई देती थी। अब उसके सहकारियों के मन में कोलंबस जैसा विश्वास नहीं था। तो उनके मन में निराशा छाने लगी। खानेपीने की सामग्री भी समाप्त होने लगी। साथवाले सैनिकों में विद्रोह की भावना भी पैदा हुई। फिर भी कोलंबस अपने विश्वास पर अडिग रहकर दूसरों की हिम्मत बढ़ाते आगे बढ़ रहा और एक दिन अमरीका पहुँच गया।

इंग्लिश कवि रॉबर्ट फ्राउस्ट की कविता का एक खंड पं. जवाहरलाल नेहरू हमेशा अपने टेबल पर रखते थे। कवि ने लिखा है –

Woods are lovely dark and deep,
But I have promises to keep,
Miles to go before I sleep,
And miles to go before I sleep!

अर्थात, आजूबाजू की वनश्री गहरी और सुंदर है। लेकिन मुझे मंझिल पर पहुँचने की मेरी कसम पूरी करनी है। इसलिए (आखिरी समय) सोने के पहले (वनश्री का मोह टालते हुए) कई मीलों तक मुझे तो चलते रहना ही है।

दूसरी ओर महाराष्ट्र के मध्ययुगीन इतिहास में ऐसा भी एक उदाहरण श्री चांगदेव वटेश्वर का है, जो तपस्या के कारण प्राप्त हुई अपनी सिद्धियों पर ही गर्व करते रहे, सिद्धियाँ भोगते रहे और उधर ही अटक गए। उनका आध्यात्मिक विकास कुंठित हो गया।

इतना ही नहीं तो ऐसे भौतिक प्रलोभनों में हम अटक रहे हैं यह जानकर भी उनका प्रबल आकर्षण होने के कारण उनमें से बाहर आने की मानसिकता भी कुछ व्यक्तियों में नहीं रहती। पश्चिम में सेंट ऑगस्टिन नाम के बड़े संत का उदाहरण है। सेंट ऑगस्टीन की यह प्रसिद्ध प्रार्थना है – Lord, make me good but not yet. वह कहता है - हे प्रभो! मैं जैसा हूँ वैसा ही मुझे रखो ताकि मैं अधिक से अधिक उपभोग लूँ। मुझे अच्छा बनाओ लेकिन इतने में नहीं।

■ अपने लक्ष्य पर एकाग्रता

और भी एक बात है। जो समर्पित कार्यकर्ता है उसके जीवन में एक ही समय पर व्यावहारिकता के संदर्भ में अनेकानेक माँगें रहती हैं। कई जिम्मेदारियाँ उसको निभानी होती हैं। फिर भी उसका अवधान अपने ध्येय पर ही अचल रहता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने साधना के बारे में एक उदाहरण दिया, वह बड़ा मार्मिक है। राजा के महल में कोई दाई राजा के बच्चे को सोने के झूले में झुलाती रहती है। यह तो पेट के लिए उसको करना ही पड़ता है लेकिन उसका सारा चित्त अपनी झोपड़ी में गंदे कपडे पर सोए हुए अपने बच्चे की तरफ लगा रहता है। एक मराठी संत ने कहा है –

दुडीवरी दुडी। पाण्या निघाली गुर्जरी।
चाले मोकळ्या करी। लक्ष तेथे परी॥

घडे पर घडा ऐसे कई घडे सरपर लेकर गुर्जर ललना पानी भर लाने के लिए जाती है। जाते समय सहेलियों के साथ बातें भी चलती हैं, हँसी मजाक भी होता है। लेकिन उसका ध्यान मात्र सरपर रखे हुए घडों के तरफ रहता है ताकि अवधान छूट कर कहीं घडा गिर न जाए।

मराठी कविता में एक पंक्ति आई है –

घार हिंडते आकाशी। लक्ष तिचे पिलापाशी

मतलब चील अपना भक्ष्य ढूँढने के लिए आकाश में उडान मारती है, घूमती है लेकिन उसका ध्यान केवल अपने घोसले में रखे अपने बच्चे के पास रहता है।

कार्यकर्ता का अवधान भी ऐसा ही एकाग्र रहता है। आसपास में चलने वाली सभी गतिविधियों का भान तो उसको होता ही है, होना आवश्यक भी है। लेकिन आगे चलकर यह भी आवश्यक है कि आसपास की गतिविधियों का आवश्यक उतना ही अवधान रखकर कार्यकर्ता अपना पूरा ध्यान अपने अंतिम लक्ष्य पर, ध्येय पर केंद्रित करे। जब गुरु द्रोण, कौरवपांडवों को धनुर्विद्या की शिक्षा दे रहे थे, तब एक दिन परीक्षा के समय बाजू के पेड पर एक पक्षी की कृत्रिम प्रतिमा बनाकर लक्ष्यभेद के लिए रखी थी। धनुष्यबाण सिद्ध करने पर हर शिक्षार्थी से गुरुमहाराज पूछते थे। तुम्हें क्या दिखाई देता है? सभी का उत्तर आ रहा था कि पेड़ देख रहे हैं, आजूबाजू के सब साथी तथा गुरुवर्य ये सभी लोग दिखाई देते हैं, पूरा परिसर दिखाई देता है। फिर जब अर्जुन

की बारी आई तब वही प्रश्न गुरु ने पूछने के बाद अर्जुन का जवाब आया, मैं केवल इस पंछी की आँख देख रहा हूँ। तो जो लक्ष्य था, केवल उसी के ऊपर अर्जुन का ध्यान केंद्रित हुआ था भले ही उनको आजूबाजू के परिसर तथा अन्य लोगों का ख्याल भी होता होगा।

इसी तरह कार्यकर्ता के सजग होने के बावजूद भी उसका ध्यान तो अपने लक्ष्य पर ही केंद्रित होना आवश्यक है। मतलब many dimensional vision होकर भी single point concentration होना चाहिए।

■ नेतृत्व की हमारी अवधारणा

जैसे कि पहले बताया कि संघकार्य में अपेक्षित कार्यकर्ता का व्यक्तिमत्त्व ऐसा हो कि वह अपनी निरहंकारी ध्येयनिष्ठा से, ध्येय के प्रति निर्माण हुई एकात्मता से, कार्यकर्ता एक साधन मात्र है इस भाव से पैदा हुई समर्पितता से, आजूबाजू के क्षेत्र को संघ का परिचय करा दे और अपने अपने स्तर पर अन्यान्य स्वयंसेवक तथा समाज, इनका नेतृत्व भी करे। इस दृष्टि से कार्यकर्ता में सर्वसाधारण गुणवत्ता कैसी हो, नेतृत्व के कौन से प्राथमिक पहलू उनके द्वारा प्रकट हो, ऐसी बहुत सारी बातें अब तक आए हुए सभी संदर्भों से स्पष्ट होती है।

अब आगे चलकर स्वयंसेवकों को संघ की रचना में कुछ खास जिम्मेदारियाँ सँभालनी पड़ती हैं। तो इस रचना में नेतृत्व की कुछ श्रेणियाँ बनना स्वाभाविक होता है।

लेकिन संघ ने ऐसे नेतृत्व की अवधारणा जो अपने कार्य में अपनाई है वह अपनी परंपरा के आधार पर ही विकसित की है। हमारी संस्कृति की यह मान्यता है कि जीवन में आप जिस पद पर (position) होते हैं उस पर आप का बड़प्पन निर्भर नहीं है। बड़प्पन तो तपस्या से प्राप्त होता है। सोना जब आग में तपता है तभी अच्छा, शुद्ध होकर बाहर निकलता है। कार्यकर्ता भी जब कार्य की रगड में से निकलता है तब उसके अहंकार की मिलावट जल जाती है और वह नेतृत्व करने लायक हो जाता है।

लेकिन सामाजिक जीवन में निहित स्वार्थ से व्यवहार करने वाले ऐसा सोचते हैं कि बड़प्पन पद पर निर्भर है। नेपोलियन जब अपना आदर्शवाद खो बैठा, तब पद और प्रतिष्ठा के पीछे पड़ा और फलस्वरूप उसकी विचार पद्धति में भी परिवर्तन आया। उस समय उसने जो कहा वह बहुत प्रसिद्ध है। अंग्रेजी वाक्य ऐसा है – Men are like figures. They are valued according

to the position they occupy याने आदमी अंकों के समान होते हैं। अंक कौन से स्थान पर है उस पर उसकी कीमत निर्भर रहती है। उसने उदाहरण से यह बताया। संख्या १११९ का उदाहरण। अब इस में अंक १ ही चार बार आया है। लेकिन हरेक का मूल्य अलग अलग और अपने अपने स्थान पर निर्भर होता है। आखिर में जो १ है उसका मूल्य १ ही है। अंतिम से पहले का मूल्य दस है। उसके बाद वाले का मूल्य है एक सौ। और पहला जो अंक है उसका मूल्य रहा एक हजार। अब अंक १ की अंतर्गत निजी कीमत (intrinsic value) तो १ ही है। लेकिन जिस स्थान पर यह अंक है उसके अनुसार उसकी कीमत बदल जाती है। यदि व्यक्ति ऊँचे पद पर जाएगा तो उसका बड़प्पन बढ़ेगा, ऐसा नेपोलियन का कहना था। आज के व्यक्तिवादी, अवसरवादी वायुमंडल में व्यक्ति का बड़प्पन ऐसा ही देखा जाता है।

हमारी संस्कृति की मान्यता इसके बिल्कुल विरुद्ध है। हमारे यहाँ कहा है,

प्रासाद शिखरस्थोऽपि काको न गरुडायते।

गरुड गरुड है और कौआ कौआ है। अगर गरुड जमीन पर बैठा है और कौआ राजप्रासाद के शिखर पर बैठा है तो भी कौआ तो कौआ ही रहेगा, उच्च स्थान के कारण वह गरुड नहीं बन सकता है। केवल पद या स्थान पर, बड़प्पन नहीं। बड़प्पन यह कुछ आंतरिक या यथार्थ मूल्य होता है ऐसी हमारे यहाँ की धारणा है।

यही अवधारणा ध्यान में लेते हुए संघकार्य में पद देते समय ज्यादा संवैधानिक आडंबर नहीं मनाया जाता है। पद तो कोई प्रतिष्ठा का निदर्शक नहीं, बल्कि जिम्मेदारी का परिचायक होता है। फिर भी संघ में यह परिपाटी जारी है कि जिसमें पद की लालसा दिखाई देती है, ऐसे कार्यकर्ता को पद नहीं दिया जाए। चाहे ऐसे व्यक्ति की योग्यता कितनी भी क्यों न हो। इसी प्रकार इसकी भी चिंता किसी को करनी नहीं है कि संगठन में मेरा स्थान कौन सा रहेगा? यह स्थान निश्चित करने का काम बाकी लोगों का है, मेरा नहीं। कार्य की दृष्टि से, मेरी स्वयं की जिम्मेदारी और पद की चिंता अन्य कार्यकर्ताओं ने वस्तुनिष्ठता के आधार पर करना आवश्यक है। आगे चलकर हम यह भी देखते हैं कि यहाँ उल्टा मामला तो ऐसा है कि जिसको पद की बिल्कुल इच्छा नहीं उसी को पद पर नियुक्त किया जाए। महम्मद पैगंबर के जीवन का एक प्रसंग है। दूर कोई मुल्क में अमीर की नियुक्ति करने का प्रसंग था। कोई सहमति न होने

के कारण बात महम्मदसाहब के सामने आई। उन्होंने कहा, अब हर जगह तो मैं नहीं आ सकता, तो एक संकेत ध्यान में रखो। जिसको अमीर बनने की बिल्कुल इच्छा नहीं, उसी को अमीर बनाया जाए।

पं. दीनदयालजी के बारे में ऐसी ही एक बात बताई जाती है। जब जनसंघ की जिम्मेदारी उन्हें सँभालनी पड़ी तो कई दिनों के बाद उन्होंने पू. गुरुजी से कहा कि 'मुझे तो राजनीति में बिलकुल रुचि नहीं है, क्यों मुझे इस झंझट में डाला है? मुझे तो संघ का ही काम करना है।' तो श्रीगुरुजी ने कहा, 'तुम्हारे मन में इस विषय में बिलकुल रुचि नहीं है इसीलिए तो तुम को इस क्षेत्र में भेजा है। जब मुझे पता लगेगा कि तुम को इस क्षेत्र के बारे में रुचि उत्पन्न हुई है, तुरन्त ही तुम को इस क्षेत्र से निकाल दूँगा।'

तो इस बात से पू. गुरुजी ने नेतृत्व के बारे में जो संकेत किया है वह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है।

■ नैतिकता – नेतृत्व का सही आधार

इस दृष्टि से देखा जाए तो संघ की नेतृत्व की अवधारणा प्रशासनिक या संवैधानिक नहीं बल्कि नैतिक है। ऐसा नैतिक और पारिवारिक नेतृत्व तभी खड़ा होता है जब नेतृत्व करने वाला कार्यकर्ता स्वयं मूल्यनिष्ठ रहता है, और किसी भी कीमत पर अपने मूल्यनिष्ठ व्यवहार सूत्रों से जुटा रहता है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय का उदाहरण है।

कई अनुयायियों के दबाव से, समय की माँग समझकर, लेकिन बड़ी अनिच्छा से पंडितजी जोनपुर चुनाव क्षेत्र के चुनाव में उतरे। अब उसी संदर्भ में प्रचार की व्यूहरचना करने वालों की बैठक में वे आ पहुँचे तो बातें चल रही थीं। कार्यकर्ता ने बताया, 'पूरा हिसाब, विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर आ पहुँचे हैं कि इस चुनावक्षेत्र में अगर हम जाति के नाम पर मत माँगेंगे तो ही ब्राह्मणबहुल ऐसे इस चुनावक्षेत्र से आप चुन कर आएँगे। दूसरा तो कोई पर्याय नहीं।' पंडितजी ने कहा, "यह बात मैं कभी भी न होने दूँगा। यह न करने के कारण होने वाली हार को भी मैं स्वीकार करूँगा। लेकिन एक बार हमने जाति के आधार पर मत माँगना शुरू कर दिया तो जातिवाद हमेशा के लिए हमारे सरपर सवार होगा। यह अपने सिद्धान्त से विपरीत बात मैं नहीं करूँगा।"

कहने की जरूरत नहीं कि पंडितजी चुनाव हार गए।

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरजी का भी ऐसा ही एक उदाहरण याद आता है।

१९५४ के मई महिने में भंडारा में उपचुनाव था। उस आरक्षित चुनावक्षेत्र में संमिश्र चुनाव था। एक मत सर्वसाधारण (general) उम्मीदवार को और दूसरा आरक्षित (reserved) उम्मीदवार को देना था। अब एक तरफ दोनों स्थानों पर काँग्रेस के दो उम्मीदवार खडे थे। दूसरी तरफ आरक्षित स्थान पर श्रद्धेय डॉ. आंबेडकर और दूसरे स्थान पर और एक अ. भा. दल के उम्मीदवार श्री अशोक मेहता खड़े थे। श्री अशोक मेहता के पक्ष का पूर्वानुभव अच्छा नहीं था। इसलिए शे. का. फेडरेशन ने उससे चुनावी समझौता नहीं किया था। अब काँग्रेसी उम्मीदवार चुन कर न आए इस दृष्टि से शे. का. फेडरेशन के मतदाता अपना दूसरे क्रम का मत अशोक मेहता को देते तो वे चुनकर आ सकते थे। लेकिन बाबासाहब तो चुनकर नहीं आते। क्योंकि अशोक मेहता के पार्टी का दूसरा मत तो बाबासाहब को मिलने वाला नहीं था। तो डॉ. आंबेडकरजी के अनुयायियों ने सुझाव दिया कि हम दूसरे क्रमांक का मत किसी को भी नहीं देंगे। (चुनावी परिभाषा में कहना हो तो 'मत जला देंगे'।) जब डॉ. आंबेडकरजी को यह बात बताई गई तो उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा कि "मैंने संविधान बनाया है तो मेरे अनुयायी अगर ऐसा गैरसंवैधानिक कृत्य करेंगे तो मैं वह सह नहीं सकता। इसके लिए मेरी बिलकुल अनुमति नहीं है। मैं चुनाव हार जाऊँ तो भी चलेगा लेकिन मैं यह नहीं होने दूँगा।" अब नतीजा वही निकला। डॉ. आंबेडकर चुनाव हार गए।

इन दोनों उदाहरणों से यह ध्यान में आता है कि आदर्शवादी, सही नेतृत्व अपने मूल्यों पर अटल रहकर ही अपना सार्वजनिक व्यवहार करता है, चाहे कुछ भी कीमत चुकानी पडे। हमारे कार्य में हमारा तात्कालिक उद्दिष्ट, तात्कालिक कार्यक्रम योजना आदि सभी बातों पर चर्चा, समझौता हो सकता है। लेकिन हमारी विचारधारा, अंतिम लक्ष्य और उसी के अनुसार हमारी मूल्यश्रेणी इन पर कोई दो मत या चर्चा नहीं हो सकती, समझौते का तो सवाल ही नहीं।

अब आसपास के अवसरवादी वायुमंडल में ऐसे मूल्यनिष्ठ व्यक्ति को एक तरह से अकेलापन सहकर चलना पड़ता है। पू. डॉक्टरजी के जमाने में संघकार्य का प्रारंभ करनेसे पहले स्वयं को हिन्दू कहलाने में शर्म रखने वाले बड़े बड़े लोग जब पूछते थे कि, "ऐसा कौन सा पागल आदमी होगा, जो कहता है कि यह हिन्दू राष्ट्र है?" तो. पू. डॉक्टर अकेले कह रहे थे, "मैं, केशव बलिराम

हेडगेवार कहता हूँ कि यह हिन्दू राष्ट्र है।'' तो यह ध्येयनिष्ठ अकेलापन तो ऐसे नेता को सहना ही पड़ता है। इस सदी के बड़े दार्शनिक जे. कृष्णमूर्ति की एक कविता है। पहाड़ी की चोटी पर स्थित एक पेड़ का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं –

— Stand alone
Like a solitary tree on the mountain peak
For solitude is the price of thy greatness,
Stand alone!

अर्थात्, तुम अकेले खड़े रहो। पर्वत की चोटी पर पेड की तरह अकेले खड़े रहो। जो चोटी पर अकेला ही खड़ा रह सकता है, वही कोई बड़ा काम कर सकता है। अकेलापन बड़प्पन की कीमत है। यह कीमत देना यदि असंभव है तो यह आशा मत करो कि हम नेतृत्व करं सकें। यदि कार्यकर्ता के रूप में रहना है, नेतृत्व करना है, तो उसकी कुछ कीमत तो चुकानी पड़ती ही है।

■ कनक और कामिनी के बारे में सजगता

अब इस मूल्यनिष्ठा की सजगता में व्यक्तिगत चारित्र्य का, – खास करके कनक और कांता के बारे में - संदर्भ भी महत्त्वपूर्ण रहता है। कार्यकर्ता का निजी जीवन नैतिक चारित्र्य की दृष्टि से निष्कलंक होना चाहिए। निजी जीवन के मूल्य अलग और सार्वजनिक जीवन के अलग ऐसे दोहरे मानक double standard नहीं चल सकते। नैतिक आचरण के विषय में तुलनात्मक दृष्टि से शिथिल माने गए पाश्चात्य जगत में भी सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की नैतिक शिथिलता को सहा नहीं जा सकता। इंग्लैंड में प्रोफ्युमो जैसे प्रकरण में यह दिखाई दिया। प्रेसिडेन्ट केनेडी की मृत्यु के पश्चात ऐसी ही कुछ बातें प्रकाश में आईं, तो उतनी मात्रा में उनकी बड़ी प्रतिमा का अवमूल्यन हुआ। कुछ वर्ष पूर्व प्रेसिडेन्ट क्लिन्टन का मोनिका ल्युइन्स्की के बारे में जो मामला पूरी अमरीका भर चर्चा में था उससे अमरीकी जनसामान्यों के, विचारक और समाजवैज्ञानिकों के एक बड़े वर्ग का मत नैतिकता की दृष्टि से उनके विरुद्ध गया, यद्यपि भौतिक समृद्धि के विषय पर उनके राजनीतिक, प्रशासकीय नेतृत्व को उसकी तुलना में कम क्षति पहुँची। कम्युनिस्ट विश्व में नैतिकता को ज्यादा महत्त्व नहीं दिया जाता है, ऐसा कुछ लोगों का ख्याल है। क्यों कि मार्क्स ने विवाहसंस्था तथा परिवार संस्था का निषेध किया है। लेकिन उनके निषेध की पृष्ठभूमि सैद्धान्तिकता थी, अनैतिकता

नहीं थी। लेकिन मार्क्स के निषेध की पृष्ठभूमि ध्यान में न लेने के कारण रूस में एक ऐसा वायुमंडल बना तथा व्यवहारसूत्र बने कि सच्चे कम्युनिस्ट कार्यकर्ता को नैतिकता से कोई लेना देना नहीं है। नवागत साम्यवादी कार्यकर्ताओं ने इसका Ink Pot theory इस नाम से सिद्धान्तन भी बनाया। लेकिन लेनिन और ट्रॉटस्की जैसे सजग नेताओं ने इस प्रणाली का धिक्कार किया और सख्त शब्दों में अनैतिक आचरण के खिलाफ चेतावनी दी। उन्होंने यह साफ साफ बता दिया, 'जो व्यक्ति अपने निजी जीवन में विश्वसनीय नहीं है वह सार्वजनिक जीवन में भी विश्वसनीय हो ही नहीं सकता।'

पू. गुरुजी कहते थे कि जो वस्त्र पहले से मलीन होता है, उसपर दो चार दाग लगे, तो लोगों को वह अखरता नहीं; किन्तु स्वच्छ, शुभ्र वस्त्र पर पानी की बूँद भी गिरी, तो वह दाग लोगों की नजर में आता है, हालाँकि वह बूँद एक क्षण में स्वयं लुप्त हो जाती है। कार्यकर्ता की नैतिकता की ओर समाज काकदृष्टि से देखता है और उसको 'कनक और कांता' इस विषय के बारे में बारीकी से परखता है। समाज में नेतृत्व करने वाला कार्यकर्ता को अगर वस्तुपाठ बनकर रहना आवश्यक है, तो इस संदर्भ में. उसे अधिक ही सजग रहने की आवश्यकता है। अंग्रेजी में एक वाक्य कहावत के रूप में आता है – 'Caesar's wife must be above suspicion.' सीझर की पत्नि का वर्तन संशयातीत होना चाहिए। मतलब यह है कि केवल नेता के नहीं, बल्कि उसके संबंधित किसी भी व्यक्ति के ऊपर चारित्र्यस्खलन की छाया नहीं आना चाहिए, इस संदर्भ में कार्यकर्ता ने सतर्कता बरतनी आवश्यक है।

■ नैतिकता ही नैतिकता का पुरस्कार

ऐसी नैतिकता का श्रेय या पुरस्कार तो नैतिकता ही होती है। उससे कोई भौतिक लाभ होने की आकांक्षा तो मन में नहीं होनी चाहिए। फिर भी कार्यकर्ताओं को नैतिकता की प्रेरणा देने के लिए कई जल्दबाज मार्गदर्शक गलत शैली का प्रयोग करते हैं ऐसा अनुभव है। 'अच्छा नैतिक वर्तन रखेंगे तो यश-कीर्ति-पद-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होंगे। नहीं तो इन सब लाभों से आप वंचित रहेंगे' आदि। एक तरह से यह नैतिकता के लिए लालच ही दिखाना है। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टि से यह गलत है।

इस विषय में Ivanhoe इस उपन्यास की प्रस्तावना में सर वॉल्टर स्कॉटने जो विचार व्यक्त किए हैं वह हमारे लिए उद्‌बोधक रहेंगे।

A character of a highly virtuous and lofty stamp is degraded rather than exalted by an attempt to reward virtue with temporal prosperity. Such is not the recompense which Providence has deemed worthy of suffering merit. ------- But a glance on the great picture of life will show that the duties of self denial and the sacrifice of passion to principle are seldom thus rewarded and that the internal consciousness of their high-minded discharge of duty produces on their own reflections, a more adequate recompense, in the form of that peace which they cannot give or take away.

संक्षेप में देखें तो उसका कहना है कि सद्वर्तन और कर्तव्यपरायणता का पुरस्कार भौतिक सुखसंपदा यही है, ऐसा किसी उपन्यास के व्यक्तिचित्रण में दिखाने से उस व्यक्तित्व को न्यूनता ही प्राप्त होती है। उपन्यासों के युवा पाठकों के मन में जो गलत संकेत इससे निर्माण होता है वह खतरनाक है। वास्तव में मानवी जीवन के विस्तृत पटल पर हम दृष्टिक्षेप करेंगे तो भी यह दिखाई देता है कि तत्त्वनिष्ठ आचरण से तथा वासनाओं का त्याग करने से क्वचित् ही ऐसा फल मिलता है। उसके बदले उन्नत मानसिकता से हुई कर्तव्यपूर्ति की सजगता से जो श्रेष्ठ आत्मिक आनंद और शांति मिलती है वही नैतिक आचरण का सही फल है; जो न अन्य किसी माध्यम से न मिलेगा और न ही उसे कोई छीन सकता है।

जैसे कि 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस भाग में बताया है, एक बार महात्मा गांधीजी से किसीने पूछा, 'लौकिक व्यवहार में नैतिकता आदि बातें तो ठीक हैं। लेकिन राजनीति में, सार्वजनिक कार्य में नैतिकता की क्या जरूरत है?' महात्माजी ने कहा, 'सीझर रोमन सम्राट था और उसका कर्तृत्वकाल जीजस ख्राइस्ट के कार्यकाल के कुछ ही वर्ष आगे था। अब देखो, सीझर का नाम कितने लोगों को आज मालूम है, और प्रभु येशू का नाम आज भी दुनिया के कोने कोने में सुनाई देता है, यह किस बात का परिचायक है?'

■ आत्मपरीक्षण के आइने में

और कार्यकर्ता जब स्वयं के बारे में नित्य सावधान, सजग रहता है, तभी उसका नैतिक नेतृत्व सिद्ध होता है। तीसरा खलिफा उमर के बारे में एक कहानी

प्रसिद्ध है। सामान्य व्यक्ति भी अपनी व्यक्तिगत समस्या सुलझाने के लिए भी उनके दरबार में खुलेआम आ सकता था। एक दिन एक औरत अपने बच्चे को लेकर आई और बोली, 'मेरा बेटा मरीज है और हकीम ने कहा है, मीठा खाना बंद करना होगा। लेकिन वह हमारी सुनता नहीं। अब इसे कैसे समझाऊँ?' तो खलिफा ने कहा, 'पंद्रह दिन के बाद आना।' अब वह औरत पंद्रह दिन के बाद आई। खलिफा ने उस बच्चे से कहा, 'बेटा, मीठा खाना बंद करो नहीं तो तुम्हारी तबीयत बिगड़ जाएगी।' तो बच्चे ने तुरंत ही माना। उस माँ को आश्चर्य हुआ। बोलने लगी, 'हम इतने दिन उसको समझा रहे थे पर वह मान नहीं रहा था, और आपने एक बार कहा और उसने मान लिया, यह कैसा हुआ?' तो खलिफा ने बताया कि 'इसलिए ही मैंने तुमको पंद्रह दिन के बाद बुलाया। और इस काल में मैंने स्वयं मीठा खाना छोड़ दिया। अगर मैं पहले ही उसको मना करता तो वह नहीं मानता।' जो बात हम स्वयं करते नहीं, उसके बारे में दूसरों को बताना और वे मानेंगे, ऐसी अपेक्षा करना गलत है। अगर दूसरा मान जाए यह अपेक्षा मन में है तो उस बात पर स्वयं अपने जीवन में अमल करना चाहिए।

ऐसे ही मूल्यनिष्ठ आचरण का प्रभाव लोगों पर तथा कार्यकर्ताओं पर पड़ता है और उनके सामने एक आदर्श परिपाटी प्रस्तुत होती है।

यह खुद के बारे में सावधान रहना बड़ी कठिन बात है। इसके लिए कार्यकर्ता ने निरंतर आत्मपरीक्षण करने की आवश्यकता है। खुद आत्मपरीक्षण करते रहना और अपने आप को समझाते रहना अनिवार्य है। यह आत्मनिरीक्षण कितना कठोर होना चाहिए इसके बारे में रूसो की भूमिका हमारे लिए मार्गदर्शक हो सकती है। अपने 'Confessions' इस आत्मचरित्र के प्रारंभ में उन्होंने देवता से अनुरोध किया है –

I have shown myself as contemptible and vile when I was so; good, generous, sublime when I was so! I have unveiled my interior, such as Thou Thyself hast seen it. Eternal Father! Collect about me the innumerable swarm of my fellows, let them hear my confessions; let them groan my unworthiness; let them blush at my meanness! Let each of them discover his heart in his turn at the foot of Thy throne with some sincerity and let anyone of them tell Thee, if he dares "I was a better man"

सारांश में बताना है तो वह कहता है कि मैं जैसा हूँ वैसा ही मैंने इस आत्मनिवेदन में स्वयं को प्रस्तुत किया है। जब तिरस्करणीय और अधम था तब वैसा; जब अच्छा, उदार और उदात्त था तब वैसा। मेरा निजी अंतरंग, तुम जैसे देख सकते हो वैसा तुम्हारे सामने खुला किया है। भगवन्! मेरे बारे में मेरे साथियों से जितनी अवांछनीय बातें बताई जाएँ उतनी ध्यान में लो। लेकिन उनमें से हर एक को तुम्हारे उच्चासन के पैरों के पास बैठकर उतनी ही प्रामाणिकता से अपने अंतरंग की ओर देखने दो। तो उसको मेरे निवेदन में अपना ही स्वरूप दिखाई देगा। और बाद में कहने दो उसे कि 'मैं इससे (रूसो) अच्छा था', अगर यह कहने की उसमें हिम्मत हो तो।

जीवनी लिखते समय भी कितनी कठोरता से सत्य का आश्रय करना आवश्यक है इस विषय में टॉलस्टॉय ने जो विवरण किया है वह भी आत्मनिरीक्षण के संदर्भ मे उतना ही महत्त्वपूर्ण है - वे लिखते हैं, 'बीमार अवस्था में सोचते समय यह ध्यान में आया कि सामान्यत: जीवनी जिस प्रकार लिखी जाती हैं, उसी प्रकार मेरी क्षुद्रता तथा प्रमादों पर पर्दा डालकर यदि कोई मेरी जीवनी लिखेगा तो वह पूर्णरूपेण असत्य होगा। जो कोई मेरी जीवनी लिखना चाहता है उसको संपूर्ण सत्य लिखना चाहिए।'

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि श्रेष्ठ पुरुष न केवल अपने दोष सजगता से जानने की कोशिश करते हैं; अपने दोष लोगों में दिखाई देने में भी उनके मन में कोई आपत्ति नहीं रहती। क्योंकि वे केवल अपनी छबि निर्माण करने के पीछे नहीं रहते। इंग्लैंड का प्रमुख लॉर्ड प्रोटेक्टर होने के पश्चात ऑलिव्हर क्रॉम्वेल के मन में एक बार अपना एक अच्छा चित्र बनवाने की इच्छा निर्माण हुई। उन दिनों में छायाचित्र की तकनीकी और सुविधा नहीं थी। तो एक कुशल चित्रकार पर यह काम सौंपा गया। चित्रकार तो चित्र अच्छी तरह से बना सकता था। लेकिन वह प्राणसंकट में पड़ गया क्योंकि क्रॉम्वेल के चेहरे पर मस्सा था। उस मस्से के कारण वह बहुत ही बदसूरत दिखाई देता था। तो चित्रकार के मन में चिंता उठी अगर मैं सही चित्र बनाऊँगा तो चेहरा बदसूरत दीखेगा और इंग्लैंड के अधिनायक का गुस्सा सहन करना पड़ेगा। कहीं फाँसी भी हो जाएगी। इसलिए चित्रकार ने चित्र बिना मस्से का बनाया और क्रॉम्वेल के सामने पेश किया। उस समय का क्रॉम्वेल का वाक्य – Wart, Wart and all that' बड़ा प्रसिद्ध है। मतलब उन्होंने कहा, 'नहीं, नहीं, इस मस्से के साथ मेरा चित्र होना चाहिए। उसमें कोई सुधार मत करो।'

जो अपने आंतरिक बलपर निर्भर रहता है वह कार्यकर्ता भी छबि के पीछे न लगते हुए अपनी असली पहचान समाज को हो इस दृष्टि से बर्ताव करता है।

जो कार्यकर्ता अपने दोष नहीं पहचान पाता वह अच्छा कार्यकर्ता नहीं बन सकता। दूसरों के दोष देखना सरल है किन्तु अपने दोषों की ओर देखना कठिन। इस दृष्टि से कार्यकर्ता ने आत्मचिंतन करने की आवश्यकता रहती है। जीजस ख्राईस्ट के संबंध में एक कथा आती है। उनके गाँव नझरत में एक महिला थी। उसका चरित्र अच्छा नहीं था। वह गर्भवती हो गई तो उसे पत्थरों से मारकर उसकी जान लेने की सजा दी गई। पत्थर मारना भी शुरू ही होने वाला था, उतने में ही जीजस ने लोगों से कहा कि पहला पत्थर वही मारे जिसने अपने जीवन में कभी भी कोई दुष्कर्म न किया हो। Let he amongst you, who is without a sin, throw the first stone! ऐसा कहने से लोग आत्मचिंतन के लिए बाध्य हुए और पहला पत्थर मारने के लिए कोई भी आगे नहीं बढ़ा।

अब जो कार्यकर्ता स्वयं के बारे में सजग, कठोर रहता है उसमें और एक प्रवृत्ति दिखाई देती है जिससे बचना आवश्यक है। ऐसे कुछ कार्यकर्ताओं में अपनी नैतिकता की अहंता मन में रखकर दूसरों के प्रति तुच्छता का भाव व्यक्त करने की आदत होती है। यह मानो अपनी नैतिकता का नशा ही होता है। तो यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि दूसरा कोई अपवित्र है, ऐसा मानकर विशेषकर कामिनी-कंचन के विषय में अवांछनीय बातें फैलाने में तथा सुनने में रुचि लेने वाले लोगों की संख्या समाज में पर्याप्त मात्रा में हुआ करती है। बात सच है या झूठ इसकी छानबीन न करते हुए लोग बेलगाम बोलते (loose talk) रहते हैं। अपनी नैतिकता के अहंकार के कारण ऐसे लोगों में शामिल होने का मोह कार्यकर्ता को हो सकता है उससे स्वयं को बचाना आवश्यक है।

■ निजी कर्तृत्व की सीमाओं का स्वीकार

आत्मनिरीक्षण सातत्य से करने से ही ध्येयपूर्ति की दृष्टि से कुछ निजी सीमाएँ कुछ विशिष्ट अवसर पर ध्यान में आई तो स्वयं का बड़प्पन न दिखाते हुए अधिक सक्षम, लायक व्यक्ति के हाथों में बागडोर सौंप देने में ऐसे नेतृत्व करनेवाले कार्यकर्ता के मन में कोई आपत्ति नहीं होती है। क्योंकि अपना नेतृत्व बनाया रखना यह नहीं, बल्कि ध्येयपूर्ति करना यह उसके अग्रक्रम का विषय रहता है। इटली के राष्ट्रपिता जोसेफ मॅझिनी का उदाहरण है। ऑस्ट्रियन साम्राज्य

के अंतर्गत जब इटली था तब इटालियन राष्ट्रीयत्व की भावना जागृत करना, लोगों का संगठन करना और साम्राज्य के खिलाफ संघर्ष के लिए प्रवृत्त करना आदि सारा कार्य मॅझिनी ने किया। लेकिन जब प्रत्यक्ष संघर्ष का मौका आया तब लड़ाई का नेतृत्व गॅरिबाल्डी के हाथ में सौंप दिया और स्वयं गणवेश पहनकर, हाथ में रायफल लेकर, एक सिपाही के नाते गॅरिबाल्डी कमांड के अंतर्गत जा कर खड़े हो गए। साथियों से कहा, 'मैं संगठन आदि दूसरे काम अच्छी तरह कर सकता हूँ। लेकिन अब युद्ध का मौका है और युद्धतंत्र का जानकार गॅरिबाल्डी है। तो गॅरिबाल्डी को अपना नेता बनाना आप सब को स्वीकार करना होगा।'

अब गॅरिबाल्डी की मानसिकता भी देखनेलायक है। इस संघर्ष में विजय प्राप्त होने के बाद जब पूर्वनिश्चय के अनुसार पिडमाँट प्रांत के व्हिक्टर इमॅन्युअल को राज्याभिषेक हुआ तो गॅरिबाल्डी ने छुटी माँग ली। कहने लगा अब तक लड़ाई का काम था वह मैं जानता था। लेकिन आगे चलकर अब राजनीति का काम है, कारोबार चलाने का काम है, diplomacy का काम है, उसमें मेरी गति नहीं है। इस दृष्टि से इटली का नेतृत्व प्रधानमंत्री कैहूर ही कर सकते हैं। मैं अपने कॅप्री गाँव में खेती करने के लिए जाता हूँ।'

अपने भी इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं। महानंद पद्म को परास्त करने के लिए चंद्रगुप्त को हाथ में लेकर आर्य चाणक्य ने क्रांति करवाई। सारी व्यूहरचना और कर्तृत्व उनका ही था। लेकिन जब राज कारोबार चलाने का सवाल आया तो उन्होंने महानंद के ही राजनीतिकुशल प्रधान राक्षस को प्रधान बनने के लिए मजबूर किया और स्वयं तपस्या के लिए विजन में चले गए।

लोकमान्य तिलकजी १९१६ में संपूर्ण देश के नेता इस नाते माने जाते थे। उस समय महात्माजी ने दक्षिण आफ्रिका में सत्याग्रह तंत्र से आंदोलन चलाया था उसकी बड़ी चर्चा थी। गांधीजी हिन्दुस्थान आने के बाद कॉंग्रेस के लोगों के मन में भी उस शांतिपूर्ण असहयोग का प्रयोग यहाँ भी करने का विचार बल पकड़ रहा था। अब तिलकजी ने देखा कि कॉंग्रेस इस तरह का आंदोलन छेड़ेगी, तो उन्होंने गांधीजी से कहा कि 'यह ठीक है, ये लोग मेरी बात मानते हैं, मैं नेता हूँ। किन्तु यदि सत्याग्रह आंदोलन चलाना है यह निर्णय हुआ तो उसका तंत्र मैं नहीं जानता, आप ही जानते हैं। अतएव इसका नेतृत्व आप को ही करना होगा।' यह बात अलग है कि उसके बाद तिलकजी की मृत्यु हुई। किन्तु यदि उनकी मृत्यु नहीं होती तो एक सिपाही के नाते गांधीजी के नेतृत्व में खड़े हो जाने की ध्येयनिष्ठ निरहंकारी मानसिकता उनमें थी यह स्पष्ट है।

महात्माजी के संदर्भ में भी ऐसा उदाहरण है। उन्होंने जीवन में एक ही बार १९२४ में बेलगांव में काँग्रेस की अध्यक्षता की। उस समय कौन्सिल में जाने के संदर्भ में चर्चा थी। न जाने का प्रस्ताव काँग्रेस में पारित हो गया। लेकिन कौन्सिल में जाने के पक्ष में मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास ऐसे नेताओं ने स्वराज्य पार्टी नाम से काँग्रेस के अंतर्गत एक गुट बनाया। काँग्रेस अधिवेशन के समय बहुमत तो गांधीजी के पक्ष में था। फिर भी छः महीने पूरे देश का दौरा करने के बाद गांधीजी को पता चल गया कि लोगों के मत में परिवर्तन आ रहा है। बहुत सारे लोग कौन्सिल में जाने के पक्ष में हैं। इस बात का स्वराज्य पार्टी के नेताओं को पता न होते हुए भी गांधीजीने पं. मोतीलालजी को पत्र लिखा और कहा, 'आप शायद जानते नहीं कि काँग्रेस में बेलगांव में मेरे पक्ष में जो बहुमत था अब नहीं रहा है। लोग आप का विचार पसंद करते हैं।' इस लिए मैं त्यागपत्र दे रहा हूँ। आप ही काँग्रेस की अध्यक्षता करें।'

■ अपने कर्तृत्व के बारे में विनम्र भाव

इतनाही नहीं। अपनी क्षमता पर पूरा विश्वास होने के बावजूद भी ऐसा कार्यकर्ता अपने कार्य में मिली सफलता का श्रेय स्वयं अकेला का है ऐसा नहीं मानता। यह उसके सामूहिक कार्यपद्धति पर होनेवाले विश्वास का परिचायक तो है ही। लेकिन अपने निजी कर्तृत्व के संदर्भ में जो विनम्र भाव उसके मन में रहता है उसका भी निदर्शक है।

आपने नील आर्मस्ट्राँग का नाम सुना है। चंद्रभूमि पर पहला मानवी पैर रखनेवाला अवकाशवीर इस नाते श्रेय उसको दिया जाता है। वह यह श्रेय ले भी सकता था। उसकी अवकाशयात्रा के 'अपोलो प्रोग्रॅम' की सफलतापर उसका चारों ओर से अभिनंदन हुआ। लेकिन अपने डॉ. विक्रम साराभाई ने जब उससे पूछा कि, 'भाई, इतना बड़ा काम आप कैसे कर सके?' तो आर्मस्ट्राँग ने जवाब दिया कि, 'हमारे 'अपोलो प्रोग्रॅम' की टीम में जितने लोग थे उनमें से हर एक को पता था कि कुल मिलाकर प्रोग्रॅम क्या है और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अपनी अपनी कौनसी भूमिका उन्हें निभानी है। और हर एक ने उसीके अनुसार अपनी अपनी भूमिका बड़ी सक्षमता से निभाई इस के कारण हमें सफलता मिली।' तो 'अपोलो प्रोग्रॅम' की सफलता का श्रेय निजी नेतृत्व का न मानते हुए सामूहिक कार्यपद्धति को देना यह विनम्र नेतृत्व का उदाहरण है।

इस मानसिकता के कारण ही ऐसे नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता के मन में कार्यसिद्धि में प्राप्त यश के बारे में भी विनम्र भाव रहता है। यह यश अपने अकेले के कर्तृत्व का नहीं बल्कि सामूहिक प्रयासों का परिणाम है इस बात को वह आँखों से ओझल नहीं होने देता है और कार्यसिद्धि के फल पर वह अकेला दावा भी नहीं करता।

आज दुनिया के सबसे संपन्न राष्ट्र अमरीका के संस्थापकों में जॉर्ज वॉशिंग्टन का बड़ा स्थान माना जाता है। अंग्रेज उपनिवेश सत्ता के खिलाफ उनके नेतृत्व में चल रहा संघर्ष लगभग समाप्त ही होता आया था। जैसे लडाई जीतने की संभावना दीखने लगी वैसे राजनीतिक सूत्रसंचालकों के मन में जलन तथा स्पर्धा का भाव निर्माण हुआ। सेनापति इस नाते वॉशिंग्टन को बधाइयाँ मिल रही थीं। उनकी लोकप्रियता बढ़ रही थी। तो इन राजनीतिक नेताओं के मन में डर निर्माण हुआ कि आजादी मिलने के बाद कहीं सत्ता वॉशिंग्टन के ही हाथ तो नहीं जाएगी। तो उन्होंने युद्धप्रयत्नों का अंतर्ध्वस (sabotage) करना शुरू किया ताकि सैनिकों में वॉशिंग्टन के प्रति असंतोष पैदा हो। वास्तव में देश के स्वतंत्रता संग्राम में बाधा लाने की यह उनकी कृति गंदी ही थी। फिर भी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की ईर्ष्या से अंधे हुए उन नेताओं के सामने देशहित दुय्यम बन गया। लेकिन सैनिकों को और सेनाधिकारियों को इसका पता लग गया। उन्होंने वॉशिंग्टन से अनुरोध किया कि 'स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सत्ता ऐसे गद्दार लोगों के हाथ में नहीं जानी चाहिए। देश की बागडोर आप अपने ही हाथ में ले ले। आप को विरोध करने वाला दूसरा शक्तिकेंद्र आज मौजूद नहीं है।' किसी भी व्यक्ति के मन में ऐसे मौके पर सत्ता की लालच पैदा होना स्वाभाविक ही था। लेकिन वॉशिंग्टन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया क्योंकि इस तरह सत्ता हाथ लेना उनके सिद्धान्त के विरुद्ध था। यह सुझाव अमान्य करके युद्धसमाप्ति के बाद उन्होंने एक संविधान समिति का गठन किया। बाकायदा चुनाव कराया। अब यह बात अलग है कि लोगों ने प्रथम अध्यक्ष इस नाते उनको ही चुना। ध्यान में लेना चाहिए कि संविधान और चुनाव का झंझट न करते हुए वे सीधे सत्ता हाथ में ले सकते थे। लेकिन अपने मूल्यों पर अटल रहकर उन्होंने संवैधानिक मार्ग अपनाया।

जब पहले बाजीराव पेशवा उत्तर दिग्विजय के कार्य में कामयाब हुए, तो दिग्विजय के पश्चात प्रदेश जीतने के बाद भी वे अपनी विनम्र भूमिका को भूले नहीं। वे लिखते हैं – 'यहाँ के लोग हमें, 'स्वामी, स्वामी' ऐसे पुकारते हैं। हम

स्वामी कैसे? हमारे स्वामी तो वहाँ (महाराष्ट्र के सातारा में) बैठे हुए (शाहू छत्रपति) हैं।

■ हमारा अस्तित्व अपरिहार्य नहीं, निमित्त मात्र

ऐसे कार्यकर्ता के मन में अपने कार्य की सिद्धि के लिए लगन तो रहती है। गहरी मग्नता भी रहती है। लेकिन वह व्यक्तिगत लगाव के रूप में नहीं। अगर अपने हाथों से कार्यसिद्धि होने वाली है यह निश्चित रहा तो ऐसा कार्यकर्ता कार्य से जुटा तो रहता ही है। लेकिन कार्यसिद्धि हो जाने पर किसी भी अहंता का या ममत्व का भाव मन में न रखते हुए उस कार्य में आगे बढ़ता है, उसी के उलझन में नहीं रहता। एक दृष्टि से कार्यमग्नता में भी निवृत्ति जैसा भाव उसके मन में रहता है। यह जो धारणा दिखाई देती है इसको अंग्रेजी में unattached involvement कहते हैं।

ऐसी नेतृत्व की अवधारणा में व्यक्तिगत कर्तृत्व के अहंकार का अंशमात्र भी भाव नहीं दिखाई देता है। स्वयं के नेतृत्व के बारे में जो विश्वास उनके शब्दों में, बर्ताव में महसूस होता है कि वह व्यक्तिगत स्तर का नहीं होता है बल्कि अपने ध्येयसंकल्प की पूर्ति का हम मात्र एक साधन हैं, इस दृष्टि से होता है। गॉर्डन नाम का इंजिनिअर और ॲडमिनिस्ट्रेटर जो, विगत सदी में अंग्रेजों ने जब सुदान पर कब्जा किया तब अंग्रेज सेना का एक अधिकारी था, अपने नेतृत्व के बारे में कहता है –

I do nothing of this
I am a chistle that cuts the wood
The Carpenter directs it.
If the edge gets blunted
It is for Him to sharpen it.
No one is indispensable to Him
He can do His work through a straw as well.

सारार्थ, 'मैं तो परमात्मा की इच्छा के अनुसार लकड़ी काटनेवाली, करौती, कुल्हाडी हूँ। अगर उस करौती की धारा नाकाम बनी तो वह उसे तेज बनाएगा। उनके कार्य की दृष्टि से मैं तो अनिवार्य नहीं हूँ। वह अपना कार्य किसी तृण

के छोटे तिनके से भी कर लेगा।' अपने कर्तृत्व के बारे में इतना निर्ममत्व यही सही नेतृत्व का परिचय है।

इसी दृष्टि से पू. गुरुजी ने किसी भी कार्यकर्ता का मरणोत्तर स्मारक बनाने के संदर्भ में जो कहा है वह ध्यान में लेना उचित होगा। अपना कार्य व्यक्तिनिष्ठ नहीं बल्कि मूल्यनिष्ठ तत्त्वनिष्ठ है तो किसी कार्यकर्ता की मृत्यु भी हमारे कार्य में न भरने वाली खाई बन कर नहीं रह सकती। हमें ध्यान में लेना है कि अपने ईश्वरीय कार्य में कोई भी व्यक्ति का स्थान तथा महत्त्व अटल, अनिवार्य नहीं हो सकता। इसलिए कार्यकर्ता ने अपने कर्तृत्व के बारे में बड़ी विनम्रता रखनी आवश्यक होती है। हाँ! अपनी कार्यसिद्धि के बारे में जरूर विश्वास रहना चाहिए। लेकिन अपने कार्य की अंतिम विजय के बारे में विश्वास और निजी कर्तृत्व के बारे में व्यक्तिगत आत्मविश्वास इन दोनों में सीमारेषा बहुत ही पतली होती है, यह ख्याल रखना उपयुक्त होता है। इस दृष्टि से अगर इस ईश्वरीय कार्य का माध्यम इस नाते हम कामयाब नहीं होने वाले होंगे तो परमेश्वर अपना माध्यम बदलेंगे और कार्य तो यशस्वी होगा ही यह भाव मन में होना चाहिए। यदि एक बाँसुरी टूट गई तो वे वह बाँसुरी बदल देंगे। लेकिन उनके संगीत की धुन तो अखंड गूँजती रहेगी ही। If the flute cracks, he will change his flute. But the music will flow unintermittently! इसी unattached involvement के साथ कार्यकर्ता जीवन के अंतिम क्षण तक ध्येयमग्नता से काम करता रहता है।

इतना ही नहीं तो ऐसे कार्यकर्ता में अपने स्वयं के बारे में आत्मलोप की भावना की इतनी परिसीमा रहती है कि अपनी मृत्यु होने के बाद अपना नामोनिशाँ तक कहीं न रहे ऐसा भाव उनके मन में रहता है। पू. गुरुजी इस संदर्भ में ॲलेक्झांडर पोप की Ode to Solitude इस कविता की कुछ पंक्तियाँ हमेशा उद्धृत करते थे।

> 'Thus let me live unseen, unknown,
> Thus unlamented let me die
> Steal from the world and not a stone
> Tell where I lie!'

अर्थात, जीवन बिताते समय मुझे किसी के अनदेखे, अज्ञात रहने दे। और मृत्यु के पश्चात भी किसी भी यादगार के बिना इस भूमि का सहारा लेने दे।

मृत्यु ही विश्रांति

कई लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य आपत्ति, शारीरिक व्याधि या वृद्धावस्था के कारण नियत कार्य पर ध्यान केंद्रित करना कठिन हो जाता है। लेकिन यह सही है कि ध्येयनिष्ठा की पारसमणि का स्पर्श कार्यकर्ता के मन को हुआ तो वह ध्येयसिद्धि का, सोना जैसा माध्यम बन जाता है। उसी ध्येयनिष्ठा के कारण जीवन के अंत तक कार्य करनेवालों की सूचि बहुत ही बड़ी है। हमारे एक गीत में कहा है —

कार्यमग्नता जीवन होवें, मृत्यु ही विश्रांति

पिछले कुछ पन्नों में आंतरिक मनोबल के संदर्भ में चारु मुझुमदार, चे ग्वेवारा ऐसे लोगों के साथ आपात्काल के समय के (emergency) संघ के सरकार्यवाह मा. माधवरावजी मुले का उदाहरण आया है। पूर्ण विश्राम की वैद्यकीय सलाह के बावजूद उन्होंने संपूर्ण आंदोलन का संचालन किया और उन परिश्रमों के कारण ही उनकी मृत्यु हुई।

महाराष्ट्र प्रांत के संघचालक मा. बाबाराव भिडे को दिल की बीमारी थी। डॉक्टर के मना करने पर भी नासिक के संघशिक्षावर्ग के उद्‌घाटन के लिए वहाँ तक स्वयं ड्रायव्हिंग करते हुए रात को पहुँचे लेकिन दूसरे दिन उद्‌घाटन के पूर्व ही प्रात: पाँच बजे उनका देहान्त हुआ।

वैसा ही उदाहरण है विजयवाडा के विभाग कार्यवाह श्री आंजनेयलू का। १९८६ में एक कार्यक्रम में मंच पर उपस्थित पू. बालासाहेब देवरस तथा अन्य महानुभावों का परिचय करा देने के बाद सभी गणवेशधारी स्वयंसेवक, बड़ी संख्या में उपस्थित नागरिक तथा संघ के अधिकारी इनके सामने ही वे गिर पडे और उनकी मृत्यु हुई।

१९८४ के एकात्मता यज्ञ के एक सभा में शुचीन्द्रम में दक्षिणांचल के संघटक की ऐसी ही मृत्यु हुई।

भारतीय मजदूर संघ के इंदौर के अ. भा. अभ्यासवर्ग में एक सत्र इसलिए रखा था कि मजदूर संघ का काम करते करते जिनकी मृत्यु हो गई उनकी केवल नामोल्लेख सूची बनाना। केवल नाम, युनियन का नाम और मृत्यु की तिथि। तो नामों का केवल उल्लेख करने में ही एक घंटा बीस मिनिट बीत गए। केरल जैसे छोटे प्रदेश में संघ तथा संघसृष्टि के कार्यकर्ताओं के बलिदान

की सूची के लिए शायद इतना ही समय लगेगा। और देश के विभाजन के समय के स्वयंसेवकों के बलिदान की तो गिनती ही नहीं हो सकती।

जिसे to die in the harness कहते हैं, अपना कार्य करते करते जिनका जीवन समाप्त हुआ, जिनको हम शहीद कह सकते हैं और जिन्होंने 'भगवा ध्वज अपनाया है, तो मोह कहाँ इन प्राणों का' इस पंक्ति को चरितार्थ किया है ऐसे अनगिनत कार्यकर्ता रहे हैं।

■ लेकिन इसमें सावधानी

कार्य करते समय मृत्यु का स्वागत करना, 'कार्यमग्नता जीवन होवें, मृत्यु ही विश्रांति', यह ध्येयनिष्ठा कार्यकर्ता की स्वाभाविक अवस्था हो जाती है। किन्तु नियत कार्य की सफलता के लिए to die in the harness का व्यावहारिक अर्थ भी समझ लेना आवश्यक है। वरना कुछ गडबड हो सकती है। अब कार्य करते समय मृत्यु को आलिंगन, या जीवन के अंतिम क्षण तक कार्य, दोनों को हम वीरमरण कहते हैं। किन्तु किसी भी कार्य में सबसे अधिक, सामरिक (strategic) महत्त्व की प्रक्रिया होती है वह है निर्णय लेने की। इस प्रक्रिया के लिए सभी मानसिक क्षमताएँ कार्यतत्पर होना आवश्यक होता है। ऐसी मानसिक क्षमताएँ क्षीण होने के कारण निर्णयप्रक्रिया पर विपरीत असर होता है। तो अंतिम क्षणतक कार्य में रहना और अंतिम क्षण तक निर्णयप्रक्रिया में सहभागी होना इन दोनों में कुछ विवेक होना चाहिए। 'अपनी कार्यपद्धति' इस पिछले विभाग में हमने देखा है कि पुराने कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन, old brains on young shoulders इस नाते जरूर होना चाहिए लेकिन केवल पुराने कार्यकर्ता ही निर्णय प्रक्रिया में नहीं रहेंगे। ऐसे कार्यकर्ता आखिरी दम तक निर्णय भी लेते रहे तो कार्यहानि हो सकती है।

दूसरे महायुद्ध के पहले, प्रेसिडेण्ट रुझवेल्ट का स्वास्थ्य कुछ शारीरिक न्यूनता के बावजूद अच्छा था। लेकिन महायुद्ध के दौरान उनका स्वास्थ्य गिरता गया। युद्धोत्तर वार्ता के लिए कॅसाब्लांका, मॉस्को, तेहरान, माल्टा और पॉट्सडॅम इन परिषदों में उपस्थित प्रत्यक्षदर्शी सेक्रेटरी ने कहा है कि महायुद्ध में प्रवेश करते समय प्रेसिडेण्ट रुझवेल्ट का स्वास्थ्य जितना अच्छा था उतना ही यदि युद्धोत्तर वार्ता के समय रहा होता तो उनके द्वारा स्टॅलिन को पूर्वी यूरप का इतना बड़ा प्रभावक्षेत्र देने की गलती न होती। तो रुझवेल्ट की शारीरिक और मानसिक दुर्बलता का यह परिणाम था।

सन १८७९ के फ्रँको-प्रशियन युद्ध के समय फ्रान्स के राजा के शारीरिक दौर्बल्य के कारण रानी के हाथ में पूरी सत्ता गई। परिणामस्वरूप प्रशियन सेना पॅरिस पर कब्जा करके राजा को गिरफ्तार कर सकी यह इतिहास है। अगर राजा निर्णय लेने की क्षमता रखता तो यह नहीं हो सकता। वैसी ही स्थिति खोमेनी पूर्व इराण के रेझाशहा पेहेलवी के शासन की थी। निर्णय लेने की, कारोबार पर नजर रखने की क्षमता, अस्वास्थ्य के कारण शहा खो बैठा। और रानीसाहिबा की मनमानी के कारण शहा को इराण से भागना पड़ा।

उसी तरह कम्युनिस्ट चीन के निर्माता माओ झेडाँग का भी उनके जीवन के अंतिम चरण में, मानसिक अक्षमता और सिनेस्टार युवा पत्नी पर पूरा भरोसा इन कारणों से ही पतन हुआ यह सर्वविदित है।

तो जीवन के अंतिम क्षण तक कार्यकर्ता कार्य करते रहे यह तो अपेक्षा है ही। लेकिन जैसे कि पहले बताया कि कार्य में रहना और निर्णयप्रक्रिया में रहना, इनमें विवेक करना आवश्यक है। शारीरिक दुर्बलता का अगर मानसिक क्षमताओं पर अनिष्ट असर दिखाई देता है तो कार्य में रहने के बावजूद भी निर्णय की जिम्मेदारी से कार्यकर्ता को मुक्त होना आवश्यक है।

अब जीवनभर एक धुन में कार्य करते समय दौडधूप करके कार्य की हर एक गतिविधि में कार्यकर्ता प्रत्यक्ष रूप में सक्रिय रहता है। उसके बाद जीवन के अंतिम चरण में इसी कार्य की निर्णयप्रक्रिया से स्वयं को दूर रखना, उसमें से निवृत्त होना इतना आसान नहीं। सामान्य व्यक्ति के बारे में हम देखते हैं कि बुढापा होकर भी परिवार के हर बात में निर्णय करने की आग्रही मानसिकता जीवन के अंतिम चरण तक नहीं मिटती। कार्यकर्ता के बारे में यह निवृत्ति की मानसिकता तभी बन सकती है जब अपने कार्य के संदर्भ में, अपने निजी कर्तृत्व के बारे में, व्यक्तिगत रूप में उसका लगाव नहीं रहता और मन में स्वयं के बारे में 'अपने कार्य का मात्र एक साधन' यह विनम्र भाव रहता है। यही विनम्रता उसके बडप्पन की परिचायक होती है।

■ ध्येयवाद में अहंभाव की मिलावट

इस निरहंकारी ध्येयनिष्ठा में भी सजगता बरतनी पड़ती है। नहीं तो ध्येयवाद में भी अहंभाव की मिलावट आ सकती है। हमारे एक हिन्दुत्ववादी मित्र थे, पूरे ध्येयवादी। लाल किलेपर भगवा झंडा फहराने का नारा देते थे। जैसे जैसे संगठन में उनका स्थान ऊँचा होता गया, वैसे उन्हें लगने लगा कि लाल किले

पर भगवा झंडा मेरे हाथों ही फहराया जाना चाहिए। फिर मन में आने लगा कि इस घटना का चित्रण भी होना चाहिए, वगैरह, वगैरह। याने ध्येयवाद वही, लाल किले पर भगवा झंडा फहराना, लेकिन उसमें 'मैं' —अहंभाव घुस गया।

अब ऐसी मिलावट बहुत बार अपने को पता न लगते हुए भी आ सकती है। १९५२ में जब मेरे जिम्मे राजनीतिक क्षेत्र का काम था, तो श्री. द्वारकाप्रसाद मिश्र जो काँग्रेस के बड़े नेता थे, उनके पास जाने का बहुत बार अवसर मिला। अब उस समय जो बातें होती थीं उनका निवेदन संघ के उस समय के सरकार्यवाह मा. भैयाजी दाणी से हम करते थे। मैंने एक दिन मा. भैयाजी से कहा कि 'राजनीति में होने के कारण तिकडंबाजी करनी पड़ती है किन्तु प्रत्यक्ष सहवास से मुझे अनुभव हो रहा है कि द्वारकाप्रसाद मिश्र शत प्रतिशत हिन्दू हैं।' मा. भैयाजीने स्मितहास्य करते हुए कहा कि 'तुम इतने वर्षों से प्रचारक हो, तो तुम्हारा मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष ठीक होगा ही।' मैंने कहा, 'यदि ऐसा है तो आप के चेहरे पर मेरी बातें सुनते समय mischievous smile था, वह क्यों?' भैयाजी बोले, 'तुम्हारा यह कहना भी ठीक है।' फिर थोड़ा रुककर बोले कि 'तुम कह रहे हो वैसे मिश्रजी शत प्रतिशत हिन्दू तो हैं किन्तु उससे ऊपर और उससे ज्यादा वे और भी कुछ हैं।' मैंने कहा, 'इसका मतलब क्या?' भैयाजी बोले, 'शत प्रतिशत के ऊपर और उससे ज्यादा पचास प्रतिशत, साठ प्रतिशत, अस्सी प्रतिशत वे और भी कुछ हैं।' मैंने उत्सुकता से पूछा, 'वे क्या हैं?' भैयाजी ने कहा, 'वे द्वारकाप्रसाद मिश्र हैं।'

■ ध्येयवादी समर्पण का भी अहंकार न हो

ध्येयवाद में मिलावट दूसरी तरफ से भी आ सकती है। जब हम अपना निजी जीवन इस देशकार्य के लिए समर्पित करते हैं तब उस ध्येयवादी समर्पण का भी अहंकार पैदा होना संभव है। मैं स्वयं इस भाव की बाधा का अनुभव ले चुका हूँ। जैसे कि पहले ही मैंने बताया है कि पुणे स्थित पू. गुळवणी महाराज से हुई बातों में मुझे लगा कि मैं भी कुछ हूँ। मैंने देशकार्य के लिए पूरा जीवन समर्पित किया है। ऐसे ध्येयवाद के अहंकार का अनुभव कार्यकर्ता के विकास में बाधा उत्पन्न कर सकता है।

मुझे याद है, मैंने जब प्रचारक इस नाते काम करना शुरू किया तो ज्यादा सूझबूझ तो नहीं थी। ऐसे शौक के लिए सोचा था कि दूसरे प्रदेश में जाएँगे, शाखा प्रारंभ करेंगे, देखेंगे, दो चार साल काम करेंगे, फिर घर चले आएँगे।

केरल में शाखाएँ प्रारंभ हुईं। अब संघ का पूरा व्यवहार तो मालूम नहीं था। नागपुर में देखा था कि शाखा पर देरी से आने से या किसी अन्य कारण से अधिकारी को प्रणाम करते हैं। संघचालक या कार्यवाह या मुख्य शिक्षक हों तो उनको प्रणाम करते हैं। केरल में तो हमने शाखा शुरू की थी तो मेरे मन में आया कि काम हमने खड़ा किया है तो प्रणाम के अधिकारी हम हैं। बड़ा अहंकार मन में था। बाद में जब संघ शिक्षा वर्ग के समय नागपुर आया तब इस संदर्भ में पूछा तो पता चला कि प्रचारक प्रणाम का अधिकारी हो नहीं सकता। हमने कहा, यह तो मुसीबत है। घरबार छोड़कर आया। सारा काम खड़ा किया। और मैंने जिसको संघ समझाया, जिसको कार्यकर्ता बनाया, उसको ही मैं प्रणाम करूँ? मेरे अहंकार को बड़ा धक्का लगा।

उसके बाद जब जबलपुर के एक शिविर में निवेदन के समय पू. गुरुजी ने बताया कि पू. डॉक्टरजी ने तीन प्रतिशत शहर विभाग के लिए और एक प्रतिशत ग्रामीण विभाग के लिए स्वयंसेवकों की जो संख्या प्रमाणित की है वह नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ताओं की है। तब हम नए प्रचारकों को ऐसा लगा कि चलो हमें नेता बनना है। तो हमारा नेतृत्व कैसे प्रस्थापित करेंगे इसलिए सुलभ और सस्ते मार्ग कौनसे हैं, चालाकी की ट्रिक्स कौनसी हैं यह अध्ययन शुरू किया।

बाद में नागपुर में संघ शिक्षावर्ग में केरल में से किसी महानुभाव को वर्ग का काम देखने के लिए बुलाया था। उनका सामान उठाना था। तो साथवाला प्रचारक, जो मेरे ही जैसा नया प्रचारक था, उसने किसी बहाने वह काम टाल दिया। बाद में जब बातें हुईं तो उसने कहा, 'हम प्रचारक हैं। हमें अपनी प्रतिष्ठा बनाकर रहना चाहिए। मेहमानों का सामान उठाना हमारा काम नहीं है। हम नौकर तो नहीं हैं।' मुझे भी यह कहना उस समय पर ठीक लगा। उसी समय दिल्ली के संघचालक मा. प्रकाशदत्त भार्गव संघ शिक्षावर्ग में आनेवाले थे। उनके रहने की व्यवस्था पू. गुरुजी के घर की थी। वे जब आए तो पू. गुरुजी स्वयं उनका स्वागत करने नीचे दरवाजे पर आए। हम ४-५ कार्यकर्ताओं को चाय बनाने को कहा। अब हम लोग तो इस मामले में बिलकुल अनजान थे। चूल्हा कैसे जलाना, चाय कैसी बनानी कुछ मालूम नहीं था। लेकिन पू. गुरुजी की आज्ञा थी। तो हम प्रयास में लगे। बार बार प्रयास करके भी चूल्हा नहीं जलता था। समय होने लगा। पसीना बहने लगा। इतने में पू. गुरुजी चुपचाप आए। रसोईघर के दरवाजे से हमारी ओर देखा, फिर हँसने लगे। बोले, 'मुझे मालूम था कि तुम चाय बनाना नहीं जानते हो।' पू. गुरुजी ने स्वयं झटके से चूल्हा फूँका।

चाय के लिए पानी लिया और एकेक करके चाय कैसे बनानी है यह हमें समझाया और बोले, 'अब बनाओ चाय और लेकर आओ।'

तो हम सामान्य प्रचारकों को, मेहमानों का सामान उठाने में आपत्ति थी और पू. सरसंघचालक को चूल्हे के सामने बैठ कर चूल्हा सुलगाने में आपत्ति नहीं थी। हमको नेतृत्व का यह नमूना देखकर अच्छा सबक मिला।

बाद में इसी विषय के संदर्भ में संघ की रचना की बारे में एक अजीब सी बात ध्यान में आई!

संघ की पहली पाबंदी के काल में संघ का संविधान बनाने की कुछ चर्चा चल रही थी तब मैंने उसकी ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। यह पहले ही बताया है कि इस संविधान का स्वरूप क्या था। पहलेसे ही जो रीति, नीति और व्यवहार चलते आए थे उनको ही शब्दबद्ध किया इतना ही संविधान का स्वरूप था। नई बात तो कुछ थी ही नहीं। लेकिन बाद में जब मुझे संविधान में आई रचना का पता चला तो और एक धक्का लगा। इस संविधान के अनुसार स्वयंसेवक मतदाताओं के प्रतिनिधियों के चुनाव से लेकर संघचालक, प्रांतसंघचालक आदि पदों की आखिरी कड़ी के रूप में सरकार्यवाह का चुनाव होता है। इस दृष्टि से यह अजीब बात है कि संघ के संविधान के अनुसार संघ के सर्वोच्च पदाधिकारी (Chief Executive Officer) सरकार्यवाह हैं। सरसंघचालक नहीं। अब बाहर के लोगों के यह समझ में आना संभव नहीं कि सरसंघचालक केवल मार्गदर्शक एवं तत्त्वज्ञ (Guide and Philosopher) हैं। कोई पदाधिकारी नहीं हैं।

और भी अजीब बात ध्यान में आई कि इस पूरी चुनावी प्रक्रिया में संघ के प्रचारक न मतदाता हैं न उनके पक्ष में किसी ने मत देने का सवाल उठता है।

इस बीच में कुछ ज्येष्ठ कार्यकर्ता तथा गुरुजनों के सहवास के कुछ संस्कार भी हुए तो हमें अनुभव हुआ कि बहुत सोच समझकर यह पूरी रचना बनाई है।

मा. बाबासाहब आपटे, जो संघ के पहले प्रचारक प्रमुख रहे, वे उदाहरण देते थे। यह शरीर चल रहा है। अब शरीर सुंदर है या बदसूरत है? चेहरा कैसा है? नाक कैसी है? आँखें कैसी हैं आदि देखकर; हाथ, पैर मजबूत हैं या दुर्बल? इन ऊपरसे दीखनेवाली बातों पर शरीर का जीवमान होना तय होता है ऐसा हम कह सकते हैं क्या? हाथ कट गया, पांव टूट गया, चेहरा विरूप हुआ तो भी शरीर चलता रहता है, जीवमान है ऐसा हम क्यों मानते हैं? ऐसा कौनसा मर्म है जो शरीर को चलाता है? तो वह है व्यक्ति का हृदय! Heart failure हुआ तो ही व्यक्ति की मृत्यु होती है। लेकिन वह जो हृदय है वह बाहर

से दीखता है क्या? बाहर दीखनेवाले अवयव तो बहुत सारे हैं लेकिन संपूर्ण शरीर को चलाता है वह हृदय किसी को दिखाई नहीं देता। मा. बाबासाहब आपटे कहते थे कि संघ की रचना में जिम्मेदार कार्यकर्ता (प्रचारक) हृदय के समान हैं जो संपूर्ण संगठन को चलाते हैं किन्तु बाहर से दृश्यमान नहीं होते हैं। मा. बाबासाहब की छलांग बहुत दूर तक थी। वे कहते थे, सारी दुनिया को चलाता रहा है वह तो किसी को दिखाई नहीं देता है। संगठन जिन कार्यकर्ताओं के आधारपर चल रहा है, मजबूत होता है, उनकी मानसिकता कैसी होनी चाहिए इसका बोध हमें मा. बाबासाहब के दिए इस उदाहरण से प्राप्त होता है। तो अपने ध्येयसमर्पितता का भी अहंकार मन में न हो यही हमारा प्रयास रहना चाहिए।

पू. डॉक्टरजी कहते थे, अपने ही समाज के लिए किए हुए त्याग को हम त्याग थोडे ही कहते हैं? तो त्याग तथा ध्येयवादी समर्पण का भाव आदि के अहंकार से स्वयं को बचाना ही चाहिए। यह संकेत इन श्रेष्ठ नेताओं से हमें प्राप्त होता है।

अपने ध्येयवाद का भी अहंकार मन में न रहे यह हमारा आग्रह है – ईशावास्योपनिषद् में कहा है –

अन्धं तम: प्रविशन्ति, येऽसम्भूतिमुपासते
ततो भूय इव ते तमो यं उ सम्भूत्यांरता:।

भावार्थ ऐसा कि जो लोग व्यक्त तत्त्वों की उपासना करते हैं वे तो अंधकार में डूबे हुए होते ही हैं। लेकिन जो लोग अविनाशी चैतन्य की उपासना में रममाण होकर उसी का अहंकार मन में रखते हैं वे तो उससे भी भयंकर गहरे अंधकार में डूबे हुए होते हैं। अपनी परंपरा के अनुसार नेतृत्व की अवधारणा में अहंकार का संपूर्ण विलय हो यह बुनियादी बात है। निरहंकारी मानसिकता का परमोत्कट आविष्कार इस नाते हमारे सामने स्वयं पू. गुरुजी का उदाहरण आता है। एक अवसर पर 'धर्मयुग' इस पत्रिका ने सभी बडे नेताओं से सन्देश मँगवाए थे। पू. गुरुजी से भी सन्देश माँगा था। और वे सब सन्देश धर्मयुग में छपे थे। पू. गुरुजी का सन्देश सबसे छोटा था – 'मैं नहीं, तू ही।' यदि अहं नष्ट हो जाता है, तो इतनी हद तक निरहंकारी वृत्ति बनी रहती है, जिसे योगी अरविंद ने आत्मविलोपी वृत्ति कहा है। संत रामदास ने कहा है –

समुदाय पाहिजे मोठा। परि तणावा असाव्या बळकटा।
मठ करोनिया ताठा। धरोचि नये

अर्थात बड़ा संगठन करने पर भी नेता को यह सजगता बरतनी आवश्यक है कि अपने कर्तृत्व का अहंकार न हो।

■ विनम्र नेतृत्व का आदर्श

हमारे इतिहास में विनम्र नेतृत्व का सबसे अच्छा उदाहरण भगवान श्रीकृष्ण का बताया जाता है। पांडवों को चक्रवर्ती बनाने में उनकी ही सहायता प्रमुख रूप से कारण थी। लेकिन जिस समय पांडवों के यहाँ राजसूय यज्ञ हुआ तब की घटना है। बहुत बड़ा समारोह था। उसमें तरह तरह के कार्य विभाग तथा जिम्मेदारियाँ थीं। उनका बंटवारा करते समय एकेक ने अपनी अपनी रुचि का काम सँभाला। श्रीकृष्ण से जब पूछा गया, तो उन्होंने कहा कि भोजन होने के पश्चात जूठी पत्तलें उठाने का काम मैं करूँगा। याने चक्रवर्तियों का नेतृत्व करने वाला, जूठी पत्तलें उठाने का हलका काम स्वयं माँग लेता है।

ज़ो सही दृष्टि से बड़ा नेता है उसे छोटे छोटे हलके काम करने में कोई आपत्ति नहीं रहती। लोकमान्य टिलक जी के जीवन की ऐसी ही एक छोटी घटना ध्यान में लेना उपयुक्त रहेगा। १९१६ में लखनऊ में काँग्रेस का अधिवेशन था। महाराष्ट्र और दक्षिण से प्रतिनिधि गए थे। अधिवेशन में लम्बी चर्चा चलने के कारण रात बड़ी देरी से सोए। लेकिन सुबह हुई और लोग प्रातर्विधी, हाथ मुँह धोने आदि के लिए निकले तो उन्होंने देखा कि तिलकजी पानी गरम करने के लिए दौडधूप कर रहे थे। चूल्हों पर बड़े बड़े बर्तन रखे हुए थे और टिलकजी चूल्हा जला रहे थे। लोगों ने पूछा कि यह क्या हो रहा है? तो टिलकजी ने कहा कि, ''भाई, लखनऊ के लोग शायद इस बात को समझ नहीं पाएँगे कि दक्षिण से आए प्रतिनिधी उत्तर की इस सर्दी को सह नहीं सकेंगे। नहा धोकर बैठक में जल्दी पहुँचना है। इसलिए मैं उनके लिए पानी गरम कर रहा हूँ।''

गांधीजी के जीवन की भी एक ऐसी ही घटना है। उनका एक अनुयायी अच्छा शास्त्री पंडित था, उसे कुष्ठरोग हो गया। गांधीजी ने उसको अपने पास आश्रम में रखा और गांधीजी हर तीसरे दिन स्वयं अपने हाथों से जैतून के तेल से उसकी मालिश करते थे। उस समय सत्ता के हस्तांतरण की चर्चा अंग्रेजों के साथ चल रही थी। दिल्ली में लॉर्ड माऊंटबॅटन के साथ चर्चा करने के लिए

गांधीजी आए थे। अब अनुयायी के मालिश की समयसारिणी के अनुसार उनका वापसी आरक्षण भी किया था। लेकिन इसमें शक था कि रेल के समय तक यह चर्चा पूरी होगी या नहीं। तो दिल्ली पहुँचते ही उन्होंने लॉर्ड माऊंटबॅटन को बताया, मुझे इस गाडी से वापस जाना है। इस समय तक चर्चा पूरी हुई तो ठीक, वरना इसे आगे बढ़ाना होगा। अब सत्ता हस्तांतरण जैसी महत्त्वपूर्ण बातचीत में भी म. गांधी स्वयं के लिए निर्धारित ऐसा मालिश का मामूली सा काम भूल न सके।

महंमद पैगंबर के जीवन में दीखता है कि मदिना में पहली बार बंड़ी मस्जिद बनाने का जब उपक्रम शुरू हुआ तो उस समय अपने साथियों के साथ सिरपर पत्थर उठाकर ले जाने का काम स्वयं महंमदसाहब करते थे।

इस संदर्भ में डॉक्टरजी के जीवन की बातें ध्यान में लेना उपयुक्त रहेगा। पू. डॉक्टरजी के संदर्भ में एक प्रसंग याद आता है। मा. अप्पाजी जोशी वर्धा में रहते थे। उनके किसी रिश्तेदार की तबीयत की जाँच नागपुर में करवानी थी। उसे ले आने का काम किसी कार्यकर्ता पर सौंपा गया था। किसी कारणवश वह कार्यकर्ता वर्धा नहीं जा सकता, यह पू. डॉक्टरजी को मालूम हुआ। तो रातोरात इधरउधर दौडधूप करके पू. डॉक्टरजी ने स्वयं वाहन की व्यवस्था की और वे उस मरीज व्यक्ति को ले आने के लिए वर्धा पहुँच गए।

जब नागपुर में पहली बार संघशाखा शुरू करनी थी तो छोटे बच्चों के साथ पू. डॉक्टरजी ने स्वयं मैदान साफ करने का काम किया था। नेतृत्व के जो गुण हमें अभिप्रेत हैं उनका परिचय पू. डॉक्टरजी के कार्यप्रणाली में मिलता है।

जीवन के अंत मे १९४० के संघ शिक्षावर्ग के समय वे बीमार थे। वर्ग में आने के लिए उनको डॉक्टर ने मना किया था। फिर समारोप के भाषण में बडे दुख से, नम्रता के साथ उन्होंने स्वयंसेवकों से कहा कि, 'मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ कि मैं इस वर्ग में आप की कुछ सेवा न कर सका।

पू. गुरुजी के संदर्भ में तो मेरे जीवन का एक छोटा सा अनुभव ऐसा है कि जो बताने में मुझे शर्म महसूस होती है। जब मैं लॉ कॉलेज में पढ़ता था, तो मैं उनके यहाँ रहता था। आदतें तो बिगड़ गई थीं कॉलेज लाईफ में। सुबह कॉलेज होता था। नीचे प्रातर्विधी के लिए आना और फिर उधरसे ही चाय पीकर सीधे कॉलेज चले जाना। बाद में याद आता था कि अरे, अपना बिस्तर तो वैसे ही फैला रहा। लेकिन वापस आने पर बिस्तर अपने स्थान पर ठीक से रखा मिलता था। मैंने सोचा मेरे जैसा एक अन्य साथी श्री. नाना

वैद्य वहाँ सोता था, वही रोज मेरा इतना काम कर देता होगा। मैंने उससे कहा कि भाई माफ करना, तुम्हें रोज मेरा बिस्तर उठाना पडता है। तो उसने कहा, 'भाई, मैं तो तुम्हारा बिस्तर उठाता नहीं।' फिर मुझे डर लगा। एक दिन कॉलेज न जाते हुए मैं पीछे से छत पर चला गया। देखता रहा कि बिस्तर कौन उठाता है। तो उधर पू. गुरुजी आए और बिस्तर ठीक जगह पर रखकर नीचे चले गए और इस बात का उलहना तक नहीं दिया कि तुम्हारा यह बर्ताव ठीक नहीं है।

पं. दीनदयालजी के जीवन का एक प्रसंग भी याद आता है। मैं जब जनसंघ में काम करता था, उस समय एक कार्यकर्ता को चुनाव में उम्मीदवारी न मिलने के कारण वह बहुत ही गरम होकर मेरे पास आया और जोरजोर से कहने लगा – 'मैं पार्टी के लिए बर्बाद हो गया हूँ और पार्टी को तो कार्यकर्ता की कद्र ही नहीं।' मैंने उसको पं. दीनदयालजी से मिलने के लिए भेजा। वह बडे गुस्से में ही था। लेकिन पंडितजी से मिलने दिल्ली गया। पंडितजी ने पूछताछ की और बोले शाम को आराम से खाना वगैरह होने के बाद बातें करेंगे। उन्होंने मान लिया और यह कार्यकर्ता कार्यालय में ही ठहरा। और फिर दिन भर देखता रहा कि पार्टी के ऑल इन्डिया जनरल सेक्रेटरी (पंडितजी) दिनभर क्या कर रहे थे। तो कोई खोया हुआ कागज ढूँढने के लिए कचरे की टोकरी में से एक एक कागज देख रहे थे। सायक्लोस्टाईल मशीन हथौडे से दुरुस्त कर रहे थे। ऐसे मामूली से काम वे कर रहे थे। श्री जगदीश प्रसाद माथुर ने उस कार्यकर्ता को दोपहर का खाना होटल में से खाकर आने को कहा। लेकिन स्वयं पंडितजी ने तो खाना भी नहीं खाया था। दूध और ब्रेड मँगाया था। यह कार्यकर्ता ये सब बातें देख रहा था। उसे लगा कि इस जनरल सेक्रेटरी को बिलकुल प्रतिष्ठा का भाव नहीं है। फिर उसने किसी से पूछा कि पंडितजी कौन से चुनाव क्षेत्र से खड़े हैं? तो जवाब आया, 'अरे, भाई, पंडितजी कहाँ चुनाव लड़ते हैं?' तो उसने पूछा, 'फिर काम किसका कर रहे हैं?' तो बताया गया कि, वे तो तीन सौ लोगों के चुनावी काम में लगे हैं।'

अब शाम छः बजे काम पूरा होने के बाद पंडितजी इस कार्यकर्ता से बात करने के लिए हाथ पैर धोकर तैयार हो गए। दोनों के लिए खाना मँगवाया और बोले, 'अब आराम से अपनी बात बोलो। सवेरे छः बजे तक मुझे अब समय है।' अब ये कार्यकर्ता क्या बोलता? बोला, 'कुछ भी नहीं पंडितजी। मैं आप के दर्शन के लिए आया था।' और फिर ऐसा ही नागपुर चला आया।

अब नागपुर आने के बाद मुझे मिला। मैंने पूछा, भाई आप की शिकायत का फैसला क्या हुआ? वह 'अँ। अँ। कुछ नहीं, कुछ नहीं' करने लगा। मैंने उसे फिर डाँटा कि, 'भाई, तू बड़े जोर से उस दिन कार्यकर्ताओं के सामने पार्टी की बदनामी कर रहा था तो पंडितजी के सामने अपनी शिकायत क्यों नहीं की?' वह बोला, 'मेरी गलती हुई। मुझे इस तरह का बर्ताव करना नहीं चाहिए था। मैं तो शिकायत करने ही गया था। लेकिन दिनभर मैं पंडितजी के बारे में जो देख रहा था, उससे मुझे ऐसा लगा कि इस महापुरुष को मैं कैसे बताऊँ कि मैं बर्बाद हो गया।' और आगे बोला, 'मुझे एक शेर याद आ रहा है।

शिकवा क्या करता इस महफिल में कुछ ऐसे भी थे
उम्रभर अपनी जख्मों पर जो नमक छिडकाएँ।

संपूर्ण जीवन भर अपने स्वयं के जख्मों पर जो नमक छिड़का रहे हैं ऐसे लोग जब मैंने देखे तो मैं कैसे कहूँ कि मेरी उँगली को जरा सी चोट लगी है?

बड़प्पन का बोझ दूसरों पर न आने देना

इस तरह स्वयं के बड़प्पन का बोझ दूसरों पर न आने देना यह भी नेतृत्व का सही लक्षण हम मानते हैं। क्योंकि नेता स्वयं भी अपने बड़प्पन का असर अपने मन पर नहीं होने देता। प्राचीन चीन के महान दार्शनिक लाओ त्से ने कहा है – 'जो लोगों से ऊपर रहना चाहता है, उसे अपनी विनम्र वाणी के द्वारा स्वयं को उनके नीचे रखना चाहिए। जो लोगों का अगुआ बनना चाहता है, उसे उनके पीछे पीछे चलना चाहिए। इस प्रकार यद्यपि उसका स्थान सर्वोपरि होगा, परन्तु लोगों को उसका बोझ महसूस नहीं होगा; यद्यपि उसका स्थान उनके आगे होगा, परन्तु इससे उन्हें आघात नहीं पहुँचेगा। इस लिए मानव मात्र को उसकी प्रशंसा में प्रसन्नता होगी और उससे कोई परेशान नहीं होगा। ऋषि जो कुछ करता है, उसकी मान्यता की अपेक्षा नहीं करता। वह योग्यता और गुणों का अर्जन करता है, लेकिन इसका श्रेय वह नहीं लेता। वह अपनी उपादेयता का ढिंढोरा नहीं पीटता। संत तुलसीदास ने कहा है –

अपुन रहे हैं दास की नाई। सब हिं नचावत राम गुसाई॥

अहंकाररहित मन रहा तो अधिक योग्यता रखने वाले व्यक्ति भी ध्येयवादी व्यक्ति की बात मान लेते हैं।

संत रामदास कहते हैं –

नीचत्व आणि मूर्खपण पहिलेचि घ्यावे

अर्थात, छोटापन और मूर्खता का पहले ही स्वीकार करे। इसी संदर्भ में प्रकृति ने भी हमारे सामने ऐसे विशाल, निरहंकारी नेतृत्व का उदाहरण प्रस्तुत किया है। सृष्टि में इस धरती पर जमीन कम है, पानी ज्यादा है और वह महासागर में भरा रहता है। किसी ने मजाक में कहा है कि इसे पृथ्वी कहना गलत है, पानी ही कहना उचित होगा। क्योंकि पानी ही ज्यादा है। लेकिन यह जो पानी जमा होता है वह अलग अलग स्तरों से निकलता है। किसी गाँव से, शहर से, उस के ऊपर किसी पहाड़ से, उसके भी ऊपर से किसी ऊँचे पर्वत से, सब से ऊँचे हिमालय से भी विभिन्न जलप्रवाह निकलते हैं। हरेक की सापेक्ष स्थिति क्या रहती है? छोटी बड़ी मात्रा में, कम ज्यादा ऊँचाई से, कम ज्यादा जोर से जो प्रवाह आते हैं, उनकी अलग अलग position रहती है। बडे ऊँचे पर्वत से आने वाले प्रवाह की स्थिति ऊँची रहेगी इसमें संदेह नहीं है। लेकिन अंत में क्या होता है? प्रकृति ने नियम बनाया है, कितनी भी ऊँचाई से प्रवाह क्यों न निकला हो, गंगा, यमुना जैसी महानदियों के भी प्रवाह हों, वे सारे आखिर महासागर में जाकर विलीन हो जाते हैं। और महासागर तो सब से नीचे होता है। सब से नीचा होने का मापदण्ड ही महासागर को माना गया है। यहाँ तक कि अगर किसी स्थान की ऊँचाई का हिसाब करना है तो वैज्ञानिक, सागरतल से वह स्थान इतना ऊँचा है, चार हजार फीट, दो हजार फीट ऐसा नाप लेते हैं। तो सब से नीचे महासागर की गोद में बड़ी बड़ी ऊँचाई से आने वाले सारे जलप्रवाह शरण लेते हैं। इसका कारण यही है कि वह उदार, सर्वसमावेशक, विशाल होकर भी सबसे नीचा स्थान रखता है। सही नेतृत्व तो वही है, जिसे अपना बड़प्पन होते हुए भी उसकी याद तक नहीं रहती और उसका बोझ भी दूसरों पर आता नहीं। (unconscious of one's own magnitude, greatness) इसीको लोकनेतृत्व कहते हैं।

लेकिन कभी कभी स्वयं के उदाहरण से नेता को अनुयायियों को सबक भी सिखाना पड़ता है। जीजस ख्राइस्ट के जीवन के अंतिम दिनों की घटना है। वे किसी के यहाँ अपने सब शिष्यों के साथ भोजन के लिए गए। उनके

जीवन का यह प्रसंग Last supper इस नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ जाकर भोजन के लिए बैठे तो एक बात उनके ख्याल में आई कि अपने नेता के पास पहुँचने की जरा होड थी। इसके कारण जैसे आजकल के सार्वजनिक जीवन में होता है, वैसा ही दृश्य उपस्थित हुआ। याने elbowing out एक दूसरे को खदेड कर सामने घुसना। यह देखकर जीजस को बड़ा दुख हुआ। उन्होंने कहा कि 'भाई, जरा हम सब लोग खड़े हो जाए,' और जिसका मकान था उसे कहा कि, 'पानी की बाल्टी और टॉवेल ले आइए।' और फिर एकेक शिष्य को बुलाया। पानी से उसके पैर स्वयं अपने हाथों से धोए। टॉवेल से अपने हाथ से हर एकेक के पैर पोंछे, और फिर बाद में कहा कि 'यह सारा मैंने क्यों किया इसका आपको पता है क्या? मैंने इसलिए किया है कि आप सबक सीख सके कि जिस तरह का प्रेम मैं आप के साथ करता हूँ, जिस तरह का व्यवहार मैं आप के साथ करता हूँ, उसी तरह का प्रेम और व्यवहार आप आपस में रखें ताकि दुनिया पहचान सके कि आप मेरे हैं।'

तो आदर्शवादी नेतृत्व के यह सब नमूने कार्यकर्ता के लिए बहुत ही मार्गदर्शक हैं। इस तरह निरहंकारी ध्येयनिष्ठा से संपूर्ण आत्मलोप करने वाला कार्यकर्ता ही लोगों को पता न लगते हुए स्वाभाविक रूप से उनका नेतृत्व संपादन कर सकता है। स्वयं अपना बड़प्पन न दिखाते हुए या श्रेय न लेते हुए वह अन्यों को सम्मानित करता है।

सही बड़प्पन का एक छोटा सा सूत्र विष्णुसहस्रनाम इस स्तोत्र में आया है।

अमानी मानदो मान्यो लोकस्वामी त्रिलोकधृत्।

तीनों लोकों को धारण करने वाला याने भगवान, वे ही लोगों का नेतृत्व करते हैं याने लोकस्वामी हैं। लेकिन यह वे कैसे करते हैं? तो कहा, अमानी मानदो मान्यो। 'अमानी' याने जो स्वयं अपने लिए सन्मान की अपेक्षा नहीं करता। 'मानदो' याने जो दूसरों को मान देता है। फिर तीसरा शब्द आता है 'मान्यो', जिसके कारण वह सर्वमान्य है। याने लोकनेतृत्व उसीका सिद्ध होता है जो स्वयं के लिए सम्मान की अपेक्षा न रखते हुए दूसरों को सम्मानित करता है और इसलिए सर्वमान्य होता है।

कार्यकर्ता को यह ध्यान में लेना आवश्यक है कि व्यक्तिगत अहंकार और ध्येयनिष्ठा का आदर्श, दोनों एक साथ हृदय के सिंहासन पर नहीं बैठ सकते। जैसा जीजस ख्राईस्ट ने कहा है कि हृदय के सिंहासन पर भगवान और शैतान

दोनों एक साथ बैठ नहीं सकते। 'अहम्' जितना बड़ा होगा, आदर्शवाद उतनाही छोटा होगा। मानो एक ही वृत्त (circle) है जिसमें दो रंग निश्चित हैं, हरा और लाल। वृत्त यदि स्थायी (constant) रहा तो हरे रंग का दायरा बढ़ने पर लाल रंग का दायरा छोटा होगा। लाल का दायरा बढ़ेगा तो हरे का छोटा होगा। वैसे ही हृदय के वृत्त की बात है। उसमे अहंभाव और ध्येयनिष्ठ आदर्शवाद इन दोनों की स्थिति भी ऐसी ही मात्रा में रहती है।

जहाँ अहंकार होगा, वहाँ ध्येयवाद नहीं होगा। जैसे कि जहाँ अहंकार होता है वहाँ ईश्वर नहीं होता है।

जब मैं था तब हरी नाहीं। अब हरि है मैं नाही।
प्रेमगली अति साँकरी। जामे दो न समाही॥

जिसका आदर्शवाद का दायरा संपूर्ण वृत्त बन गया है, वास्तव में वही व्यक्ति सही लोकनेतृत्व कर सकता है।

■ निरिच्छ नेतृत्व

ऐसे कार्यकर्ता अपने अपने कार्य में मग्न रहने के कारण उनको न किसी भौतिक सुविधाओं की लालच अपने मार्ग से परावृत्त कर सकती है, न तो ऐसी सुखसुविधाएँ देने वाले सत्ताधारी की कृपा की आकांक्षा उनके मन में रहती है। हमारे इतिहास में से ऐसे निरिच्छ महानुभावों के उद्बोधक उदाहरण हमारे सामने आते हैं।

अपने देश में एक ऐसे कुंभनदास नाम के संत थे, जिनको बादशहा अकबर ने उनका सम्मान करने के लिए राजधानी सीकरी में बुलाया था। उसपर उस संत ने कहा कि मैं नहीं आता –

संतन को कहाँ सीकरी सो काम
आवत जात पन्हैया टूटे, बिसर जात हरिनाम।

तुम्हारे दरबार में हमारा क्या काम? हम क्यों आएँगे? आते-जाते मेरी चप्पल टूटेगी और भगवान का नाम भी मैं भूल जाऊँगा। तो वहाँ आने से कौन सा लाभ होने वाला है?

महाराष्ट्र में संत तुकाराम का उदाहरण भी ऐसा ही है। उन्हें शिवाजी महाराज ने बड़ा आदर करते हुए बुलावा भेजा। उनको लाने के लिए पालकी भी भेजी, तो संत तुकाराम कहते हैं –

तुम्हांपासी येवोनिया आम्हां काय काज।
व्यर्थ शीण आहे चालण्याचा।

अर्थात तुम्हारे पास आकर हमें क्या लाभ है? फिजूल चलने के कष्ट ही तो होंगे!

पश्चिमी संस्कृति में भी ऐसे महानुभाव हुए हैं जिनके मन में ऐसी निरिच्छता थी। ग्रीक इतिहास में थोर दार्शनिक डायजेनिस का उदाहरण आता है। वे हमेशा टब में बैठ कर सूर्यस्नान करते थे। बादशाह सिकंदर ने उनका नाम सुना तो उसने यह सोचा कि उसके राज्य में दुनिया का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक है, तो यह स्वयं का ही बड़प्पन है। इसलिए उसको अपने दरबार में ले आना चाहिए। राजा के दूत उनको लाने गए तो उन्होंने साफ बताया कि दरबार आने से मेरे सूर्यस्नान का क्रम टूट जाएगा। सिकंदर को यह सुनकर गुस्सा तो आया, फिर भी उसने सोचा कि ऐसे दार्शनिक तो पागल होते हैं, तो चलो हम ही उनके पास जाएँगे। डायजेनिस को बताया गया कि बादशहा आ रहे हैं। तो वह बोला, 'आने दो! मैं थोड़ा ही उनको रोक रहा हूँ?' वे अपने टब में धूप में बैठे रहे। आखिर सिकंदर उनके पास पहुँचा। सुबह का सूरज ऊपर आया था। सूरज की किरणें वहाँ आ रही थीं और डायजेनिस आराम से बैठे थे। बादशहा की तरफ उन्होंने देखा तक नहीं। बादशहा ने कहा, ''मैं अलेक्झांडर आ गया हूँ।'' फिर भी डायजेनिस ने केवल 'हाँ' कहा। फिर बादशहा आगे बोलने लगा, ''मुझे इसका बड़ा गर्व है कि आप के जैसे बड़े दार्शनिक मेरे प्रजाजन हैं।'' बादशहा बोलता रहा और डायजेनिस चुप ही रहे। आखिर सिकंदर ने कहा, ''मैं आप से बहुत प्रसन्न हूँ और इस दुनिया में ऐसी कोई चीज नहीं, जो मैं आप को नहीं दे सकता। आप कुछ भी माँग लीजिए। मैं आप को दे दूँगा।'' इतना बोलने पर अब डायजेनिस ने सिकंदर की तरफ देखकर कहा कि, 'मैं जो माँगूँगा, आप देंगे?' जवाब आया, 'बिल्कुल।' डायजेनिस ने कहा, 'शायद आप के ख्याल में नहीं है कि आप की छाया मेरे शरीर पर आ रही है, इस कारण मेरे सूर्यस्नान में बाधा आ रही है। आप एक ही बात कीजिए कि जरा एक तरफ हट जाइए, ताकि सूर्य की किरणें सीधे मेरे शरीर पर आ जाएँ।' यह कैसी निस्पृहता की सीमा है।

तो अपने कार्य में मग्न कार्यकर्ता के मन में भी किसी सत्ताधारी की कृपा से सुखसुविधा प्राप्त करने का लालच, मोह निर्माण न हो ऐसी मानसिकता होनी चाहिए।

आदर्शवादी नेतृत्व का प्रभाव

ऐसा जो आदर्शवादी नेतृत्व है उसका प्रभाव साथ वाले कार्यकर्ताओं पर और कार्यक्षेत्र पर भी होता है। संघकार्य में जो संस्कार होते हैं, वे केवल बौद्धिक सुनने से, बड़े बड़े सिद्धान्तों की जानकारी से नहीं तो आदर्शवादी कार्यकर्ताओं के व्यक्तिगत संपर्क से होते हैं। ऐसा नहीं कि सैद्धान्तिक जानकारी का कोई महत्त्व नहीं है। खास करके आज के जमाने में तो कार्यकर्ताओं को सामाजिक गतिविधियों का सूक्ष्म भान, अन्यान्य समाज-वैज्ञानिक प्रणालियों की कुछ मात्रा मे जानकारी आवश्यक है। इस सभी जानकारी से न केवल अपने कार्य की अनिवार्यता तथा तौलनिक महत्त्ता ध्यान में आती है अपितु मन में अपने ध्येय संकल्प के प्रति दृढ़ बौद्धिक धारणा भी निर्माण होती है। अपने कार्य के बारे में एक स्थिर परिप्रेक्ष्य मन में सिद्ध होता है। लेकिन प्रत्यक्ष कार्य करने के लिए तो प्रवृत्ति बनी रहना आवश्यक है। फिर एक बार दुर्योधन का वचन हम ध्यान में ले सकते हैं। धर्म क्या है, अधर्म क्या है यह सब जानते हुए भी धर्म के प्रति प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति न होने के कारण उसका व्यवहार दुराचारी ही रहा। तो दृढ बौद्धिक धारणा होते हुए भी कार्य के लिए प्रवृत्ति बनना आवश्यक है। और वह तो व्यक्तिगत संपर्क के माध्यम से प्राप्त हुए संस्कारों से ही निर्माण होती है। एक दृष्टि से हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सिद्धान्त कार्यकर्ता को दिशा तो जरूर बताता है लेकिन उसको गति देने का कार्य, प्रवृत्ति बनाने वाले संस्कार ही करते हैं। जैसे एक दीप दूसरे दीप को जलाता है उसी प्रकार ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता अपनी आदर्शवादी गुणवत्ता को दूसरों में संक्रमित करता है। तो ऐसा आदर्शवादी नेतृत्व मोटे तौर पर मौखिक मार्गदर्शन (sermonising) न करते हुए संपर्क में आने वाले कार्यकर्ता को केवल अपने व्यवहारसूत्रों से ही मूल्यनिष्ठ आचरण की प्रेरणा देता है। श्री अरविंद कहते हैं –

Inspiration is real work. Let a truly inspiring word be uttered and it will breathe life into dry bones. Let the inspiring life be lived and it will produce workers by thousands. अर्थात संप्रेरणा देना यह वास्तव में ऐसी प्रक्रिया है कि उसके एक ही शब्द से सूखी हड्डियों में भी जान भर आती है। ऐसा प्रेरक जीवन ही, हजारो की संख्या में कार्यकर्ताओं का निर्माण करता है।

किसी भी सत्कार्य में ऐसे आदर्शवादी व्यक्ति के आचरण से जो वायुमंडल बनता है उसके प्रभाव से ही कार्यकर्ता में समर्पण का भाव, मूल्यनिष्ठा आदि

निर्माण होते हैं। १९१९ में न्यूयॉर्क से 'यंग पंजाब' के नाम लिख हुए लाला लजपतराय के एक अनावृत पत्र में इस बात पर उन्होंने जोर दिया है। लालाजी ने लिखा है – 'जिनकी नैतिकता उच्च है, जो अपनी जिम्मेदारी जानते हैं, जो स्वार्थत्याग के लिए तैयार हैं और अपने तत्त्व तथा उद्दिष्टों के लिए कष्ट उठाने के लिए जो तैयार हैं, ऐसे ही लोग अच्छी संस्थाएँ खड़ी कर सकते हैं।'

कई पश्चिमी विचारकों ने भी यह सूत्र लोगों के सामने रखा है। मेरा एक अवलोकन बताता हूँ। एक बार रेल्वे के प्रवास में सुबह के समय ऊपर की बर्थ का प्रवासी नीचे आकर मेरी बर्थ पर बैठा। उसके हाथ में एक किताब थी। वह पढ़ने लगा। थोडी देर बाद वह टॉयलेट जाने के लिए उठा। जाते समय उसने वह किताब जहाँ तक पढी थी उन्हीं पन्नों पर औंधी कर के बर्थ पर रख दी। उसके जाने के बाद उत्सुकतावश मैंने वह उठाकर देखी तो उन पन्नों पर अल्बर्ट श्वाईट्झर के विचार प्रस्तुत किए गए थे। मुझे आश्चर्य हुआ कि ये विचार पू. डॉक्टरजी के विचारों के समान ही प्रतीत होते थे। संस्कार यह शब्द अंग्रेजी में नहीं है किन्तु व्यक्ति को संस्कार कैसे प्रदान करना यह विषयसूत्र अपने ढंग से उसमें आया था। मुझे साश्चर्य आनंद हुआ। किन्तु पढ़ते पढ़ते एक वाक्य ऐसा आया जिसके कारण आश्चर्य हुआ और गुस्सा भी आया। अच्छी नरम खिचडी खाते खाते बीच में कंकड आ जाए ऐसा लगा। वह वाक्य था कि व्यक्ति के सामने स्वयं अपना उदाहरण आदर्श के नाते प्रस्तुत करना उपयुक्त है, किन्तु Example is not the main thing in moulding men's minds. मनुष्य के मन को बनानेवाली, उदाहरण यह प्रमुख बात नहीं है। मुझे गुस्सा आया कि अब तक यह भला आदमी ठीक ढंग से बात कर रहा था और अब अचानक यह गलत बात कैसी आ गई कि Example is not the main thing etc. etc. मैंने गुस्से से वह किताब रख दी। किताब के मालिक टॉयलेट से वापस आने में विलंब हो रहा था। तो बीच में विचार आया कि श्वाईट्झर का अगला वाक्य क्या है यह एक बार देख तो ले। इसलिए फिर से किताब उठाई। और आगे पढ़ना शुरू किया। और फिर से आश्चर्य हुआ। अगला वाक्य था – It is the only thing. वही केवल बात है। तो पूरा वाक्य हो गया Example is not the main thing. It is the only thing in moulding men's minds. मनुष्य के चारित्र्य बनाने में 'उदाहरण' यह महत्त्व का नहीं तो केवल एक ही साधन है। मतलब है कि main thing बोलने से आभास होता है कि moulding men's minds कई और बातों पर भी निर्भर है, उन्हीं

में से प्रमुख बात है खुद का आदर्श प्रस्तुत करना। किन्तु आगे चलकर जो लिखा था उससे यह बताया था कि ऐसा नहीं तो Example is the only thing यानी मनुष्यों के मन पर संस्कार अंकित करने के लिए खुद का उदाहरण यही एकमेव महत्त्वपूर्ण बात होती है। उसकी तुलना में दूसरी कोई भी बात महत्त्वपूर्ण नहीं है।

व्यक्तिगत संपर्क से ही कार्यकर्ता का विकास, उसकी गुणवत्ता बढ़ाना, और फिर उसको उत्साह, विचार, ज्ञान और तत्त्वज्ञान का एक दर्शन दिलाकर खड़ा करना, उसमें ध्येयसंकल्प के प्रति अडिग श्रद्धा conviction निर्माण करना, आगे चलकर उसमें भी नेतृत्व की गुणवत्ता तथा धारणा निर्माण हो आदि का प्रयास, नेतृत्व करने वाला कार्यकर्ता कर सकता है। समय समय पर कार्यकर्ताओं की हिम्मत बढ़ाने का काम भी उसको करना पड़ता है। अपने इतिहास में सिंहगड विजय की घटना ऐसे नेतृत्व का नमूना प्रस्तुत करती है। रस्सियों के सहारे सैनिक किले पर पहुँच गए थे। रात्रि के घमासान युद्ध में तानाजी मालुसरे की मृत्यु हुई। नेता गिरने पर सैनिक डर के मारे रस्सियों की ओर भागने लगे। तब शेलारमामा ने ललकार कर सैनिकों को बताया, 'सूर्याजी मालुसरे ने रस्सियाँ पहले ही काँट दी हैं। शत्रुसेना पर विजय हासिल करने के अलावा अब यहाँ से जी बचाने का दूसरा कोई रास्ता नहीं है। जीतना है या मरना है।' अब नेता गिरने पर जिनके मन में कमजोरी आई थी, वे सब सैनिक वापस आए और अपनी बहादुरी का परिचय देते हुए उन्होंने किला जीत लिया।

नेतृत्व के सिद्धान्तों से भी बढ़कर नेता का व्यक्तिगत संपर्क मधुर, घनिष्ठ तथा व्यापक रहा तो लोग उनके ध्येयसंकल्प से जुट जाते हैं। एक दृष्टि से ऐसा आदर्शवादी नेता nucleus, प्रेरणा केंद्र, शक्ति केंद्र होता है। जैसे स्तब्ध कुंठित जलाशय में पत्थर पड़ा तो हलचल पैदा होती है, लहर का छोटा मंडल निर्माण होता है, और फैलता है। चिनी दार्शनिक लाओ त्से के भाष्यकार जॉन हीडर इस प्रक्रिया को The Ripple Effect यह संज्ञा देते हैं। उन्होंने कहा है – Remember that your influence begins with you and ripples outward. So, be sure that your influence is both potent and wholesome. वह कहता है – 'ध्यान में रखो, तुम्हारा प्रभाव स्वयं से प्रारंभ होते हुए लहरों के रूप में फैलता जाता है। तो सावधानी रखो कि तुम्हारा प्रभाव सचेत और जोशीला हो।

लेकिन यह लहर किनारे तक जाते जाते क्रमशः क्षीण होती जाती है। केंद्र जितना बलशाली, जोशीला रहेगा, लहर उसी के तुलना में सचेत, दमदार रहेगी और किनारे पर उतनी मात्रा में असर होगा। केंद्र ही दुर्बल रहेगा तो लहर भी अधिक मात्रा में क्षीण होती जाएगी और किनारे पर पहुँचने तक शायद उसका विलय भी होगा। इसी तरह नेतृत्व का प्रेरणा केंद्र और उससे कार्यकर्ताओं तक पहुँचने वाला संस्कार उनमें संबंध रहता है। इसलिए नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता का संस्कार प्रबल तथा हितकर होना आवश्यक है।

■ नेतृत्व करनेवाले कार्यकर्ता का सभी के साथ व्यवहार कैसा हो ?

हमारे कार्यकर्ता का, खास करके नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता का स्वयं का व्यक्तिमत्त्व कैसा होना अपेक्षित है, कौन सी गुणवत्ता का विकास उसमें होना चाहिए इसका जिक्र हमने किया। जैसे कि पहले बताया है, ऐसे ही कार्यकर्ता का प्रभाव अन्य स्वयंसेवकों के मन पर उनके संपर्क के द्वारा होता है और उनमें वही गुणवत्ता संक्रमित होती है। इसलिए खास करके नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता का अन्य स्वयंसेवकों से जो व्यवहार रहता है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। संघ की कार्यपद्धति में ऐसे कई व्यवहारसूत्र विकसित किए गए हैं।

जैसे कि 'अपनी कार्यपद्धति' में बताया है, जो व्यक्तिगत संस्कार होते हैं वे आत्मीयतापूर्ण संबंध संपर्क इन्हीं के द्वारा होते हैं। केवल नेतागिरी करके, दूरी से संबंध रखने पर नहीं होते तथा केवल उपदेशबाजी से भी नहीं होते हैं। इसलिए नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता में पूरे समाज के प्रति आत्यंतिक प्रेम आत्मीयता होना जरूरी है। मुझे अपना खुद का ही उदाहरण याद आता है।

मैं तब मजदूर क्षेत्र में इंटक में कार्य करता था। जब इंटक के जनरल कौन्सिल पर चुनकर गया, तब मुझे बड़ा आनंद हुआ। जब इस के बाद टाटानगर से नागपुर आया तब पू. गुरुजी को अपने इस पराक्रम के बारे में बता दिया। 'भारी विरोध के बावजूद भी मैं चुनकर आया।' युवावस्था थी। आत्मगौरव की भावना थी। तो पू. गुरुजी ने कहा, 'अच्छा हुआ।' बाद में वे इस जनरल कौन्सिल के बारे में एक एक बात पूछते गए। मैंने सब जानकारी दे दी। आखिर में एक प्रश्न उन्होंने पूछा कि, 'आप को जनरल कौन्सिल पर कितने और कौन से लोगों ने चुना?' तो मैंने बताया कि 'non-metal sector के मतदाता क्षेत्र के मजदूरों ने चुना।' तो उन्होंने पूछा, 'उस क्षेत्र में कितने मजदूर हैं?' '३५ हजार मजदूर हैं।' फिर उन्होंने कहा कि, 'मेरे मन में एक प्रश्न है उसका सही

जवाब दीजिए। इन ३५ हजार मजदूरों के प्रति क्या आप के मन में वही आत्मीयता का भाव है जो आप के प्रति आप की माँ का है?' मैंने कबूल किया कि 'सच कहना है तो वैसा कुछ भाव नहीं है।' इसपर उन्होंने कहा, 'बराबर ही है। आप इंटक की जनरल कौन्सिल के सदस्य तो हो चुके हैं, लेकिन भगवान की जनरल कौन्सिल के सदस्य नहीं बने हैं।' अब उन्होंने थोड़े शब्दों में जो संकेत किया उससे मुझे मालूम हुआ कि नेतृत्व करनेवाले कार्यकर्ता के पास मातृहृदय होना आवश्यक है।

इस संदर्भ में पू. डॉक्टरजी के जीवन के तो कई प्रसंग हमारे लिए मार्गदर्शक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए एक ही प्रसंग बता रहा हूँ जिसमें उनका हृदय उन्हीं के शब्दों में प्रकट हुआ था। एक स्वयंसेवक की तबीयत अच्छी न होने के कारण वह शाखा पर नहीं आता था। पू. डॉक्टरजी को यह वार्ता मिलने पर वे दो चार स्वयंसेवकों के साथ सबेरे ही, प्रभातशाखा से उनके घर निकले। घर तो सुदूर अंतर पर था। उस स्वयंसेवक के नजदीक ही पू. डॉक्टरजी को पहचानने वाले एक सद्गृहस्थ रहते थे। उन्होंने डॉक्टरजी को पैदल आते हुए देखा और पूछा, 'डॉक्टरजी, आप इतने दूर पैदल किसके यहाँ आए थे? तो डॉक्टरजी ने कारण बताया। फिर उस सज्जन ने पूछा, 'इतना लंबा अंतर और आप बिना किसी वाहन के केवल एक बीमार स्वयंसेवक से मिलने आए?' तो डॉक्टरजी बोले – 'अंतर तो हृदय में होता है।' मतलब हमारे मन में समाज के हर एक घटक के लिए जब प्रेम, आत्मीयता रहती है तो सब प्रकार का अंतर मिट जाता है। ऐसे आत्मीयतापूर्ण संबंधों के कारण ही नेता का व्यक्तिमत्त्व तथा व्यवहार कार्यकर्ता के लिए एक वस्तुपाठ role model जैसे बन जाता है।

■ समाज से घुलमिल कर रहना

अब कार्यकर्ता का ऐसा विकास करने वाला संबंध तभी निर्माण होता है जब नेतृत्व करने वाला समाज से घुलमिलकर रहता है। व्यक्ति इस दृष्टि से आदर्श होकर भी कार्यकर्ता लोगों से दूरी का व्यवहार करेगा तो वह नेतृत्व नहीं कर सकता है। भगवद्गीता ने कहा है –

यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नो द्विजतेच यः। भ.गी. १२.१५

ऐसा नेता होना चाहिए कि जिससे कोई ऊबता नहीं और जो स्वयं दूसरों के सहवास से ऊबता नहीं। कुछ कार्यकर्ता व्यक्ति इस नाते अच्छे होते हैं लेकिन

अकेले रहना अच्छा समझते हैं। कोई उनके पास गया तो उनको लगता है कि कोई बला आ गई। ऐसे व्यक्ति संगठन नहीं बांध सकते। भले ही वे कितने भी गुणवान, चारित्र्यसंपन्न ही क्यों न हो। इसलिए लोगों में उठने-बैठने, काम करने का स्वभाव; हँसी-मजाक, गपशप की प्रवृत्ति, अपने आजूबाजू में प्रसन्नता का, मधुरता का वातावरण निर्माण करना, ये सभी बातें नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता के लिए अत्यावश्यक है। एक यशस्वी क्रांतिनेता ने कहा है कि जनजागरण के मामले में यह सर्वप्रथम महत्त्व की बात नहीं है कि आप जनता को क्या बताना चाहते हैं। महत्त्व की बात यह है कि जनता को क्या जानने की इच्छा है, जिज्ञासा है। आप के सिद्धान्त कितने भी श्रेष्ठ हो, आप की प्रतिपादन शैली कितनी भी चित्ताकर्षक हो, जब तक सुनने की मानसिकता जनता में जागृत नहीं है, तब तक आप का कहना तो उनके बधिर कानों पर ही पड़ेगा। इसके लिए जनता की मानसिकता की प्रत्यक्ष रूप में, अखबारों से नहीं, प्रत्यक्ष संपर्क से जानकारी लेना आवश्यक है। लोगों से दूर, ऊँचे स्थान पर रहते हुए Ivory Tower में बैठते हुए, वास्तविकता की जानकारी लिए बिना हम बातें करने लगे, नेता या उपदेशक इसी नाते जनता में जाए, तो हमारी कोई लगन से नहीं सुनेगा। पिछले विभाग में, 'अपनी कार्यपद्धति' में यह बात आई है कि जो पान के ठेले पर जाता नहीं वह कार्यकर्ता ही नहीं हो सकता, उसका मतलब यही है। समाज में घुलमिल कर रहनेसे ही समाजमानस की नाडी हाथ में आती है और तभी हम अपना विचार समाज में बोने में सफल हो सकते हैं।

इसके साथ ही जो कुछ कार्यक्रम करना होता है वह सभी को साथ में लेकर करने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। कुछ कार्यकर्ता ऐसे होते हैं कि ध्येयसमर्पित होते हैं, लगन से काम करते हैं, निरहंकारी भी होते हैं, फिर भी अकेले ही हर काम करने का प्रयास करते हैं। कुछ कार्यभार दूसरे के ऊपर सौंप कर उनसे काम करवा लेने की आदत नहीं होती। अपने कार्य से पूर्ण प्रतिबद्धता होने के कारण ही शायद दूसरों से यह काम होगा या नहीं यह भरोसा उनके मन में नहीं रहता। इसके कारण हर काम स्वयं निपटाने का प्रयास करते हैं। कार्य अच्छी तरह से हो यह धारणा तो ठीक है। इनके कर्तृत्व का परिचय भी इससे मिलता है। लेकिन इसके दो परिणाम होते हैं। एक, ऐसे कार्यकर्ता संस्थान बन जाते हैं। संगठन One Man Institution बन जाता है। और अन्य कार्यकर्ता भी विकसित हो ऐसा प्रयास होने में बाधा निर्माण होती है। 'एकला चलो' ऐसी वृत्ति से संगठन नहीं बनता।

चिनी दार्शनिक लाओ त्से ने कहा है The wise leader settles for good work and let others have the floor. अर्थात जो सुजान नेता होता है वह खुद काम में मग्न तो रहता ही है लेकिन दूसरों को ज्यादा मात्रा में अवसर देता है।

The leader does not take all the credit for what happens and has no need for self fame. मतलब स्वयं को सभी बातों का श्रेय लेने में नेता को रुचि नहीं रहती क्योंकि वह प्रतिष्ठा के पीछे नहीं पड़ता है। दूसरों को बड़ा करने में, अनुयायियों का बड़प्पन देखने में सही नेता को अधिक मात्रा में आनंद मिलता है।

■ समाज के साथ चलना

और भी एक बात है। लोगों के साथ घुलमिल कर रहना, फिर भी उनको कार्य की प्रेरणा देना नेतृत्व का परिचायक है। समर्थ रामदासजी ने कहा है कि छोटे बच्चे को अगर ऊँगली पकडकर चलाना है तो हमें भी उसके साथ धीरे धीरे ही चलना पड़ता है। पू. डॉक्टरजी कहते थे कि प्रत्यक्ष में समाज से केवल दो कदम ही आगे रहो, भले ही मन से आप पचास कदम आगे क्यों न हो।

महाराष्ट्र के विगत सदी के इतिहास में इस बात का प्रमाण देने वाला उदाहरण आता है। तत्त्वनिष्ठ समाजसुधारक गोपाळ गणेश आगरकर हमारे समाज के परिवर्तन के संदर्भ में जो बुनियादी मुद्दे उठा रहे थे वे सब मौलिक तथा आवश्यक भी थे। लेकिन समाज पिछड़ा था और आगरकर मानो समाज से पचास वर्ष आगे थे। अत: उनकी बातें समाज को जँचती नहीं थीं। समाजपरिवर्तन के संबंध में लोकमान्य तिलक और आगरकर इनके विचारों में मूलभूत फर्क तो नहीं था। फर्क था वह केवल, यह पिछड़ा समाज परिवर्तन के आधुनिक आयाम कितनी मात्रा में स्वीकार कर सकेगा, इसके बारे में। लोकमान्य समाज के साथ रहकर सुधार लाना चाहते थे। इसलिए वे संगठन बांध सके। समाज को साथ में लेकर आगे बढ़ सके। आगरकर समाज से पचास बरस आगे चल रहे थे तो संगठन नहीं बांध सके, यद्यपि उनके विचार उतने ही महत्त्वपूर्ण थे।

यदि नेता पहले ही पचास कदम आगे रहा तो समाज की अनुकरण की ऊर्मि क्षीण हो जाती है। समाज कहेगा कि वह बहुत आगे है। वह श्रेष्ठ है अत: हम उसकी पूजा तो करेंगे, परन्तु उसके अनुसार चल नहीं सकेंगे। 'न देवचरितं चरेत्।' भगवान राम, कृष्ण, राणा प्रताप, शिवाजी महाराज महान थे। लोग उनकी

पूजा करते हैं लेकिन जब अनुकरण की बात आती है तो कहते हैं वे तो महान थे। हम तो छोटे आदमी हैं। हम कैसे उनका अनुकरण कर सकते हैं? इसलिए नेतृत्व करने वाले नेता को भी बाकी के लोगों से एकाध कदम ही आगे बढ़ना चाहिए, तभी वह बाकी लोगों को भी साथ लेकर चल सकेगा। परंतु चार लोगों को साथ लेकर तभी जा सकता है, जब दृष्टिकोण भी सही होता है। संत ज्ञानेश्वर ने ज्ञानी भक्तों का वर्णन करते समय लिखा है –

मार्गाधारे वर्तावि। विश्व हें मोहरें लावावे
अलौकिक नोहावे। लोकांप्रति ॥ (ज्ञानेश्वरी ३.१७१)

अर्थात् जो परिपाटी चलती आई है उसी के अनुसार चलना और विश्व को दिशा देना, लेकिन यह करते समय, लोगों में, हम कोई अलौकिक हैं, यह भाव उत्पन्न न होने देना।

■ सभी का योग्य ख्याल

इसके साथ ही, साथ में रहने वाले कार्यकर्ताओं की तरफ कार्यकर्ता का ठीक ढंग से ध्यान रहना आवश्यक होता है ताकि उनकी योग्य कद्र हो सकेगी। सामान्य व्यक्ति का ध्यान सर्वप्रथम इस बात पर रहता है कि सामने वाले व्यक्ति के मन में अपने बारे में मान्यता का भाव कहाँ तक है। यह आवश्यक है कि संबंधित व्यक्ति आश्वस्त रहे कि आप उसे मान्यता दे रहे हैं। विशेष रूप से जब एक ही समय अनेक लोगों से संपर्क हो रहा हो तब यह सतर्कता बरतनी पड़ती है। इस संदर्भ में कालिदास ने भगवान शंकर का वर्णन किया है वह बहुत ही उद्बोधक है। शंकरजी बारात लेकर आए हैं। उनके स्वागत के लिए सभी देवगण उपस्थित हैं। उस समय का शंकरजी का व्यवहार कालिदास इस तरह बताते हैं –

कंपेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिम्।
वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन।
आलोकमात्रेण सुरानशेषान्।
संभावयामास यथा प्रधानम्॥ (कुमारसम्भवम् सर्ग ७.४६)

शंकरजी ने ब्रह्माजी की तरफ सर हिलाया, उसी समय विष्णुजी से कुछ बोले और साथ ही इंद्र की ओर उन्होंने स्मितहास्य किया। उसी समय किसी

को भी न छोड़ते हुए बाकी देवताओं की ओर दृष्टिक्षेप करके समानता से सभी की संभावना की।

सभी की कद्र करते हुए सतर्कता से व्यवहार करने का यह आदर्श नमूना हमारे सामने आता है।

जैसे कि पहले बताया है कि, 'अमानी मानदो, मान्यो लोकस्वामी त्रिलोकधृत्।' यही नेतृत्व का सही परिचय है। उसी क्रम में सभी की योग्य कद्र रखते हुए, अन्य सहकारियों को योग्य रीति से सम्मानित करते हुए नेतृत्व करने वाला कार्यकर्ता अन्यों को बढ़ावा देता है। लेकिन ऐसा बढ़ावा देते समय कुछ सावधानी भी बरतनी पड़ती है। जहाँ कभी कभी बढ़ावा देने से दूसरे व्यक्ति सक्रिय बनते हैं वहीं दूसरी ओर उनमें से कुछ व्यक्तियों का अहंकार तथा अधिकाधिक सम्मान पाने की अखंड इच्छा, भी बढ़ सकती है। तो एक तरफ दूसरों को सक्रिय बनाना और साथ ही साथ उनको अनुशासन में रखना यह नेतृत्व की कसौटी है।

इसके साथ साथ यह भी ध्यान में लेना आवश्यक है कि कार्यकर्ताओं के मन में जो बातें होती हैं वे सावधान चित्त से और धीरज से हम सुनते हैं यह भी विश्वास उनके मन में पैदा हो यह हमारा प्रयास रहना चाहिए। 'मेरे मन की व्यथा कोई सुननेवाला नहीं है, मेरे मन की आपत्ति कोई समझनेवाला नहीं है।' ऐसा भाव यदि कार्यकर्ता में निर्माण होगा तो उसके मन में कार्य के बारे में कुंठा पैदा होती है और वह कार्य की धारा से आहिस्ता आहिस्ता दूर हो जाता है। तो कार्यकर्ता की बात तो सुनना चाहिए ही। लेकिन सुनते समय हम केवल सहानुकंपा से (sympathy) सुन रहे हैं ऐसा उसे नहीं लगना चाहिए। तो सुननेवाला और बतानेवाला इनकी हृदय-वीणाओं से एक ही झंकार गूँज रही है, अपने मन मे उनके प्रति empathy (सम संवेदना) है इतना ही उसे महसूस हो। यदि कार्यकर्ता की बात हम केवल सहानुकंपा से सुनेंगे तो उसके मन में स्वयं के प्रति करुणा का भाव निर्माण होता है जिसके कारण उसकी आत्मपरीक्षण की और आत्मचिकित्सा की मानसिकता क्षीण हो जाती है। तो कार्यकर्ता की बात सुनते समय antipathy प्रतिकूलता भी नहीं होनी चाहिए, ज्यादा सहानुभूति भी नहीं चाहिए, तो empathy होनी चाहिए।

अपनी वाणी पर भी नियंत्रण होना आवश्यक है और अपनी वाणी-बोलना सौम्य भी होना चाहिए। शास्त्रों में भगवान को सहस्रबाहु, सहस्रशीर्ष तो कहा गया है। पर सहस्रहृदय नहीं कहा गया है। अर्थात् हाथ हजारों हैं, पैर हजारों हैं, सिर हजारों हैं, किन्तु हृदय एक ही है। यह हृदय चाहे जितना विशाल हो,

परन्तु वाणी शुद्ध और मधुर न रही तो सभी हेतु शुद्ध होने पर भी, बातें व्यर्थ हो जाती हैं। मन तो कोई देख नहीं पाता है। वाणी से ही व्यक्तियों में पारस्परिक व्यवहार का निर्धारण होता है। अपने विचारों पर अडिग तो रहना चाहिए लेकिन उनकी अभिव्यक्ति अगर सौम्य वाणी में नहीं हुई तो कार्यकर्ता योग्य मानसिकता में वे ग्रहण नहीं कर पाते।

■ विचारों पर अडिग, अभिव्यक्ति में सौम्य

पू. गुरुजी के विचारों के संकलनरूप 'राष्ट्र' इस नाम के ग्रंथ की प्रस्तावना में संपादक तथा ज्येष्ठ विचारक श्री. भानुप्रताप शुक्लजी ने पू. गुरुजी के स्वभाव के बारे में जो एक संदर्भ दिया है वह हमारे लिए बहुत ही उद्बोधक है। उन्होंने बताया है यद्यपि श्रीगुरुजी अपने राष्ट्रविषयक विचारों के बारे में अडिग तथा आग्रही थे उनका स्वभाव तथा आचरण अतिनिर्मल था। लेकिन उनका स्वभाव अति उग्र था, ऐसी गलतफहमियाँ खास कर के संघ के विरोधकों ने फैलाई थीं। एक कट्टर बुद्धिजीवी तथा पश्चिम बंगाल के भूतपूर्व अर्थमंत्री डॉ. अशोक मित्र के एक लेख में से कुछ शब्द श्री भानुप्रतापजी ने उद्धृत किए हैं। कलकत्ता के 'आजकल' नाम के दैनिक वार्तापत्र में डॉ. मित्र ने लिखे ९ जून १९९१ के 'गाय की कहानी - गुरु की कहानी' इस लेख का संदर्भ दिया है। ७ नोव्हेंबर १९६६ के दिन गोहत्याविरोधी आंदोलन के दौरान संसद मार्ग पर गोभक्तों का हत्याकांड हुआ। बाद में गोहत्या के विषय में सरकार ने एक समिति गठित की। उसमें पुरी के जगद्गुरू शंकराचार्य, न्यायमूर्ति रमाप्रसाद मुखर्जी और पू. गुरुजी इनको विशेषकर सम्मिलित किया था। डॉ. अशोक मित्र भी सदस्य थे और समिति के कार्यविधि के बारे में अपना अनुभव बताते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि संघ के प्रतिष्ठा-पुरुष और अंधभक्ति तथा कडुवा आतंकवाद इनका केन्द्रबिन्दु इस नाते वे श्रीगुरुजी को पहचानते थे। लेकिन प्रत्यक्ष में इस समिति की बैठकों में श्रीगुरुजी के निर्मल स्वभाव का जो अनुभव उन्होंने किया उससे उन्हें आश्चर्य हुआ। श्रीगुरुजी के बारे में उनके मन में जो गलत धारणाएँ थीं वह सब दूर हुईं। श्रीगुरुजी बैठक में थोडे शब्दों में, विनयपूर्ण रीति से लेकिन अपनी श्रद्धा पर अडिग रहकर स्पष्ट, आग्रही शब्दों में बात करते थे। विरोधकों के साथ भी उनका व्यवहार नम्रता और सौजन्यपूर्ण होता था। डॉ. मित्र ने कहा है, श्रीगुरुजी के बारे में उनके मन में जो विषैली धारणाएँ थीं, उनका पूर्ण विलय ऐसे अनुभव के कारण हुआ।

आगे चलकर श्रीगुरुजी के बारे में और आश्चर्यचकित करने वाला एक अनुभव भी डॉ. मित्र ने बताया है। गोहत्याबंदी के लिए गठित समिति के विसर्जन के बाद एक वर्ष के दौरान श्रीगुरुजी के साथ किए हुए रेल्वे प्रवास का एक अनुभव बताया है। दिल्ली स्टेशन पर अपने आरक्षित स्थान पर मित्रजी बैठे थे। इतने में सामनेवाला प्रवासी आया। वे श्रीगुरुजी थे। डॉ. मित्र को देखते ही बहुत ही आत्मीयता से श्रीगुरुजी ने पूछताछ की, जैसे कि वे उनके बड़े भाई ही थे।

उसके भी आगे श्रीगुरुजी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाला अनुभव बताया है। थोड़ी देर के बाद श्रीगुरुजी ने एक किताब पढ़ना शुरू किया। डॉ. मित्र को लगा, श्रीगुरुजी सनातन धर्म के आग्रही समर्थक होने के कारण कुछ धार्मिक ग्रंथ पढ़ रहे होंगे। उन्होंने जिज्ञासापूर्वक देखा और उनको अतीव आश्चर्य हुआ। श्रीगुरुजी पढ़ रहे थे अमरीकी लेखक हेन्री मिलर का उसी समय प्रकाशित हुआ एक उपन्यास।

अपने विचार तथा श्रद्धा इनके बारे में आग्रही तथा दृढ़ धारणा मन में रखते हुए भी कार्यकर्ता का बर्ताव कैसा मृदु, विनम्र, सहृदय होना आवश्यक है इसका आदर्श पू. गुरुजी के रूप में हमारे सामने आता है।

■ वादो नावलंब्य:।

लेकिन सार्वजनिक कार्य में तो संपर्क करने के लिए बोलना ही पडता है। वाणी का संयम से, सजगता से उपयोग करना और वाणी पर नियंत्रण रखना यह बहुत ही कठिन बात रहती है। प्रचारकी जीवन का प्रारंभ करने के पश्चात बार बार यह सवाल मन में उठता था कि हम अपनी बात दूसरों के सम्मुख ठीक, शास्त्रशुद्ध और तर्कशुद्ध रीति से प्रस्तुत कर रहे हैं, फिर भी वे उसे समझ नहीं पा रहे, ऐसा क्यों? प्रारंभिक स्थिति में लंबा और आवेशपूर्ण विवाद करने की प्रवृत्ति होती थी किन्तु हमारे प्रांतप्रचारक मा. दादाराव परमार्थ ने सब प्रचारकों से कहा था कि, 'यह प्रवृत्ति फलदायी नहीं होगी; आप अपनी बात उचित ढंग से प्रस्तुत कीजिए, लेकिन बहस के चक्कर में मत जाइए।'' वे बताते थे कि पू. डॉक्टरजी कभी भी बहस करते हुए दिखाई नहीं दिए। अपने धर्मग्रंथ में कहा है –

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित:।
वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन:॥ (भ.गी. २-४२)

अर्थात दुराग्रही लोगों के मन अव्यवस्थित होने के कारण 'हम जो कहते हैं वही बराबर, अन्य कुछ हो ही नहीं सकता,' ऐसी उनकी धारणा रहती है। और सुललित भाषा में विवाद करने में वे बहुत ही रुचि लेते हैं।

शायद किसी कार्यकर्ता की या और दूसरों की कुछ बात गलत लगी तो भी तुरंत उसके साथ उस विषय में वाद छेड़ना भी अयोग्य रहता है। आप अच्छी तरह से तर्क से विवाद कर सकते होंगे, आप का कहना भी सही होगा, सीधे विवाद छेड़ने से विवाद में भले ही विजय भी मिल जाए, लेकिन व्यक्ति अपने से टूट जाता है इसलिए कार्यकर्ता को विवाद से बचना चाहिए। नारद भक्ति-सूत्र में दो बातें बहुत अच्छी हैं। 'वादो नावलंब्यः', जिन्हें भक्तिमार्ग का प्रचार करना है उन्हें विवाद का अवलंबन नहीं करना चाहिए। क्योंकि

बाहुल्यावकाशात् अनियतत्त्वाच्च।

दो कारण बताए हैं। 'बाहुल्यावकाशात्' याने विवाद बढ़ता ही जाता है, खत्म नहीं होता। दिनरात विवाद करेंगे तो भी वह समाप्त नहीं होता, नए नए मुद्दे आते ही रहते हैं। दूसरा कारण बताया है, 'अनियतत्त्वाच्च' याने वाद अनियतही रह जाता है, उसका फैसला नहीं होता। वह indeterminate ही रहता है। समर्थ रामदास ने कहा है, 'तुटे वाद संवाद तो हीतकारी' विवाद खत्म ही हो ऐसा संवाद हितकर होता है।

■ मतभेदों में भेद

अब सार्वजनिक जीवन में विभिन्न विषयों पर मतभेद तो जारी रहते ही हैं। संघ के कार्य के बारे में भी समाज में अन्यान्य वर्गों के लोगों में मतभेद होना स्वाभाविक ही है। लेकिन कार्यकर्ता का इन मतभेदों की ओर देखने का दृष्टिकोण स्वस्थ तथा निर्दोष रहना चाहिए। अपने कार्य के बारे में मतभेद रखनेवाले सभी लोगों को एक ही श्रेणी में गिनना उचित नहीं होता। एक विशेष परिस्थिति में चर्चिल ने कहा था कि, Those who are not with us are against us मतलब, जो हमारे साथ नहीं हैं, वे हमारे विरोधक ही हैं। इस तरह की धारणा हमारे लिए अनुचित, अनावश्यक है क्योंकि वह वास्तविकता से मेल न खानेवाली है। मतभेद रखने वालों में भी अलग अलग श्रेणियाँ रहती हैं।

एक श्रेणी में वे लोग आते हैं जिनके निहित स्वार्थ की सिद्धि के लिए यह अनिवार्य होता है कि वे संघ तथा हिन्दुत्व, हिन्दुराष्ट्र आदि सभी विषयों

मे हमारी निंदा करते हैं। सौभाग्यवश इस तरह के चतुर लोगों की संख्या अतिसीमित है, यद्यपि ऐसे ही लोगों के नाम समाचार पत्रों में बार बार आने के कारण उनकी संख्या ज्यादा है, ऐसी गलतफहमी निर्माण हो सकती है।

इनके अलावा संघ से प्रामाणिक मतभेद रखने वाला भी एक वर्ग है। जब आचार्य विनोबाजी भावे ने, 'जय जगत' का नारा दिया तब मैंने आचार्य दादा धर्माधिकारीजी से पूछा कि, 'यह कैसी बात है कि हमारे ही देश में अपने पैर अब तक धरती पर टिके नहीं और फिर भी यह 'जय जगत' की बात?' मान्यवर दादाजी ने कहा, 'विनोबा हिन्दू जो हैं। कोई मुसलमान तो ज्यादा से ज्यादा नारा देता, 'जय इस्लामी जगत', कम्युनिस्ट कहता, 'जय कम्युनिस्ट जगत', तो 'जय जगत' यह नारा हिन्दू ही दे सकता है, यह बात तो निर्विवाद है।'

यह बात तो सर्वविदित है कि एक अवसर पर विनोबाजी ने कहा भी था, ''मैं संघ का असभ्य सभ्य हूँ।' याने कि मैं भले ही संघ का विधिवत् सदस्य नहीं हूँ, लेकिन प्रवृत्ति के, धारणा के मुताबिक मैं संघ का सदस्य हूँ। Non-member member of संघ। इस अवसर पर श्री. बाबा टालाटुलेजी उपस्थित थे। परमपूजनीय श्रीगुरुजी का अंतिम पत्र श्री. टालाटुलेजी ने आचार्य विनोबाजी को दिया। पढ़ते पढ़ते 'शेवटची विनवणी'• (आखिरी प्रार्थना) तक आए और एकाएक गंभीर होकर उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। बाद में उन्होंने कहा – 'संत तुकाराम के इस अभंग का प्रयोग इतने उचित अवसर पर करने का विचार गुरुजी के मन में आया कैसा होगा?' समर्थ रामदास ने कहा है – 'अंतर्निष्ठांचिया खुणा, अंतर्निष्ठ जाणती।' (दासबोध १०४.३१) याने जो अंतर्निष्ठ होते हैं उनकी सही पहचान जो स्वयं अंतर्निष्ठ है उसको ही हो सकती है।

अब आचार्य विनोबाजी जैसे लोगों की, जो स्वयंसेवक नहीं, जिनके संघ से प्रामाणिक मतभेद हो सकते हैं, गिनती हम कौन सी श्रेणी में करेंगे? संघ के

• संत तुकाराम इस आखिरी प्रार्थना में कहते हैं :

शेवटीची विनवणी। संतजनीं परिसावी॥
विसर तो न पडावा। माझा देवा तुम्हांसी॥
पुढें फार बोलो काई। अवघें पायी विदित॥
तुका म्हणे पडिलों पायां। करा छाया कृपेची॥

याने 'मेरी यह प्रार्थना, संतजन आप सुनिए। अब अधिक बातें करने की जरूरत नहीं। आप तो सबकुछ जानते ही हैं। केवल आप का कृपाछत्र मेरे ऊपर रहे यही आखिरी प्रार्थना है।'

विपरीत या विरुद्ध विचारधाराओं के समर्थक भी यदि ध्येयवादी हैं तो उनका सोचने का ढंग व्यवहारचतुर अवसरवादियों से भिन्न ही होगा। उनके विरोध में भी प्रामाणिकता होती है। वे विरोध करते हैं वह सिद्धान्त के आधार पर, केवल व्यक्तिवादी सुविधा या स्वार्थ के लिए नहीं। ऐसे लोगों को अस्पर्श्य समझने की आवश्यकता नहीं।

■ मूल प्रेरणा शुद्ध, फिर भी मतभेद

इस विषय में ज्यादा सजगता रखने की बात तो अपने ही कार्यकर्ताओं के संदर्भ में रहती है। और उस संदर्भ में मतभेद और मनभेद इनमें विवेक करने की आवश्यकता रहती है। मतभेद तो कार्यकर्ताओं की विभिन्न प्रेरणाओं के कारण होते हैं। कार्य करते समय कुछ निहित हितसंबंध रहे तो मानसिकता ही अलग हो जाती है और दो कार्यकर्ताओं में मतभेद का अनुभव आता है। उस समय कुछ विचारों के संबंध में जो मतभेद होंगे वे प्रामाणिक ही रहेंगे, तात्त्विक रहेंगे, ऐसा भरोसा नहीं रहता।

लेकिन मूल प्रेरणा एक होते हुए भी मतभेद हो सकते हैं। हरेक को अपनी बुद्धि है, अलग प्रकृति है, प्रवृत्ति है, देखने की दृष्टि अलग रहती है। ऐसी स्थिति में भी मतभेद होते हैं। महाभारत में ऐसे मतभेद का एक उद्बोधक उदाहरण आया है। पांडवों के बारे में देखा जाए तो उनके मन की एकात्मता, विचारों का साधर्म्य, जीवनदृष्टि की समानता तो अतुलनीय रही है। फिर भी उनमें मतभेद थे ही। प्रसंग है द्रौपदी वस्त्रहरण का। युधिष्ठिर शांत, संतुलित वृत्ति से सब सह रहा था। लेकिन भीम से यह विडंबना सही नहीं जाती थी। उन्होंने सहदेव से कहा, 'जरा थोड़ा सा अंगार ले आओ, ताकि मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता के द्यूत खेलनेवाले हाथ जला दूँ।' इतना गंभीर मतभेद दोनों में था। इसका मतलब यह नहीं कि भीम द्रौपदी से ज्यादा प्यार करता था और युधिष्ठिर का प्यार उतनी मात्रा में नहीं था। लेकिन दोनों की प्रवृत्ति में फर्क था। फिर भी मूल प्रेरणा एक ही होने के कारण आगे चलकर जो युद्ध हुआ उसमें सभी पांडव कंधे से कंधा मिलाकर एकसाथ लडे।

ऐसा एक ही उद्दिष्ट और प्रेरणा एक ही होने पर भी आग्रह अलग अलग होने से, emphasis अलग होने से भी मतभेद होते हैं। परिवार में लड़की के विवाह के संदर्भ में परिवार के अन्यान्य घटकों की जो भिन्न भिन्न अपेक्षाएँ रहती हैं उनमें हम यह अनुभव कर सकते हैं। विवाह अच्छी तरह से संपन्न हो, उस

लड़की का भावी वैवाहिक जीवन सुखी हो इसपर तो कोई दो मत नहीं होते। फिर भी हरेक का आग्रह अलग अलग रहता है।

कन्या वरयते रूपं, माता वित्तं, पिता श्रुतम्।
बान्धवा: कुलमिच्छन्ति, मिष्टान्नं इतरेजन: ।।

मतलब, जिसकी शादी है, वह होने वाले पति के रूप को प्राथमिकता देती है। माता की दृष्टि से उसकी सांपत्तिक स्थिति महत्त्व की होती है। पिता इच्छा करता है कि कन्या का पति विद्वान हो। बन्धुगण, कुल अच्छा, प्रतिष्ठित हो ऐसा चाहते हैं, और बाकी लोग चाहते हैं कि विवाह समारोह में स्वादिष्ट मिष्टान्न हो। हरेक का आग्रह अलग अलग बात के संदर्भ में रहता है यद्यपि सभी की एक ही इच्छा होती है कि लड़की की शादी सुचारू ढंग से संपन्न हो और उसका वैवाहिक जीवन सुखमय रहे।

तो प्रेरणा एक होने पर भी मतभेद का संभव रहता है। यह ध्यान में लेकर ही उसे सुलझाने का प्रयास शांति से होना आवश्यक है।

अब प्रेरणा एक होने पर भी मतभेद का संभव रहता है उसका और एक कारण है। वास्तविकता की ओर देखने की, उसे ठीक ढंग से समझने की हरेक की क्षमता, दृष्टिकोण अलग अलग रहते हैं। कार्यकर्ता सच ही बोलता है, लेकिन सच की उसकी अपनी अपनी राय version होती है। वह झूठ नहीं बोलता, लेकिन उसे सत्य का जैसा दर्शन होता है उसीके अनुसार ही वह बोलता है। वह सच पूरा या यथार्थ होगा ही ऐसी बात नहीं है। इस तरह सत्य की यथार्थता के बारे में मतभेद का संभव रहता है।

मैं जब जनसंघ में काम करता था तब एक जगह की कुछ समस्या सुलझाने के लिए पं. दीनदयालजी ने मुझे और दूसरे एक कार्यकर्ता को वहाँ भेजा। अब जिसके बारे में समस्या थी वह व्यक्ति सुबह जल्दी ही वहाँ पहुँच गया था। जब मैं प्रभातशाखा से वापस आया तब तक वे सज्जन अपने गाँव वापस भी चले गए थे। जब मैंने मेरे साथ वाले कार्यकर्ता को इस संदर्भ में पूछा तो उसने कहा कि 'मैंने उस व्यक्ति की समस्या के बारे में ऐसा फलाना निर्णय किया और वह वापस चला गया।' फिर उसने पूछा, 'क्या मेरा निर्णय आप को पसंद नहीं आया?' मैंने कहा, 'ऐसी तो बात नहीं है, लेकिन परिस्थिति का इतना जल्दी आकलन आप को हुआ इसका मुझे आश्चर्य हो रहा है।' अब यह कार्यकर्ता बोला कि, 'जिस सज्जन के बारे में समस्या थी वे तो अपने प्रामाणिक, निष्ठावान

कार्यकर्ता हैं।' मैंने कहा, 'मेरा मतलब ऐसा नहीं कि वे कम निष्ठावान है, लेकिन उन्होंने अपनी तरफ से जो वास्तविकता बताई होगी उसकी और भी कोई version हो सकती है। तो वास्तविकता के सभी पहलू तथा versions जब तक हमारे सामने नहीं आते, तब तक परिस्थिति का पूरा आकलन करना और निर्णय लेना उचित नहीं होता है। Quick comprehension और quick decision याने 'तुरंत आकलन और तुरंत निर्णय' यह अमरीकी शैली हमारे कार्य में उपयुक्त नहीं हो सकती।'

अब सत्य के आकलन के संदर्भ में यह भी कभी कभी संभव रहता है कि वास्तविकता के सभी पहलुओं की, versions की जानकारी लेना कठिन रहता है। फिर भी कुछ ना कुछ तो निर्णय लेना समय पर आवश्यक ही होता है। ऐसे मौके पर निर्णय लेते समय यह निर्णय अस्थायी (adhoc, tentative) है, यह न केवल ध्यान में लेना आवश्यक है। अपितु अन्य कार्यकर्ताओं को समझा देना भी आवश्यक है। परिस्थिति की पूरी या ज्यादा जानकारी प्राप्त होने पर वह निर्णय बदलने की गुंजाइश रखते हुए ही ऐसा निर्णय लेना उचित रहता है।

■ सुननेवाले की मानसिकता का ख्याल

जैसे वास्तविकता के संदर्भ में अलग अलग राय बनी रहती हैं, वैसे ही बात करते समय सुनने वालों की अलग अलग मानसिकता रहने से बोलने का माने भाषा का तथ्य भी बदल जाता है। माने शब्द वही रहता है लेकिन बोलने वाले का अभिप्राय और सुननेवाले को प्रतीत होने वाला अर्थ इनमें फर्क रहता है और मतभेद तथा मनभेद भी निर्माण होते हैं। ऐसा नहीं है कि हमारा बोलना हमें अपेक्षित ऐसे ही ढंग से सुनने वाला समझ पाएगा।

एक बार जयपुर में एक कार्यकर्ता के घर हम खाना खा रहे थे। मैंने कहा, 'लौकी की तरकारी बहुत अच्छी बनी है।' यह प्रशंसा सुनकर भाभीजी प्रसन्न होगी ऐसी मेरी अपेक्षा थी। लेकिन मेरा वाक्य सुनते ही कार्यकर्ता की पत्नी के चेहरे पर उदासी छा गई। मुझे आश्चर्य हुआ। हाथ धोने के पश्चात् मैं सीधे रसोईघर में गया और भाभीजी से कहा, 'मैंने तो आप की बनाई सब्जी की तारीफ की थी और वह सुनकर आप के चेहरे पर मायूसी छा गई, क्या बात है?' भाभीजी ने हताश स्वर में कहा, ''कुछ नहीं। आप भी उन्हींमें से हैं। सब कहते हैं कि मुझे कोई काम अच्छे ढंग से करना नहीं आता है। कपडे धोना, बर्तन साफ करना, झाडू लगाना, रसोई बनाना, कुछ भी काम मैं अच्छे

ढंग से नहीं कर सकती। आपने भी वही कहा कि केवल लौकी की सब्जी अच्छी हुई, इसका मतलब बाकी की चीजें सब खराब हुई। तो इसमें आप का दोष नहीं है, सब ऐसे ही कहते हैं।''

मुझे आश्चर्य हुआ, मैंने कहा क्या था और उसके मन में यह गलत अर्थ क्यों निर्माण हुआ। किन्तु बाद में जब उनके दो लड़के मेरे पास आकर गपशप करने लगे, उससे यह कारण मेरे ध्यान में आया। उस घर का हमारा कार्यकर्ता बहुत अच्छा संगठक था। किन्तु उसकी बोलने की एक पद्धति थी। इस तरह से बोलने का वह आदी हो गया था। मन में बुरा या गलत भाव न होते हुए भी वह ऐसा बोलता था। मानो, ऑफिस से आया, पत्नी ने अच्छे गरम पकौडे उसके सामने रखे, तो पकौडे खाते खाते वह हमेशा, दूसरों के घरों में ऐसे पकौडे कितने अच्छे बनते हैं यह बताता रहेगा। तो स्वाभाविक था कि जिस घर में घरवाली की बनाई कोई भी चीज पसंद नहीं आती थी, या दूसरे घर की तुलना में उसको नीचे बताया जाता था और बार बार यही सुनना पडता था, तो तरकारी की मैंने की हुई प्रशंसा को भी भाभीजी ने गलत ढंग से लिया।

एक परिवार में तीन भाई थे। परिस्थिति के कारण बड़े भाई ने शिक्षा अधूरी छोडकर नौकरी की और छोटे भाईयों को सिखाया। दूसरा भाई कॉलेज जाकर पढ़ा। बाद में उसकी शादी हुई। पत्नी तो अच्छी थी, लेकिन कॉलेज जीवन की कुछ रोमँटिक कल्पनाओं के कारण उसको वह अच्छी नहीं लगती थी। उसका शल्य उसके मन में था। अब तीसरे भाई की शादी में जब मैं अपने पिताजी के साथ गया था तो पिताजी ने बडे भाई से कहा कि 'आपने भाई के लिए नक्षत्र जैसी सुंदर लड़की चुनी है।' यह सुनते ही दूसरे भाईसाहब बोल उठे, 'याने मेरी पत्नी बदसूरत है क्या?'

मेरी स्वयं की समझ के बारे में भी एक अनुभव बताने योग्य है। कालिकत में पू. गुरुजी के दौरे में कई बुद्धिजीव लोगों के साथ गपशप का कार्यक्रम रखा था। उनमें एक प्राचार्य थे, जिनको हम कभी कभी बौद्धिक के लिए बुलाते थे। उनका परिचय बताते समय मैंने कहा, He is also a lecturer in the R.S.S. University in Kalikat. यह सुनते ही श्रीगुरुजी मुझे मराठी में हलके से बोले, 'अच्छा, तो कालिकत में संघ का विद्यापीठ भी है?' अब मुझे लगा कि पू. गुरुजी मेरी प्रशंसा कर रहे हैं।

फिर पाँच साल बाद जब मैं बंगाल में प्रचारक रहा तब हावडा के एक ऐसे ही कार्यक्रम में एक महानुभाव का मैंने इसी तरह परिचय करा दिया। कार्यालय में

वापस आते ही श्रीगुरुजी ने मुझसे कहा, 'पाँच साल पहले कालिकत में मैंने एक सूचना दी थी, वह ध्यान में नहीं आई ऐसा लगता है। किसी की भी ज्यादा प्रशंसा की गई तो वह इन्सान बिगड़ने की संभावना रहती है, इस दृष्टि से तब तुम्हें मैंने सजग किया था।' तो जिसको मैं प्रशंसा समझा था वह असल में एक डाँट थी, यह बात मेरे समझ में नहीं आई थी।

तो बोलने की भाषा एक होने पर भी अगर सुनने वाले की मानसिक पृष्ठभूमि अलग होगी तो बोलने वाले के अभिप्राय को ही सुनने वाला ग्रहण करेगा ऐसा नहीं। यह बात भी संपर्क-संवाद करते समय कार्यकर्ता को ध्यान में लेना आवश्यक है।

■ समय की बात – बात का समय

हमारा कार्य तो संपर्क, संवाद इन्हीं माध्यमों से होता, बढ़ता है। तो कार्यकर्ता की मानसिकता ध्यान में लेते हुए ही उससे बात करना चाहिए। अब दैनंदिन जीवन में हर व्यक्ति हर्ष-विषाद के कई प्रसंगों में से जाता है और उन अनुभवों पर उनकी सामयिक मनस्थिति निर्भर रहती है। कुछ परिस्थिति की पृष्ठभूमि का असर भी समय समय पर व्यक्ति के मन पर होता रहता है।

हर्षस्थान सहस्राणि भयस्थान शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढं आविशन्ति न पंडितम्॥

अर्थात् मूढ व्यक्ति के लिए हर दिन हर्ष के हजारों और भय के सैकड़ों स्थान प्राप्त होते हैं। हम सामान्य व्यक्ति के बारे में भी यह कह सकते हैं। प्राय: एक काम में आई निराशा दूसरा काम - जो मूलत: आनंददायी भी क्यों न हो - करते समय छाई रहती है। इसलिए बात करते समय यह भी देखना चाहिए कि वह व्यक्ति पूर्वघटना से निर्मित भावच्छाया में (hangover) तो नहीं है। दूरभाष पर हुई एक बात पर मैं क्षुब्ध हो जाता हूँ। दूसरा फोन आता है तो पहली बात से प्राप्त मनस्थिति से मेरी आवाज अकारण तीखी हो जाती है। सुजान व्यक्ति की दृष्टि से तो यह बचपना ही है। तो हमको तो ऐसा करना ही नहीं चाहिए। फिर भी दूसरे के बारे में ऐसी संभावना ध्यान में रखें कि हमारी बात सामने वाला व्यक्ति वस्तुनिष्ठ मनस्थिति से नहीं सुनता होगा क्योंकि उसके मन पर किसी अप्रिय पूर्वघटना का बोझ पड़ा हो। अपने कार्य में अनेक बार यह ध्यान में न लेने के कारण कार्यकर्ताओं के संबंधों में बाधा उत्पन्न होती है तथा कार्यहानि होती है। किसी कार्यक्रम में एकाध कार्यकर्ता

अनुपस्थित रहता है। मुलाकात होने पर उसे बिना कारण पूछे डाँटा जाता है। बाद में पता चलता है कि कार्यक्रम के दिन ही उस कार्यकर्ता की माता का देहान्त हुआ था। उसी तरह विषमज्वर से तीन हफ्ते बीमार होने के कारण एक कार्यकर्ता अनुपस्थित रहता है। तो इतनी अनुपस्थिति असमर्थनीय समझ कर उसी ढंग से उससे बात होती है। उस समय उसको डाँटने वाला कार्यकर्ता यह नहीं सोचता कि कार्यकर्ता तीन हफ्ते बीमार है और हमको इसकी खबर तक नहीं यह अपनी ही गलती है।

आप की अच्छी बात केवल इसलिए अस्वीकार हो सकती है कि उस समय सुनने वालों की मन:स्थिति प्रतिकूल है या अनुकूल है, यह ध्यान में लेने का धीरज आप के पास न हो। उतावले लोगों की मानसिकता ऐसी रहती है कि विषय को एक बार बोल डालो और अपने मन का बोझ हलका कर लो। उससे भी आगे की बात ऐसी भी होती है कि सुननेवाले की मानसिकता ठीक नहीं है यह मालूम होने पर भी बोलनेवाला आत्मसंतोष का अनुभव करता है कि हमने तो अपना काम किया, दूसरा व्यक्ति उसे समझ नहीं पाया तो हमारा उसमें क्या दोष? अब ऐसी मन:स्थिति अगर नेतृत्व करनेवाले कार्यकर्ता में रही तो उनका अन्य कार्यकर्ताओं से संवाद ही हो नहीं सकता और संगठन में बाधा उत्पन्न होती है।

कुछ लोग तो इतना भी विवेक नहीं रखते कि दुखद घटना के समय मजाक की बातें, या मंगल प्रसंग में अशुभ बातें न करें। कई लोगों को अपनी ही बात सुनाने में दिलचस्पी रहती है। They love their own voice! दूसरों की सुनने में उनको बिलकुल रुचि नहीं रहती।

दूसरा क्या बोल रहा है वह सुनने के लिए आवश्यक धीरज न रहने से और दूसरे की बात बीच में ही काटने से कैसी कार्यहानि होती है इसका एक मजदूर क्षेत्र का उदाहरण याद आता है। एक निलंबित कार्यकर्ता की बात का पुनर्विचार करने के लिए, किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की मध्यस्थता से मॅनेजमेंट तैयार हुई। युनियन का पदाधिकारी जनरल मॅनेजर के पास बातें करने के लिए पहुँचा। जनरल मॅनेजर उसे कहने लगे कि, 'हमने मामले की पूरी जाँच की है और इस निष्कर्ष पर आ चुके हैं कि आप के सदस्य पर लगाया आरोप सही है।' अब आगे वे बोलते थे, लेकिन उनकी इतनी ही बात पूरी भी नहीं हुई कि यह कार्यकर्ता उनपर बरस पड़ा, 'हम जानते थे आप की चालबाजी। आप अपनी मनमानी चलाइए, हम भी देख लेंगे।' असल में जनरल मॅनेजर आगे कहने जा रहे थे कि, 'आरोप सही है। फिर भी परस्पर सद्भाव दृढ़ करने की

दृष्टि से हम उस मजदूर को काम पर वापस लेने के लिए तैयार हैं।' लेकिन युनियन कार्यकर्ता ने उनकी बात बीच में ही काट दी और ठीक ढंग से सुलझने वाला मामला बिगड़ गया।

कई अतिभाषी व्यक्ति भी आवश्यकता से ज्यादा बात करके कार्यहानि करते हैं। ऐसे ही एक उदाहरण है। एक अतिभाषी कमलजी अपनी बात मनवाने हेतु विरोधी मतवाले विमलजी के पास पहुँचे। बड़ी बुद्धिमानी और चतुराई से कमलजी ने विमलजी को अपना दृष्टिकोण स्वीकारने के लिए प्रवृत्त किया। यहाँ तक कमलजी ठीक ढंग से आगे बढ़े। यही क्षण था जब पहला विषय बंद करके किसी दूसरी बात पर बोलना शुरू करें। किन्तु अपनी कामयाबी पर हर्षित होकर कमलजी का संयम टूटा और स्वभावजन्य अतिभाषी प्रवृत्ति से वे विमलजी को समझाते रहे कि उनकी बात स्वीकारने का विमलजी का निर्णय कितना उचित था। जैसी जैसी कमलजी की बात बढ़ती गई, विमलजी सोचने लगे कि इनकी बात स्वीकार करने में मैंने गलती तो नहीं की? और पकापकाया हुआ मामला खटाई में पड़ गया। तो यह ख्याल रखना आवश्यक है कि Good cause is lost by bad advocacy मतलब अच्छा कार्य भी गलत समर्थन के कारण डूब जाता है, ऐसे न होने देना चाहिए।

■ बुद्धिमानों के बारे में सावधान

अब अपने कार्य में ऐसे भी कुछ लोगों से हमें संपर्क करना पड़ता है जो अति बुद्धिमान होते हैं और 'हम बुद्धिमान है' इस भाव से उनमें अहंता भी होती है। ऐसे बुद्धिमान व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति बनी रहती है कि दूसरों के विचार वे सहज स्वीकार नहीं करते। अप्रकट मन में स्थित बौद्धिक अहंकार का यह स्वाभाविक परिणाम होता है। ऐसा कहा गया है, Nobody agrees to anybody else's views; everybody agrees to his own views expressed by others' अर्थात कोई भी आदमी दूसरे के दृष्टिकोण से सहमति नहीं रखता, बल्कि, दूसरों के मुँहसे जो अपना खुद का दृष्टिकोण व्यक्त होता है उसीसे वह सहमति बताता है। बुद्धिमान लोगों के साथ संवाद, चर्चा, करते समय उनकी इस मानसिकता का ख्याल रखना आवश्यक है। पूर्वकाल में हमारे देश में बौद्धिक ईमानदारी intellectual honesty थी। उस समय का श्रीमद्शंकराचार्य और मंडनमिश्र का परस्पर व्यवहार हमारे लिए ऐसी ईमानदारी का आदर्श रहा है। किन्तु आज इस ईमानदारी का स्थान बौद्धिक अहंकार (intellectual

ego) ने लिया है। ऐसा बौद्धिक अहंकार बुद्धि की चमक दिखाकर विवाद में यश पा सकता है। हम भी उस बुद्धिमान व्यक्ति का उसी स्तर पर सामना कर सकते हैं। लेकिन कार्यकर्ता को यह ख्याल रहना आवश्यक है कि ऐसे तर्कवाद से हम बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी ओर नहीं ला सकते। We may win an argument but lose the man! मतलब, हम तर्कवाद में तो सफल होंगे, लेकिन आदमी को खो बैठेंगे।

ऐसी स्थिति में अपनी ओर से सभी संबंधित तथ्य ऐसे व्यक्ति के सामने प्रस्तुत करना और तर्कसंगत निर्णय लेने का या अभिप्राय बनाने का काम उसी के ऊपर सौंपना उपयुक्त रहता है। हमारे तथ्य ऐसे हों कि विचारशील व्यक्ति को हमारे ही निष्कर्ष पर आना होगा। इसमें उसे अपनी बुद्धि की अहंता संतुष्ट करने का तथा अपनी बुद्धि से निष्कर्ष निकालने का संतोष भी मिलता है और वह व्यक्ति अपने ही स्वयं के निर्णय से हमारे कार्य में जुट जाता है।

संपर्क-संवाद के माध्यम के बारे में और भी एक बात ध्यान में लेना आवश्यक है कि किसी भी छोटे कार्यकर्ता को भी अपने मन की बात ज्येष्ठ कार्यकर्ता के सामने रखने में संकोच नहीं होना चाहिए। 'अपनी कार्यपद्धति' इस विषय के संदर्भ में यह बात आई है कि संगठन में बाधा उत्पन्न हो इतनी स्वतंत्रता भी कार्यकर्ता के लिए हानिकारक है और कार्यकर्ता की स्वयंप्रेरणा तथा उपक्रमशीलता जकड़बंदी में पड़ जाए इतनी सख्त पाबंदी भी ठीक नहीं है। दोनों सीमाएँ (extremes) टालनी चाहिए। वैसे ही बातें करने के बारे में कह सकते हैं। कार्यकर्ता बोलने में पूर्णरूपेण खुली मानसिकता से बोले इतनी स्वतंत्रता, इतना सौहार्दपूर्ण वायुमंडल तो होना चाहिए, लेकिन उसका बोलना इतना खुला तथा स्वैर न हो कि संगठन के हित की सीमा पार कर जाए। यह विवेक भी कार्यकर्ता में होना चाहिए।

■ गलती करने दो – गलती से तरक्की

अब जैसे कार्यकर्ता हमारे बोलने का सही अभिप्राय ध्यान में लेने में गलती करता है वैसे ही अपने कार्य के अन्य गतिविधियों में कुछ गलतियाँ उनके द्वारा हो सकती हैं। अंग्रेजी में कहावत है – To err is human गलती होना स्वाभाविक ही तो है - मानवी है। और हमारा संगठन तो मनुष्यों का संगठन है। इसलिए अगर कार्यकर्ता की प्रेरणा साफ है यह विश्वास हो, तो कार्यकर्ता की गलती यह 'प्रगति का पहला कदम' है, इस दृष्टि से देखना आवश्यक है। गलतियाँ करते करते ही कार्यकर्ता बहुत कुछ सीख पाता है और उसका विकास होता है।

गलती होगी तो पुराने कार्यकर्ता नाराज होंगे ऐसी आशंका कार्यकर्ता के मन में पैदा होगी तो काम करने की उपक्रमशीलता ही समाप्त हो जाएगी और वह काम ही नहीं करेगा क्योंकि गलती न करने का एक ही उपाय हो सकता है - काम न करना।

तो अपने कार्य में छोटे कार्यकर्ता को गलती करने का पूरा अवसर, स्वतंत्रता देना जरूरी है। उसमें एक शर्त है। गलती अवश्य करो, किन्तु एक प्रकार की गलती दुबारा न होने दे। गलती करने की स्वतंत्रता संगठन में न रही तो ऊपर से आया काम बताए हुए ढंग से करने वाले भारवाही तैयार होंगे जिसे मराठी में 'सांगकामे' कहते हैं। इस विषय के बारे में थोडा सा जिक्र 'अपनी कार्यपद्धति' इस विभाग में 'अनुशासन' के संदर्भ में भी किया है। ऐसी मानसिकता में कार्यकर्ता का विकास नहीं होता। श्री शरू रांगणेकर ने In the Wonderland of Indian Managers इस ग्रंथ में अपनी उपहासपूर्ण शैली में How to avoid Decision Making इस विषयपर पूरा विवरण दिया है। जिसके पास उपक्रमशीलता ही नहीं वह गलती भी नहीं करेगा। कार्यकर्ता उपक्रमशीलताहीन बनने से होने वाली हानि, गलती करने की स्वतंत्रता से होने वाली हानि से कभी कभी कई गुना अधिक होती है। In Search of Excellence के अन्वेषक लेखक थॉमस पीटर्स तथा रॉबर्ट वॉटरमन लिखते हैं, The innovative companies foster many leaders and many innovators throughout the organisation ----- They do not try to hold everyone on so short a rein that one cannot be creative. They encourage practical risk-taking and support good tries. They follow Fletcher Byron's nineth commandment : 'Make sure you generate a reasonable number of mistakes.'

संक्षेप में बताना तो उन्होंने कहा है कि उपक्रमशील संस्थाओं में अगुवाई करने वालों पर इतना लगाम नहीं चढ़ाया जाता है कि उनकी उपक्रमशीलता को अटकाव हो। उसके बदले उन्होंने स्वीकार कर लिया खतरा और उनके अन्य प्रयासों को समर्थन दिया जाता है। इस संदर्भ में पर्याप्त मात्रा में गलती करने में उनको समुचित बढ़ावा भी दिया जाता है।

किन्तु हमारी दृष्टि से उपक्रमशीलता को बढ़ावा देने वाली इस स्वस्थ प्रणाली की पूर्व शर्त महत्त्वपूर्ण है। उपक्रमशीलता से होने वाली सभी गलतियों की जिम्मेदारी स्वयं पर लेने वाला नेतृत्व भी होना चाहिए। बाहर के लोगों के सामने नेता

को पूरा दोष स्वीकार करना चाहिए और दूसरी ओर उचित ढंग से समझाकर गलती करने वाले साथी में सुधार भी लाना चाहिए।

अब उपक्रमशीलता से होने वाली गलतियाँ यह एक बात है किन्तु ऐसा भाव मन में न होते हुए भी कार्यकर्ता कई कारणों से सामान्य कार्य में भी दोषपूर्ण व्यवहार करते हैं। ऐसे कार्यकर्ताओं के बारे में यह देखना आवश्यक है कि ऐसा दोषपूर्ण व्यवहार अपवादात्मक है, दुर्बल मनोवस्था के कारण प्रसंगवशात हुआ है या वह आदत से मजबूर होकर हुआ है। अगर मामला सामयिक दुर्बलता का हो, तो ऐसे व्यक्ति को एक अवसर देना उचित होगा, बशर्ते कि उसे अंत:करणपूर्वक पश्चात्ताप हुआ हो। स्वयं के वर्तन के बारे में अत्यंत सजग, दयाहीन रहने वाले नेता ने ऐसी दुर्बलता का शिकार हुए कार्यकर्ता के संदर्भ में क्षमाशील रहना उपयुक्त रहता है। जैसे कि कहा गया है 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' ऐसी धारणा स्वयं के और अन्य लोगों के बारे में रहना चाहिए, जिससे ऐसे कार्यकर्ता को सुधरने का अवसर मिलता है। ऋषि विश्वमित्र का उदाहरण इसी प्रकार का है। इसी कारण शायद कहा गया है कि, Every saint has his past and sinner his future. अर्थात हर संत का कोई (अवांछनीय) भूतकाल होता है और हर पापी को (उज्ज्वल) भविष्य का सहारा होता है। पश्चात्ताप का महत्त्व इसी कारण माना गया है, 'पश्चात्तापेन शुद्ध्यते।' जीजस ने एक पापिनी के घर को भेंट दी तो लोगों ने पूछा कि आप संत होते हुए भी ऐसी पापिनी के घर क्यों गए?' तो जीजस ने प्रतिप्रश्न पूछा कि 'डॉक्टर किसके घर जाता है; मरीज के घर या स्वस्थ व्यक्ति के घर?' वे जानते थे कि वह स्त्री पश्चात्तापदग्ध थी।

जब पीटर और बार्नबस जैसे, जीजस के सहकारी अनुयायियों ने जीजस के मत का सार्वजनिक प्रसार प्रारंभ किया तब उन्हें स्थान स्थानपर विरोध होने लगा। प्रवचन में बाधा डालना शुरू हुआ। लेकिन एक स्थान पर मार्क नाम का एक युवक प्रभावित होकर उसने मतप्रचार में उनके साथ जाने का प्रण घोषित किया। एक दिन सभा में उग्र रूप से पत्थरबाजी शुरू हुई तो घबराकर मार्क सभा छोडकर भाग निकला। घर जाने के बाद उसे पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने पीटर तथा बार्नबस की क्षमायाचना की और फिर प्रचार कार्य में शामिल करा लेने की प्रार्थना की। पीटर गरम दिमाग के थे। उन्होंने कहा, 'यह कायर है, उसका अब विश्वास नहीं किया जा सकता।' लेकिन बार्नबस शांत प्रवृत्ति के थे। उन्होंने कहा कि 'मार्क की गलती तो अवश्य हुई है किन्तु मूलत: यह सत्प्रवृत्त

है और उसे पश्चात्ताप हुआ है। उसे दूसरा अवसर देना उचित रहेगा।' आगे चलकर ईसाईयत के श्रेष्ठ संतों में इसी मार्क की गिनती होने लगी।

पश्चात्तापदग्ध व्यक्ति को ऐसा अवसर दिया तो स्वयं में सुधार लाने का प्रयास वह कर सकता है। हालाँकि हम जानते हैं कि मोहवश होने की आदत एक बार हुए पश्चात्ताप से दुरुस्त होगी, ऐसा नहीं सोचा जा सकता। किन्तु व्यक्ति प्रामाणिक हो और सही जीवनमूल्यों के आधार पर स्वयं को सुधारने की उसकी तीव्र इच्छा हो, तो धीरे धीरे, फिसलते फिसलते कुछ समय पश्चात वह खुद पर पूर्ण नियंत्रण पा सकेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

हम गिरे, गिरकर उठे, उठकर चले।
इस तरह तय की है हमने मंजिलें॥

ऐसा अनुभव भी बहुत लोगों के बारे में आता है।

इस संदर्भ में कई बार ऐसा भी अनुभव होता है कि संगठन के व्यवहार में गलती करने वालों की अधिकतम संख्या, अपने व्यवहारों की जानकारी न होनेसे बढ़ती है। अपनी दृष्टि से गलत क्या है, उचित क्या है, यह वे जानते ही नहीं। अन्यान्य सार्वजनिक संस्थाओं के व्यवहारों से उन्हें लगता है कि इसमें गलती क्या है? यह तो जनरीति है। इस प्रामाणिक धारणा से उनके हाथों से गलत व्यवहार होते हैं। अगर अपने संगठन की रीति-नीति-पद्धति इन बातों की पूरी जानकारी उनको हुई तो वे ऐसा गलत व्यवहार नहीं करते। और यह जिम्मेदारी तो नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ताओं की रहती है। बार बार यह दोहराया है कि संपर्क के, संवाद के माध्यम से हमें कार्यकर्ता में योग्य प्रवृत्ति तथा धारणा निर्माण करनी हैं। ऐसा न हो कि communication gap के कारण कार्यकर्ता के मन में अपने व्यवहारों के बारे में गलतफहमियाँ बनी रहें। संगठन में आने वाला कार्यकर्ता अपने समाज से ही आता है, आकाश में से तो टपकता नहीं। अब समाज में जो जीवनमूल्य - अच्छी बुरी प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं उन्हीं के साथ वह संगठन में आता है। स्वाभाविक है कि हमारे संगठन के जीवनमूल्य तथा व्यवहारसूत्र इनसे वह अपरिचित हो। यह परिचय देकर अपनी कार्यपद्धति-नीति की महत्ता और अलगता उसे समझा देना; उसके मन पर संस्कार अंकित करके उसे अच्छा कार्यकर्ता बनाना यह जिम्मेदारी तो हम पर ही रहती है। अपने संगठन में वह आया इसका मतलब इतना ही है कि शारीरिक दृष्टि से, तांत्रिकता से, physically and technically वह स्वयंसेवक बन गया। अब आते आते

ही पुराने संस्कारों का, विचारों का, धारणाओं का उसके मन का ढाँचा टूट जाएगा यह संभवनीय नहीं होता है। उसके लिए सुनिश्चित प्रयासों की आवश्यकता होती है। शारीरिक और तांत्रिक स्वयंसेवक को सिद्धान्ततः तथा मानसिक दृष्टि से ideologically and psychologically परिवर्तित करना हमारा कार्य है। इसलिए उसकी प्रारंभिक गलतियों की ओर बडी उदारता से देखना, उसकी मानसिक पृष्ठभूमि का ख्याल रखना आवश्यक रहता है।

■ कार्यकर्ता निर्माण पर जोर क्यों ?

कार्यकर्ता निर्माण पर हम लोग इतना जोर क्यों देते हैं? इसका कारण है कि कार्यकर्ता हमारे कार्य का माध्यम है। मजदूर क्षेत्र का एक अनुभव बताता हूँ। १९७७ में कोटा में भारतीय मजदूर संघ का एक स्वाध्याय वर्ग लगा था। उसमें 'कार्यकर्ता' इस विषय पर विचार सुनने के बाद 'सिटू' से टूटकर हमारे संगठन में आए एक सज्जन पूछने लगे कि कार्यकर्ता के बारे में आप लोग इतना आग्रह क्यों रखते हैं? कार्यकर्ता तो सदा कार्यकर्ता ही है। हमने कहा ऐसा नहीं है। कार्यकर्ता अच्छा बना रहे इसका आग्रह इसलिए है कि उसके कारण ही कार्यक्षेत्र स्वच्छ और स्वस्थ रहता है। कार्यकर्ता तो कार्यकर्ता है। लेकिन व्यक्ति इस नाते हर कार्यकर्ता का अपना अपना स्वभाव रहता है, अलग अलग मानसिकता रहती है। तो ऐसे व्यक्ति को हम अच्छा कार्यकर्ता बनाने का प्रयास न करे, तो उसका स्वभाव, मानसिकता आदि का कार्य पर असर होना स्वाभाविक होता है।

हमारे एक अच्छे मित्र हैं। मजदूर संघ के नहीं, अन्य क्षेत्र के हैं। नेता हैं। उनका अपना स्वभाव है। एकदम किसी को कुछ बोल देना और कहना कि, ''मैं तो मुँहफट हूँ, जो मेरे दिल में है वही मेरे मुँह में है, मैं दोहरापन नहीं जानता।'' अब ऐसे लोगों के बातों के कारण अन्य कार्यकर्ता टूट जाने की सम्भावना तो रहती है ही। लेकिन स्वयं ऐसे लोगों के मन में अनजाने में यह भाव भी बढ़ता रहता है कि मैं जो हूँ सो हूँ। मेरा उपयोग करना है तो कर लो, नहीं तो छोड़ दो। मुझमें तो कोई परिवर्तन कैसे हो सकता है? ऐसे कार्यकर्ता ठीक पावदान की तरह होते हैं। पावदान पर कभी कभी ऐसा लिखा होता है Use me! मैं जैसा हूँ वैसा मेरा उपयोग करो। मानो पावदान कहता है, मुझमें तो कोई बदलाव आने वाला नहीं। मैं जैसा हूँ वैसे ही आप को मुझे उपयोग में लाना होगा। ऐसे कार्यकर्ता यह नहीं ध्यान में लेते हैं कि हम पावदान

नहीं हैं। वे प्रामाणिक तो होते हैं लेकिन अपने अपरिवर्तनीय स्वभावविशेष में ही अभिमान रखते हैं। मानो उस स्वभावविशेष के, या खास करके स्पष्टवक्तापन के नशे में डूबे रहते हैं।

इसमें ऐसे भी लोग होते हैं कि निजी स्वभाव में परिवर्तन लाने के लिए जो धीरज रखना आवश्यक होता है वह उनमें नहीं रहता है। एक उदाहरण देता हूँ। हमारे एक मित्र हैं। हम दोनों मिलकर किसी नए कार्यकर्ता से बात करने गए। उस कार्यकर्ता को समझाना था। मैं उसके साथ बात कर रहा था। लेकिन जब मैं कुछ पूछ रहा था तो वह कार्यकर्ता बार बार अपनी एक ही बात दोहरा देता था। बार बार एक ही बात दोहराने की कुछ लोगों की आदत ही होती है। लेकिन तीन चार बार उसके एक ही बात बोलने पर भी मैं सुन ले रहा था। किन्तु मेरे साथ वाले मित्र का धीरज छूट गया। उन्होंने कहा, 'दत्तोपंत, उसके साथ बात करने में कोई अर्थ नहीं है, चलो।' और फिर उन्होंने उस कार्यकर्ता से कहा, 'आप पहले दर्जे के मूर्ख हैं।' सारा मामला बिगड़ गया। हम वापस आए। वापस आने पर मैंने साथ वाले कार्यकर्ता से पूछा कि, 'आपने उस कार्यकर्ता को पहले दर्जे का मूर्ख क्यों कहा?' तो मेरे मित्र ने कहा – 'दत्तोपंत, आप मुझे सिखा रहे हैं? मैं आप को अच्छी तरह जानता हूँ।' मैंने कहा, 'बात क्या है?' तो उसने कहा, 'जो मेरे मन में है वही आप के भी मन में है। अन्तर मात्र इतना ही है, मैंने कह दिया कि वह मूर्ख है और आपने नहीं कहा।' फिर आगे बोला कि 'बात यह है कि मैं स्पष्टवक्ता हूँ, आप पाखंडी हैं।' अब यह सुनने के बाद मैं उसे कैसे समझाता? मन में एक बौद्धिक वर्ग तैयार था, लेकिन जब उसने कहा कि वह स्पष्टवक्ता और मैं पाखंडी हूँ, मेरा बौद्धिक वर्ग वैसे ही खत्म हो गया। मैं आगे बोलता ही क्या? ऐसे स्वभाव के लोग ऐसा सोचते हैं कि हमारे अन्दर तो अब परिवर्तन आने वाला नहीं। उनके पास उसके लिए आवश्यक धीरज नहीं रहता है। यह बीमारी ऐसी है कि इसकी कोई दवा नहीं है। अब ऐसा स्वभाव तो अहंकार का ही एक अलग सा आविष्कार है और अहंकार के कारण तो कार्यहानि होती ही है।

और भी एक बात है। अपनी कमियों के, सीमाओं के बारे में कोई कार्यकर्ता ऐसा भी कहते हैं कि यह सब तो स्वभावसुलभ ही है। आखिर हम भी तो मनुष्य हैं। उनका कहना ठीक तो है। मनुष्य इस नाते ये सारी बातें होना स्वाभाविक है, उसमें कोई आपत्ति और दोष नहीं है, किन्तु फिर आप को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि दस लोग आप का अनुसरण करे या दस लोगों को आप साथ

में लेकर आगे बढ़ें, वे आप को नेता या कार्यकर्ता इस रूप में स्वीकार करें। यदि आप लोगों का नेतृत्व करना चाहते हैं तो फिर यह नहीं चलेगा कि मैं जैसा हूँ वैसा ही रहूँगा। यह तो मनुष्यस्वभावसुलभ बात है। इसमें परिवर्तन नहीं आ सकेगा। नेतृत्व करने के लिए हमको ऐसे स्वभावविशेषों में परिवर्तन करना ही पड़ता है। इस दृष्टि से कार्यकर्ता निर्माण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

■ उपलब्धि का संतोष – नार्सिसस भावगंड

कार्यकर्ता इस विषय के संदर्भ में अभी तक जो जिक्र किया है उससे यह ध्यान में आ सकता है कि सच्चा कार्यकर्ता कैसा होना चाहिए। कैसा होता है और दूसरे कार्यकर्ताओं के साथ उसका व्यवहार कैसे होना आवश्यक है। ऐसा कार्यकर्ता बनना बहुत ही कठिन होता है। इस दृष्टि से यह समझना चाहिए कि हम यदि ठीक रहें तो दूसरों को सँभालना आसान है। और स्वयं को ठीक रखने की, स्वयं कार्यकर्ता बनाए रखने की बात ही सबसे ज्यादा कठिन है। याने आत्मविकास करना तो कठिन है ही, लेकिन यह आत्मविकास की प्रक्रिया जारी रखना उससे भी कठिन है। जब कार्यकर्ता साधकावस्था में होता है तब वह व्रतस्थ रहता है। स्वयं के ऊपर हमेशा निगरानी रखता है लेकिन जब उसमें यह भाव पैदा होता है कि हम अब कार्यकर्ता बन गए हैं, तो मानो ऐसी सिद्धावस्था स्वयं को महसूस होने पर स्वयं को सँभालना कठिन हो जाता है। खास करके कुछ जिम्मेदारी सँभालते हुए नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता के बारे में यह संभव अधिक रहता है। नेतृत्व स्थापित होने पर, अपने कार्य में कुछ मात्रा में सफलता प्राप्त होने के कारण मन में अहंकार निर्माण होता है। क्योंकि उसके मन में उपलब्धि का संतोष, आत्मतुष्टि का भाव a sense of having arrived हम अब पहुँच चुके हैं ऐसा भाव निर्माण होता है।

इतना ही नहीं, तो अपनी स्वयं की उपलब्धि पर, अपने कर्तृत्व पर ही वह लुब्ध हो जाता है। ग्रीक पुराण में एक कहानी है। नार्सिसस नाम का एक अठारह-उन्नीस साल का लडका था। वह था तो अतीव सुंदर। उसका सौंदर्य मानो नारी-स्वरूप का था। उन दिनों शायद ज्यादा मात्रा में आईने न होने के कारण अपना स्वरूप उसने देखा ही नहीं था। एक दिन एक झरने के पास से वह जा रहा था। पटरी के सहारे झरना पार करते समय उसने पानी में देखा। झरने का पानी बिलकुल शांत होने के कारण उसको अपनी छवि पानी में प्रतिबिंब रूप में दिखाई दी। अब अपने सुंदर चेहरे का वह प्रतिबिंब देखकर

अपने ही स्वरूप पर, सौंदर्य पर वह इतना खुश हुआ, आसक्त हुआ कि स्वयं के साथ मिलन हो, इसलिए उसके मन में अतीव उत्कट लगन निर्माण हुई। अब स्वयं के साथ ही स्वयं का मिलन होना कैसे संभव है? फिर भी उसी आसक्ति के कारण अपना ही चिंतन करते करते विरह वेदना से उसकी मृत्यु हुई।

अब अंग्रेजी में इस आत्मासक्ति का भाव व्यक्त करने वाला Narcissus Complex ऐसा शब्द है। जिस कार्यकर्ता के मन में अहंकार या आत्मतुष्टि का भाव पैदा होता है, उसके मन में ऐसा नार्सिसस भाव बना रहता है। अपनी फोटो अखबार में देखने का शौक हो जाता है। अपने बारे में खबर पढी जाए, कॅसेट से अपनी आवाज सुनी जाए ये नार्सिसस भाव के ही रूप हैं।

■ अहंकार का उद्भव

इसी प्रक्रिया में आगे चलकर अपने अन्दर अनजाने ही अहंकार घुस जाता है। मूलत: ध्येयनिष्ठ व्यक्ति के मन में भी धीरे धीरे नेतागिरी के भाव आ जाते हैं। और कुछ सफलता प्राप्त होने के बाद यह बात मन में आने लगती है कि यह सब तो मेरे कर्तृत्व के कारण ही संभव हो सका है। वह यह भूल जाता है कि वास्तव में यह सफलता सब के सामूहिक प्रयास और परिश्रम का फल है।

तुलसीदासजी ने भी कहा है कि

लाभ-हानि, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ।

जय-पराजय, लाभ-हानि, जीवन-मरण सब भगवान के हाथ में है। तुम्हारे हाथ में कुछ नहीं है। लेकिन भगवान के भरोसे रहना और सब कुछ उसी पर छोड देना इसके लिए लोग तैयार नहीं होते। तुलसीजी के विचार को ठीक ढंग से मान लिया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि किसी एक आदमी के कारण सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। कई सहायक तत्त्व attendant factors उसमें शामिल रहते हैं। खास करके अपने कार्यकर्ताओं के द्वारा किए हुए काम, साथ में रहने वाले अन्य लोगों का सहकार्य तथा महत्त्वपूर्ण योगदान तथा अपने वरिष्ठ कार्यकर्ताओं का अबतक मिला हुआ सही मार्गदर्शन तथा प्रोत्साहन और समय की अनुकूलता ऐसे कई घटक इस सफलता की संभावना में सहायभूत होते हैं। अगर इन सभी बातों के सहायता का सही ख्याल न रखा तो सफलता प्राप्त करने वाले कार्यकर्ता के दिमाग में गडबडी शुरू हो जाती है। अच्छे भले कार्यकर्ता के मन में भी

ऐसी गडबडी शुरू होती है। उस समय कुछ ऐसे भी लोग साथ में रहते हैं कि वे उसमें अपने स्वार्थी हितसंबंधों के लिए और बढ़ोत्तरी कर देते हैं। किसी एक रसिक कवि ने इश्क के बारे में एक शेर कहा है। उस शेर में इश्क की जगह 'नेतागिरी' यह शब्द डाल दिया तो वह शेर ऐसा हो जाता है –

वैसे भी होते हैं नेतागिरी में जनून के आसार
और फिर लोग और भी दीवाना बना देते हैं।

अब एक बार अपने कर्तृत्व के बारे में अहंकार का भाव मन में पैदा हुआ तो कार्यकर्ता सोचना प्रारंभ करता है कि 'ये जो मेरे साथ वाले कार्यकर्ता हैं उनको तो मैं ही संघ में लाया हूँ। मैंने ही तो इनको कार्यकर्ता बनाया।' और आत्म-औचित्य सिद्ध करते करते इतना अध:पतन शुरू हो जाता है कि जिस सीढ़ी से वह ऊपर चढ़ जाता है – ध्येयनिष्ठा, आत्मसमर्पण – आदि, उसी सीढ़ी को लात मारता है। सोचता है कि 'अब इस की आवश्यकता ही क्या है?' अब ऐसी मानसिकता जब पैदा होती है तब कार्यकर्ताओं की सामूहिकता से सिद्ध होने वाली आंतरिक संगठित शक्ति भी घट जाती है। पहले हमने यह देखा है कि जब ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता इकट्ठा होते हैं तब एक और एक मिल कर दो नहीं बल्कि ग्यारह होते हैं। तीसरा आया तो एक सौ ग्यारह होते हैं आदि। लेकिन जब प्रमुख कार्यकर्ता के मन में अहंकार आता है तो इस शक्तिसंख्या में वह दशमलव बिंदू का कार्य करता है। और पहले जब चार कार्यकर्ता मिलकर १११‍१ संख्या बनी थी वह .१११‍१ संख्या में परिवर्तित हो जाती है क्योंकि एक के पहले दशमलव चिन्ह आता है तो .१ एक दशांश हो जाता है। वैसे ही .११, .१११, .१११‍१ ऐसी उसकी शक्ति घटती जाती है और संगठन में बाधा उत्पन्न होती है।

अपने कार्य में हरहमेशा नए नए कार्यकर्ताओं के निर्माण की शृंखला बनी रहना इसपर हम ध्यान देते हैं। लेकिन नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता के मन में एक बार अहंकार का प्रवेश हुआ तो यह कार्यकर्ता निर्माण की प्रक्रिया भी खंडित या क्षीण हो जाती है। साथ वाले छोटे कार्यकर्ता अगर अधिक उपक्रमशील रहे, लगन से काम करने वाले हों, तो इस नेता, कार्यकर्ता को लगता है कि 'मेरा कबूतर मुझसे ही गुटरगूँ करेगा तो यह कैसे चलेगा।' तो ऐसे उपक्रमशील कार्यकर्ता को बढ़ावा देकर विकसित करने के बदले, सदा यही सोचा जाता है कि उसको आगे नहीं आने देना। तो न केवल संगठन में, बल्कि कार्यकर्ता निर्माण की और

विकास की प्रक्रिया में भी बाधा निर्माण होती है। दूसरी पंक्ति का नेतृत्व (second line of leadership) निर्माण नहीं हो सकता है।

एक अच्छा उदाहरण है। एक मच्छिमार केंकडे पकड़ रहा था। समुद्र के किनारे पर टोकरी रख कर केंकडे पकड़ कर उसमें डाल रहा था। टोकरी में कई केंकडे जमा हो गए। लेकिन टोकरी के ऊपर कोई ढक्कन वगैरह नहीं था। इतने में उसका एक मित्र वहाँ आया। उसने देखा कि मच्छिमार केंकडे पकड़ रहा है लेकिन टोकरी पर तो ढक्कन नहीं है और केंकडे कूद कर बाहर आने का प्रयास कर रहे हैं। तो उसने मच्छिमार से कहा, 'अरे, इस टोकरी पर कुछ ढक्कन तो रख दो नहीं तो केंकडे कूद कर बाहर चले जाएँगे।' मच्छिमार ने कहा, 'नहीं। उसकी फिक्र मत करो। कोई भी केंकडा बाहर नहीं जाएगा, क्योंकि जब कोई केंकडा ऊपर जाने की कोशिश करता है, तो बाकी के केंकडे उसकी टाँग खींचकर उसको नीचे गिराते हैं। उनको रोकने के लिए हमको कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है।'

धर्मांतरण के एक दिन पूर्व डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर नागपुर के श्याम होटल में अपने प्रमुख कार्यकर्ताओं के साथ दिनभर बैठे थे। अपने महाप्रयाण का आभास उनको हो चुका था और इसलिए अपने मन में जो भी विचार होंगे वे सब अपने साथियों को बताने की उनकी इच्छा थी। कार्यकर्ता भी मन की बातें खुलकर पूछ रहे थे। एक फेटेवाले कार्यकर्ता ने पूछा, ''बाबा, मैंने अपने जीवन में देखा है कि कई कार्य निर्माण होते हैं, आगे बढ़ते हैं और कालांतर से समाप्त भी हो जाते हैं, तो इसका कारण क्या है?' बाबा ने हँस कर कहा कि 'जहाँ उपेक्षा रहती है, वहाँ कार्य बढ़ते ही जाता है और जहाँ उपेक्षा नहीं है, वहाँ कार्य घटते घटते समाप्त हो जाता है।'

हम सब लोगों को लगा कि यह बाबा की slip of tongue बोलने में भूल हुई है, क्योंकि उपेक्षा यानी उदासीनता। जहाँ उदासीनता है वहाँ काम बढ़ता है, यह कैसे कहा जा सकता है?

बाबा स्मितहास्यपूर्वक हम लोगों की ओर देख रहे थे और फिर बोले कि 'तुम लोगों के मन में क्या है, मैं जानता हूँ। तुम लोग सोच रहे हो कि यह मेरी slip of tongue है। किन्तु ऐसा नहीं है। तुमने जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर दो हजार वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध ने दे रखा है। यहाँ भगवान बुद्ध 'उपेक्षा' शब्द तांत्रिक अर्थ में उपयोग में लाए हैं। कोई भी नया कार्य शुरू होता है, तो लोग उसकें प्रति उदासीनता दिखाते हैं। मुट्ठीभर ध्येयवादी लोग

कार्य चलाते रहते हैं, इस कारण कार्य बढ़ता है और उसे अनदेखा करना संभवनीय नहीं होता। उस स्थिति में लोग इस नए कार्य का उपहास करते हैं। इस कारण कई कार्यकर्ता कार्य छोड़ देते हैं। तो भी बचे हुए कार्यकर्ता लगन से कार्य चलाते रहते हैं। इस कारण कार्य और भी बढ़ता है। इस अवस्था में विरोध शुरू होता है। विरोध की प्रखरता के कारण कई और कार्यकर्ता काम छोड़ देते हैं, तो भी बाकी कार्यकर्ताओं की जिद के कारण कार्य और भी बढ़ता है और होते होते यशोमंदिर का शिखर दृष्टिपथ में आता है। यही क्षण है, जब कार्यकर्ताओं के मन में परिवर्तन होने की प्रबल संभावना निर्माण होती है। जिन्होंने निःस्वार्थ बुद्धि से और तपस्या से अब तक काम किया, उनकी मानसिकता में यशोमंदिर का शिखर देखने के बाद परिवर्तन आता है और आने वाली सफलता में मैंने किए हुए कार्य का श्रेय कितना बड़ा है, यह दिखाने की होड, प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हो जाती है। हरेक अपने श्रेय का हिस्सा बहुत बड़ा दिखाने की कोशिश करता है। यह crisis of credit sharing बड़ी मात्रा में होता है। ऐसे समय कार्य के जो प्रमुख प्रवर्तक होते हैं, वे इस क्रेडिट शेअरिंग के मोह में न फँसते हुए अपने ही स्थान पर स्थिर रहें और दूसरों को दौड़ने दें, याने क्रेडिट शेअरिंग के मामले में उनके मन में 'उपेक्षा' का भाव रहा तो फिर काम आगे बढ़ंता है। किन्तु प्रमुख प्रवर्तक लोग स्वयं क्रेडिट शेअरिंग की स्पर्धा में मोहवश होकर दौडने लगे तो यह कार्य घटता है और समाप्त भी हो जाता है।'

ऐसी स्पर्धा मन में पैदा होती है तो कार्यकर्ताओं में और एक प्रवृत्ति निर्माण होती है। सफलता प्राप्त हुई तो श्रेय लेने की और असफलता प्राप्त हुई तो जिम्मेदारी दूसरों पर ढकेलने की। अंग्रेजी में एक कहावत है – Success has many fathers; failure is an orphan! यानी कि सफलता के धनी अनेक होते हैं लेकिन असफलता का आश्रयदाता कोई नहीं होता और इसके लिए असफलता की जिम्मेदारी दूसरों पर ढकेलने की प्रवृत्ति जारी रहती है। लेकिन जो सही नेतृत्व होता है, वह सफलता का श्रेय भी अकेले नहीं लेता और असफलता की जिम्मेदारी लेने में भी धीरज के साथ तैयार रहता है। असफलता की जिम्मेदारी ढकेलने की प्रवृत्ति को अंग्रेजी में passing the buck ऐसा कहते हैं। अमरीकी अध्यक्ष आयसेनहॉवर के मेज पर एक पट्टी पर लिखा हुआ था – The buck stops here! मतलब, असफलता की जिम्मेदारी किसी को भी दूसरों पर ढकेलने दो, आखिर हम तो बैठे हैं, पूरी जिम्मेदारी लेने के लिए!

■ नेता की बुराई का भी अनुकरण

अब जैसे कि बताया गया है कि नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता अन्य कार्यकर्ताओं के लिए आदर्श बन जाते हैं, तो स्वाभाविक ही है कि ऐसे आदर्श रूप कार्यकर्ताओं के गुणों का अनुकरण करने की प्रेरणा जैसे छोटे कार्यकर्ताओं को मिलती है; वैसे ही उनकी बुराई के अनुकरण की भी मानसिकता कार्यकर्ताओं में पैदा होती है। अंग्रेजी में एक सूत्र आता है – Love begets love! वैसे ही हम कह सकते हैं – Ego begets ego! यानी यदि नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता में अहंकार का भाव पैदा होता है तो अनुकरण के माध्यम से अन्य कार्यकर्ताओं के मन में भी वह भाव संक्रमित होता है। अब नेता भूल जाता है कि यदि जमीन पर लात मारेंगे तो जमीन भी आप को उतनी ही चोट पहुँचाएगी। आप के अहंकार के प्रज्वलन के साथ-साथ अपने सभी साथियों का अहंकार भी प्रज्वलित होता है यद्यपि पहले वे अहंकारी नहीं होते हैं। उसका कारण, वे पहले जानते हैं कि हमारे प्रमुख कार्यकर्ता के मन में अहंकार नहीं है। वह ध्येयनिष्ठ है। ध्येय के प्रति आत्मसमर्पित है। लेकिन साथियों को जब यह अनुभव होता है कि ऐसे ज्येष्ठ कार्यकर्ता के मन में भी अहंकार है तो उसके परिणामस्वरूप आहिस्ता आहिस्ता उनके भी मन के स्खलन का भी प्रारंभ होता है।

अहंकार के कारण स्वयं को बढ़ावा देने के लिए प्रमुख कार्यकर्ता सोचता है कि बाकी लोग तो इसी प्रकार आत्मसमर्पित रहने ही वाले हैं। इनमें से मैं अपना करिअर या स्थान क्यों न बना लूँ? और फिर उसके द्वारा चतुराई के प्रयोग होने लगते हैं। Service before self की जगह Self without service की मानसिकता बनना शुरू होती है। इतना ही नहीं तो अगर कुछ त्याग वगैरह करना ही पडेगा तो फल का हिसाब मन में रखकर आवश्यक उतना ही न्यूनतम ऐसा त्याग करेंगे यह भी मानसिकता निर्माण होती है। परंतु ऐसा प्रमुख कार्यकर्ता यह नहीं सोचता कि 'अरे, हम चतुर होंगे तो जो आत्मसमर्पित हैं, उनके अन्दर भी यह चतुराई आ जाएगी। वे आत्मसमर्पित नहीं रहेंगे। वे यह सोचेंगे कि अपना प्रमुख कार्यकर्ता ही यदि स्वयं को बढ़ावा देने के लिए ऐसे चतुराई का आसरा लेता है, तो क्यों नहीं हम भी अपना करिअर बनाएँ?' तो अगर नेता और अनुयायियों में ही ऐसी होड लगी तो करिअर की दृष्टि से, लौकिकी दृष्टि से कार्यकर्ता बड़े, ऊँचे हो जाते हैं लेकिन संगठन तो बौना ही रह जाता है।

और चतुराई के कारण कार्यकर्ताका ऐसा जल्दी ऊँचा चढ़ना पतंग जैसा रहता है, जब कि संगठन की दृष्टि से हमारी अपेक्षा रहती है कि वह वृक्ष के

समान ऊँचा हो। याने संगठन के धरातल का उसका संबंध तो टूट न जाए बल्कि और भी विकसित होने के लिए धरातल से ही उसे जीवनरस प्राप्त हो।

■ साधनों की विपुलता से स्खलन

अब जैसे अहंकार, स्वयं का बड़प्पन का भाव यह कार्यकर्ता के आत्मविकास की प्रक्रिया जारी रखने में बाधा निर्माण करता है, वैसे ही कार्यकर्ता के स्खलन का और भी एक आयाम है। जब संगठन का दायरा व्यापक होता है, तब संगठन की गतिविधियों के लिए आवश्यक ऐसे साधन भी बढ़ जाते हैं। अब हमारा तो आग्रह रहता है कि साधनों की उपलब्धि न्यूनतम होनी चाहिए, फिर भी संगठन का विकास होने पर उसके अनुसार साधनों में भी कुछ मात्रा में विपुलता आती है और कार्यकर्ता के मन में भी साधनों का उपयोग करने में जो विवेक होना चाहिए, वह कभी कभी ढल जाता है। उत्तरोत्तर साधनों पर निर्भर रहने की आदत विकसित होती है और कार्यकर्ता का मानसिक संतुलन ढ़ल जाता है।

हमने एक सिनेमा देखा था। उस में एक मजदूर कार्यकर्ता का दर्शन होता है। वह मजदूर कार्यकर्ता मुख्यमंत्री से बात करता है। बड़ी स्पष्ट बात करता है। फलाना काम नहीं किया तो जूते से मारूँगा, आदि बातें करता है। 'अब इसमें अगर असफलता आ गई तो क्या हो गया,' आदि। इस मजदूर कार्यकर्ता के साथ एक महिला सेक्रेटरी रहती है। कार्यकर्ता बात करता रहता है और कहता है कि 'मेरा क्या, मैं तो पहले की तरह दुकान के सामने वाली पटरियों पर सो जाऊँगा, मुझे आदत है।' उसपर वह महिला उससे कहती है कि 'अब वह आदत छूट गई है। अब तो गाड़ी में बैठने की, होटल में रहने की आदत हो गई है। अब आप दुकान की पटरियों पर सो न सकेंगे।'

इसलिए कार्यकर्ता को सोचना चाहिए कि 'बढ़ती हुई साधन-सुविधाओं' से कहीं मेरी पुरानी आदत तो छूट नहीं गई, बिगड़ तो नहीं गई? कल तक मैं अपने किसी कार्यकर्ता के घर में भी आनन्द से रहता था। अब मान्यता मिल गई, संगठन बढ़ता रहा है। सुविधाओं की विपुलता है। रहने का प्रबंध भी काफी अच्छा है। अब जिस कार्यकर्ता को यह आदत लग गई, उसे किसी कार्यकर्ता के छोटे घर में आनंद नहीं मिलेगा, उसे असुविधा होने लगेगी। अगर उस कार्यकर्ता की आदतें वही सादगी की आदतें हैं, तो वह कार्यकर्ता सफल होगा ही। परिवर्तित परिस्थिति में भी वह पहले जैसे समर्पित मानसिकता में ही काम करता रहेगा।

यह तो सर्वज्ञात है कि कम्युनिस्टों ने सशस्त्र संघर्षवादी क्रांति का रास्ता छोड़ कर संसदीय लोकतंत्र का रास्ता अपनाया। इस पार्टी के एक बड़े नेता कॉम्रेड ए. के. गोपालन ने अपने आत्मचरित्र में लिखा है कि वे एक विशेष उद्देश्य लेकर लोकसभा में गए थे। लोकसभा में जाकर हम परिवर्तन कार्य करेंगे ऐसा उनका कहना था। परंतु संसद में पहुँचने के बाद उन्हें कुछ अलग ही अनुभव आए। जब कार्यकर्ता संसद में नहीं पहुँचे थे, तब वे मजदूरों, किसानों से मिलते थे। घंटों तक उनके सुखदुख की चर्चा होती थी। मजदूरों के यहाँ भोजन करते थे। गंदी बस्ती में सो सकते थे। दिल्ली में पहुँचे। अच्छे फ्लॅट मिल गए। पंखे, फर्निचर, कालीन की व्यवस्था हो गई। मिनिस्टरों के यहाँ दावतें होने लगीं। प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति आदि से मुलाकातें होने लगीं। अब वहाँ की आदत लग गई। संसद सदस्य बने इन कार्यकर्ताओं के मन में आने लगा कि यहीं दिल्ली में रहना अच्छा है। फिर विचार आने लगा कि मतदातासंघ में मजदूरों के पास जाना, उनकी गंदी बस्ती में सोना, जहाँ तक टाल सकते हैं, उतना ही अच्छा। याने मनोवृत्ति में परिवर्तन आने लगा। संसदीय पद्धति में जाकर उसे अपने पार्टी के हित में exploit करना तो दूर रहा, उस पद्धति में आकर स्वयं उनके अंदर ही कुछ बदलाव आया।

कम्युनिस्टों का सीपीआय और सीपीएम् में जब विभक्तिकरण हुआ, उस समय इस विषय पर काफी लंबी चर्चाएँ कम्युनिस्ट पार्टी में हुई। एक पक्ष का कहना था कि संसदीय राजनीति में जाने के दुष्परिणाम होने वाले हैं, हमारा क्रांति का आग्रह revolutionary zeal कम हो जाएगा। श्री. ए. के. गोपालन के आत्मचरित्र से यह सिद्ध होता है कि साधन और सुविधाओं के अधिकतम होने से आदतें बिगड़ गई थीं और क्रांति का आग्रह भी कम हो गया था।

ऐसी ही बात कॉंग्रेस के इतिहास में दिखाई देती हैं। मॉंट-फोर्ड सुधार का प्रस्ताव ब्रिटिशों ने प्रस्तुत करने के बाद विधिमंडल में जाना या नहीं, इस पर कड़ी चर्चा हुई। अधिकतम लोगों का विचार था, कौन्सिल प्रवेश करेंगे और इस मंच का जनजागरण के लिए उपयोग करेंगे। बाद में हम आंदोलन कर सकेंगे। तो उस समय सब को चेतावनी देने वाले एक विचारक थे, जिन्होंने कहा कि यह नहीं होगा। आप कौन्सिल प्रवेश करेंगे और वहीं के हो जाएँगे, फिर जनजागरण वगैरह का विचार छूट जाएगा। इसलिए कौन्सिल में नहीं जाना चाहिए। यह विचार आग्रहपूर्वक रखनेवाले विचारक थे म. गांधी।

परिवर्तित परिस्थिति में, सुविधाओं की विपुलता के कारण व्यक्ति अपने मार्ग से क्यों ढ़ल जाता है? इसलिए कि पहले जमाने में रहता था उसी तरह अब फिर रहने में कष्ट होता है, असुविधा होती है। एक कार्यकर्ता से पूछा कि बैठक में क्यों नहीं आए? उसने कहा कि, 'क्या करें, वाहन नहीं मिला, यानी स्कूटर नहीं मिला।' जब उसके पास स्कूटर नहीं था, तब यह कार्यकर्ता बरांबर समय पर बैठक में आता था। लेकिन स्कूटर की आदत से मजबूरी आ गई। 'स्कूटर नहीं तो बैठक में कैसे जाऊँ?' तो कार्यकर्ता को हमेशा यह सोचना चाहिए, अच्छा कपड़ा मिला, पहन लो; अच्छा खाना मिला, खा लो! लेकिन खाने पीने, रहने, पहनने, उठने-बैठने में, बातें करने में हमारी आदतें बिगड़कर हम ऐसी सुविधाओं के आधीन होकर मजबूर न बनें। हम को जहाँ जाना है, यदि अच्छे कपड़े पहनकर नहीं गए तो इज्जत नहीं होगी, यह विचार उचित नहीं है। क्या कपड़े पर हमारी इज्जत निर्भर रहती है? जैसे कल जाते थे, वैसे आज भी जाते रहेंगे। दूसरी ओर गन्दे कपड़े पहनकर आता है इसलिए कोई बहुत अच्छा कार्यकर्ता है यह बात भी सही नहीं होती।

अब परिवर्तित परिस्थिति में मानसिकता में कैसे बदलाव आता है? और परिणामस्वरूप कर्तृत्व कैसे कम हो जाता है उसके और भी कई उदाहरण हैं। पिछले पन्नों में माया मच्छिन्दर का उदाहरण आया है, वह इसी मानसिकता का परिचायक है।

एक बार आचार्य दादा धर्माधिकारी ने राजसत्ता के आश्रय के बारे में अपना अनुभव बताया। उन्होंने कहा, देश स्वतंत्र हुआ। गांधी विचार के दो प्रवाह थे। एक राजनीतिक और दूसरा गैर राजनीतिक। राजनीतिक प्रवाह काँग्रेस के नाम से था। उनके हाथ में सत्ता आई तो उन्होंने सोचा कि गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम पर अमल करने वाले अपने भाइयों की ज्यादा से ज्यादा सहायता करनी चाहिए। इसलिए सर्वोदय कार्यकर्ता तथा संस्थाओं को अधिकतम सहूलियतें और आर्थिक सहायता देने का उपक्रम उन्होंने प्रारंभ किया। आचार्य विनोबाजी भावे ने भी इसका निःसंकोच स्वीकार किया। वे सोचते थे कि हमने तो सरकार से कुछ नहीं माँगा। किन्तु न माँगते हुए, खुद ही होकर सरकार की ओर से यदि कुछ सहायता और सहूलियतें मिलती हैं तो उन्हें लेने में आपत्ति क्या है? हमारे पास अच्छे कर्मठ कार्यकर्ता हैं। वे जी जान से काम कर रहे हैं। साधनों के अभाव के कारण उनके काम की गति कम हो जाती है। अब साधन प्राप्त हो गए तो काम की गति बढ़ाना सुलभ होगा। यह सोचकर सर्वोदयी लोगों ने

सहायता और सहूलियतों का जगह जगह स्वीकार किया। किन्तु अनुभव विपरीत ही आया। अतिरिक्त साधनों के कारण काम की गति कितनी बढ़ी पता नहीं, किन्तु दूसरी बात सर्वत्र होने लगी। साधनों का उपयोग अधिकाधिक मात्रा में करना प्रारंभ हुआ। और इसके कारण कर्मठ कार्यकर्ताओं की भी मानसिकता बदलने लगी। वे आरामपरस्त बनने लगे। मोटरकार आ गई। उसके पूर्व अपने काम के लिए आठ-दस किलोमीटर पैदल जाने का जिनका अभ्यास था, उनको भी जब मोटरकार की आदत लग गई, किसी कार्यक्रम के लिए एक किलोमीटर भी पैदल जाना असंभवनीय प्रतीत होने लगा। कार नहीं है इसलिए कार्यक्रम में नहीं जा सकता, ऐसा कहने तक उनकी यह प्रवृत्ति बढ़ गई। इस तरह अतिरिक्त साधनों के कारण काम तो बढ़ा ही नहीं, कार्यकर्ताओं की कर्मठता क्षीण हो गई और सर्वोदय का भारी नुकसान हुआ।

मैं इंटक में काम करता था उस समय पं. रविशंकर शुक्ल और द्वारकाप्रसाद मिश्र, दोनों उस समय के मध्यप्रदेश के बड़े काँग्रेसी नेता थे। उनके मेरे घनिष्ठ संबंध प्रस्थापित हुए थे। वे दोनों मुझे अपने बेटे के समान मानते थे। मेरी उमर भी छोटी थी। वे जानते थे कि मैं संघ का प्रचारक हूँ। किन्तु इसी कारण वे मानते थे कि मैं कभी विश्वासघात नहीं करूँगा। मतभेद होंगे तो त्यागपत्र देकर हट जाऊँगा, किन्तु विरोधी वक्तव्य देना या कुछ रहस्यभेद करना ऐसी बातें मैं नहीं करूँगा। इस पूर्ण विश्वास के कारण इन दोनों के साथ अनौपचारिक संबंध थे। और कभी कभी अपने मन की बात भी वे मेरे सम्मुख प्रकट करते थे।

एक दिन सुबह नाश्ते के लिए मैं वैसे ही मिश्रजी के घर चला गया। वे नाश्ते के टेबल पर नहीं आए थे। इसलिए वहाँ पड़े हुए समाचारपत्र मैंने पढ़ लिए। उनमें डॉ. डेकाटे का, जो मिश्रजी के अंतर्गत प्रतिस्पर्धी थे, वक्तव्य आया था, जिसमें मिश्रजी पर कठोर टीका थी। तब तक मिश्रजी बाहर आए। हमारी बातें शुरू हुईं। नाश्ते के समय मिश्रजी ने पूछा, 'क्यों भाई, आज के समाचारपत्र पढ़े हैं? मैंने 'हाँ' कहा। उन्होंने पूछा, डॉ. डेकाटे का वक्तव्य पढ़ा? मैंने 'हाँ' कहा। उसपर मिश्रजी ने कहा कि, आश्चर्य की बात है, वे (डॉ. डेकाटे) राजनीति में हैं, लेकिन राजनीति जानते नहीं। राजनीति में दलान्तर्गत या दलबाह्य अन्य किसी नेता को नीचे खींचने की इच्छा होना स्वाभाविक है किन्तु इसके लिए ये लोग इतना द्राविडी प्राणायाम क्यों करते हैं? इसके खिलाफ भाषण देना, लेख लिखना, कानाफूसी करना, गुट बनाना, इतने सारे कष्ट क्यों उठाते हैं? यह तो द्राविडी प्राणायाम हो गया।' उसपर मैंने पूछा, 'फिर सीधा प्राणायाम

कैसा होता है?' मिश्रजी ने कहा, 'वह आसान है। एक ही बात है, जिसको नीचे लाना है, उसका सही मूल्यांकन आप पहले कर लीजिए। यह मूल्यांकन सही रहे यह महत्त्व की बात है। मूल्यांकन करते समय आप के पूर्वग्रह बीच में नहीं आने चाहिए। सही मूल्यांकन के पश्चात आप निष्पक्ष बुद्धि से तय कर लीजिए कि वह कौन से पद के लिए उपयुक्त है और फिर वह जिस पद के लिए उपयुक्त होने की क्षमता रखता है, उससे बहुत ऊँचे पद पर उसकी नियुक्ति कीजिए, उसको खुशी ही होगी। यह ऊँचा पद ग्रहण करने के लिए खुशी से वह दौड़ते हुए आएगा। फिर आप घर में बैठकर केवल क्या होता है यह देखते रहिए। उस ऊँचे पदसे प्राप्त हुई सत्ता और सुविधाओं के कारण और उस पद के लिए आवश्यक क्षमता न होने के कारण दो सालों के अंदर वह खुद ही नीचे गिर जाएगा। उसको नीचे लाने के लिए अलग प्रयासों की आवश्यकता नहीं रहेगी।'

ऐसे ही एक अवसर पर द्वारकाप्रसाद मिश्रजी खुले दिल से बात कर रहे थे। वे कहने लगे कि ''मैं जानता हूँ, तुम संघ के प्रचारक हो और मैं संघ का विरोधक। किन्तु तू घर का ही आदमी है इसलिए तुझे बताता हूँ। गांधीहत्या के बाद संघ पर लगाया हुआ प्रतिबंध का समय समाप्त होते आया, उस समय जवाहरलालजी ने सभी राज्यों के गृहमंत्रियों को बुलाया था और उनसे पूछा था कि प्रतिबंध lapse होने के बाद उसको वैसे ही lapse होने दें या फिर से प्रतिबंध लगाया जाए? इस विषय पर मेरे साथ भी उन्होंने बातचीत की। मैंने सोच समझकर उनको चिढ़ाने के लिए कहा कि 'आप हम लोगों से पूछताछ क्यों कर रहे हैं? आपने तो पहले से ही मन में तय किया है कि आर.एस्.एस्. को प्रोत्साहन देना।' यह सुनते ही पंडितजी चिढ़ गए। कहने लगे, 'क्या मैंने आर.एस्.एस्. को बढ़ावा देने का विचार किया है? मैं तो आर.एस्.एस्. के सख्त विरोध में हूँ और फिर आप ऐसी बेतुकी बातें क्यों कर रहे हैं?' मैंने कहा, ''मैं जो कह रहा हूँ वह तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है। आपने हजारों लोगों को कारावास में डाला, उनके परिवार उद्ध्वस्त हो गए। ये सब लोग संघ के नहीं थे किन्तु आपने हजारों परिवारों को उद्ध्वस्त करने के कारण उनमें से जो संघवाले नहीं थे, वे भी अब संघवाले बन गए हैं। उनके रिश्तेदार, मित्र परिवार, उनकी सभी की सहानुभूति संघ को प्राप्त हुई। इससे संघ का प्रभाव और भी बढ़ा।'

मिश्रजी मुझसे इतना ही बोलकर रुक गए। मैं छोटा होने के कारण मैंने आगे का प्रश्न नहीं किया कि इसके पश्चात आप दोनों में संभाषण क्या हुआ।

ऐसा पूछना धृष्टता हो जाती, इसलिए उस समय मैं चुप बैठा। फिर सात आठ दिनों के बाद अवसर देखकर मैंने उनसे दूसरा प्रश्न किया, ''किसी भी संस्था को suppress करने से वह नष्ट नहीं होती, ऐसा आपने कहा था, तो संस्था को नष्ट करने का और रास्ता भी क्या है?'' मिश्रजी ने कहा, ''वह रस्ता मनोविज्ञान का है। जिस संस्था को नष्ट करना है, उस संस्था में Comfort loving cadres और status conscious leaders निर्माण कीजिए। ये दोनों बातें मनोविज्ञान के अनुकूल हैं। यह आसानी से हो सकता है। ऐसी संस्था को आप बहुत सहूलियतें और पैसा दीजिए तो धीरे धीरे अच्छे कार्यकर्ता आरामपरस्त हो जाएँगे और नेताओं के मन में स्वयंप्रतिष्ठा का भाव भी निर्माण होगा। यह बिल्कुल मनोविज्ञान के अनुसार है। ये दो बातें हो जाए तो थोड़े ही समय में वह संस्था स्वयं नीचे आ जाएगी। उसके लिए अलग से प्रयास करने की जरूरत नहीं होगी।'

तो कार्यकर्ताओं में कार्य के विकास के कारण प्राप्त होने वाली सुविधाओं में निहित हितसंबंध निर्माण होते हैं और वे व्यवस्थाएँ वैसीही बनी रहने में भी हितसंबंध निर्माण होते हैं। वास्तव में ऐसी सभी व्यवस्थाओं का तथा सुविधाओं का अपने कार्य की वृद्धि के लिए उपयोग करते समय भी न तो उसके प्रसंगवशात अभाव के कारण मजबूरी निर्माण होनी चाहिए, न तो उन सुविधाओं का मोह भी होना चाहिए। मानो कार्यकर्ता की मानसिकता तो Establishment without 'establishmentarianism', याने कि Establishment without a sense of having been established मतलब, अच्छी व्यवस्था बनाकर भी व्यवस्थासक्त, व्यवस्थाधीन नहीं होना चाहिए।

अगर यह नहीं हुआ तो, एक तो प्राप्त हुए पद के अहंकार के कारण या सुविधाओं के मोह के कारण प्रमुख कार्यकर्ता अपना स्थान बनाए रखने के लिए कुछ चतुराई के प्रयोग शुरू करता है।

■ स्वार्थ की कुप्रवृत्तियों से सावधान

ऐसे जो कार्यकर्ता संगठन में अपनी position बनाए रखने का प्रयास करते हैं उनमें से कुछ कार्यकर्ता तो ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका संगठन में काम करने का निजी हेतु ही स्वार्थपूर्ण रहता है। और स्वार्थ के कारण कुछ कुप्रवृत्तियों का असर भी उनके मन पर रहता है। ऐसी दुष्प्रवृत्ति शायद जन्म से ही मूल स्वरूप में रहती है और अहंतापूर्ण व्यवहारों में वह अभिव्यक्त होती है। एक सुभाषित में ऐसे दुष्प्रवृत्ति के लोगों के बारे में कहा है कि

विद्या विवादाय धनं मदाय। बलं परे षां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्। ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय॥

अर्थात् दुष्ट व्यक्ति विद्या, धन और बल का उपयोग विवाद, मद और दूसरों को पीड़ा देने के लिए करता है। लेकिन साधु-सज्जन उनका उपयोग ज्ञान, दान और रक्षा के लिए करता है। किन्तु जन्म से ही शतप्रतिशत दुष्प्रवृत्त या सत्प्रवृत्त व्यक्तियों की संख्या अत्यल्प ही होती है। बहुसंख्य लोग दोनों छोरों के बीच ही रहते हैं।

अब जो जन्म से ही मूलत: अधिक मात्रा में दुष्प्रवृत्त होता है, ऐसे व्यक्ति में सुधार लाना शायद किसी के लिए भी संभव नहीं। प्याज को इत्र का अभिषेक करके या करेले को घी-शक्कर में घोलकर भी वे अपना गुण नहीं छोडते। ऐसे लोगों की सेवा से, योगदान से संगठन को बचाकर रखना ही अच्छा है। लेकिन ऐसी सावधानी हमेशा बरती जाती है ही ऐसा नहीं। इसका एक कारण है। ऐसे लोगों में जहाँ असाधारण दुष्प्रवृत्ति रहती है वहाँ उनमें से कुछ लोगों में असाधारण कर्तृत्व भी रहता है। ऐसा कर्तृत्ववान, व्यक्तिवादी व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी होने के कारण बहुत कार्य करता है। उसके कर्तृत्व से संगठन के कई कठिन काम भी सफल हो सकते हैं और उसीके कारण संगठन में उसका स्थान मजबूत होता जाता है। उसके कार्य की प्रशंसा भी होती है। कर्तृत्व और कार्यक्षमता वास्तव में प्रशंसनीय है। किन्तु उस कर्तृत्व और कार्यपालन के पीछे कार्य की प्रेरणा व्यक्तिवादी होने के कारण आगे चलकर उस व्यक्ति के कारण उलझनें खड़ी होती हैं और कार्य को धक्का पहुँचता है। लेकिन बीच में तो बढ़ते हुए आत्मविश्वास के साथ वह दूसरों को दुर्बल समझता है और खुद को indispensable। दूसरी ओर उसे मिलनेवाले उँचे स्थान के कारण संगठन में भी उसे, सर्वसाधारण छोटे, नए कार्यकर्ताओं की बढ़ती मान्यता मिलती है, क्योंकि उसके दोष उनके ध्यान में तुरंत आते नहीं। इसलिए उनके खिलाफ कारवाई को वे कार्यकर्ता पसंद नहीं करते। लेकिन उसका दूसरा भी एक कारण है। जो कार्यकर्ता सात्त्विक प्रवृत्ति का रहता है, वह व्यक्तिवादी न होने के कारण स्वयं को बढ़ावा देने का प्रयास नहीं करता और उसके कार्य की पहचान होने में देर लगती है। क्योंकि अपने कर्तृत्व के बारे में प्रसिद्धि का माहौल वह नहीं बनाता है। अगर संगठन के नेतृत्व की विचक्षणता में कुछ न्यून रहा तो सात्त्विक व्यक्ति पिछड़ जाता है। और फिर संगठन का नेतृत्व भी अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहता है, 'अगर कोई सात्त्विक व्यक्ति पूरी तरह से, सक्रियतासे आगे

नहीं आता है तो हम क्या कर सकते हैं। हमें तो काम की जल्दी है। अतएव जो आगे आएगा उसका उपयोग करेंगे।' व्यक्तिवादी कार्यकर्ता का दुष्प्रवृत्त कर्तृत्व जानने के बावजूद भी ऐसा सोचा जाता है कि उसके कर्तृत्व का अभी तो लाभ लेंगे बाद में उसके दोषों का संगठन पर बुरा असर न हो इस बात की चिंता करेंगे। लेकिन ऐसी जल्दबाजी से निर्माण होने वाले दोष भविष्य में ठीक करना कठिन हीं नहीं, असंभव हो जाता है। इसलिए ऐसे दुष्प्रवृत्त लोगों के कर्तृत्व का लाभ लेने का मोह प्रारंभ से ही निग्रहपूर्वक टालना चाहिए। कभी ऐसी व्यक्तिवादी दुष्प्रवृत्ति का ख्याल देरी से आया तो भी ऐसे कार्यकर्ता को उसका उचित स्थान दिखाने में विलंब नहीं करना चाहिए यद्यपि आप के उनके साथ कितने भी मधुर व्यक्तिगत संबंध क्यों न हों। यह हमेशा ध्यान में रहना आवश्यक है कि, Procrastination steals not only time but also organisational health. मतलब, ऐसे कठोर निर्णय में विलंब न केवल समय गँवाता है, बल्कि संगठन का स्वास्थ्य भी छीन लेता है।

पू. गुरुजी ने कहा है कि Nobody is indispensable। कोई भी अनिवार्य नहीं है। सही नेतृत्व वही है जो स्वयं को dispensable बनाने का प्रयास करता है याने कि स्वयं की जगह सक्षमता से ले सकेंगे ऐसे कार्यकर्ता निर्माण करने का हमेशा प्रयास करता है।

इसी में से हमारी सामूहिक नेतृत्व की कल्पना साकार होती है।

अब कार्यकर्ता के स्खलन के संभव का जो जिक्र किया है, उससे यह ध्यान में आ सकता है कि कोई रचना या व्यवस्था अगर बिगड़ जाती है तो उसमें सुधार होना इतना कठिन नहीं है जितना मनुष्य के मन में सुधार लाना है। इसलिए ये सभी संदर्भ और इस विषय के सभी आयाम ध्यान में लेते हुए कार्यकर्ता ने, और खास करके नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता ने इन्हें गंभीरता से ध्यान में रखकर पहले स्वयं को सँभालना जरूरी है और अन्य कार्यकर्ताओं को भी सँभालना आवश्यक है।

■ अन्य क्षेत्रों में ज्यादा सावधानी

यह स्वयं को सँभालने की जो बात है वह अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले स्वयंसेवकों के बारे में तो और भी महत्त्वपूर्ण तथा अत्यावश्यक रहती है।

जैसे कि 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान' इस विभाग में आया है कि संघकार्य के विकासक्रम में समाजजीवन के सभी अन्यान्य क्षेत्रों में, संघ से प्राप्त संस्कार

बोने का तथा स्वायत्त रचनाएँ खड़ी करने का काम संस्कारित स्वयंसेवक करेंगे यह अपेक्षा है। अब प्रत्यक्ष संघकार्य के वायुमंडल में रहते हुए कार्यकर्ता की नीयत तथा व्यवहार साफ रहना उतना कठिन नहीं है जितना अन्य क्षेत्रों में काम करते हुए रहता है। अन्य क्षेत्रों के व्यक्तिगत आकांक्षावाद के वर्तमान दूषित वायुमंडल में कार्यकर्ता को चौबीस घंटे रहना पड़ता है। तो ऐसे स्वयंसेवकों को तो अधिक ही सजगता बरतनी पड़ती है तथा स्वयं के ऊपर हमेशा निगरानी रखनी पड़ती है।

स्टीफन कोव्ह नाम के अध्ययनशील साहित्यकार ने कहा है कि अंग्रेजी साहित्य में सफलता साहित्य success literature का इतिहास दो सौ वर्षों का है। वह पढ़ते हुए उनके ध्यान में एक विस्मयजनक बात आई कि इस पूरे साहित्य के दो भाग होते हैं। पहले सौ-सवा सौ वर्षों का एक भाग और उसके बाद का दूसरा हिस्सा। पहले भाग को उन्होंने चारित्रिक नीति Character ethic यह नाम दिया है और दूसरे को व्यक्तित्व नीति - Personality ethic। जो चारित्रिक नीति है वह बताती है How to become great याने कि महानता किन प्रयासों से प्राप्त होती है। व्यक्तित्व नीति बताती है How to appear great याने बड़प्पन का प्रदर्शन हम कैसे कर सकते हैं - मतलब असली महानता प्राप्त करने का प्रयास नहीं, महानता का दिखावा करने पर जोर है। अब इस निरीक्षण के बाद स्टीफन कोव्ह ने कहा है कि Personality ethic से प्राप्त होने वाला बड़प्पन यह दुय्यम बात है। ऐसा बड़प्पन टिकने वाला नहीं होता है।

जितनी मेरी जानकारी और स्मरण है, character ethic का सबसे बड़ा, अच्छा उदाहरण बेंजामिन फ्रैंकलिन के आत्मचरित्र का है। लेकिन सही बात तो यह है कि उसने अपना आत्मचरित्र तो लिखा ही नहीं था। लेकिन निजी दैनंदिनी में स्वयं के आत्मविकास का आलेख लिखता था। इस हप्ते में या महीने में अपने कौन से दोष, कमियाँ अपने व्यक्तित्व से दूर करनी थीं और उसमें कितनी सफलता प्राप्त हुई, अब अगले हप्ते में या महीने में इस दृष्टि से क्या क्या प्रयास करने हैं ये सारी बातें अपनी दैनंदिनी में खुद के स्मरण के लिए वह लिखता था। उसकी मृत्यु के पश्चात वही दैनंदिनी आत्मचरित्र इस नाते प्रकाशित हुई। अत: उसे बहुत ही विश्वसनीय आत्मचरित्र कहा जा सकता है। यह पूरा संदर्भ मैंने इसलिए प्रस्तुत किया कि आज समाज के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में नेतृत्व के जो नमूने प्रस्थापित हुए हैं उनमें personality ethic का प्रभाव जारी है जब

कि हम तो चाहते हैं कि अन्य क्षेत्रों में जाने वाला हमारा कार्यकर्ता character ethic का अवलंब करे। उसके लिए फ्रँकलिन का उदाहरण आदर्शरूप हो सकता है।

खास कर के आजकल राजनीतिक क्षेत्र में अल्पकालीन और सीमित लक्ष्य सामने रहने के कारण नेताओं को तुरन्त परिणामकारक किन्तु चिरपरिणाम की दृष्टि से हानिकारक रणनीति स्वीकार करने का मोह हो जाता है। ऐसी रणनीति के एक अपरिहार्य अंग के नाते छबि-निर्माण की प्रक्रिया अपनाने का फॅशन राजनीतिक क्षेत्र में प्रचलित हो गया है और इसी का अन्धानुकरण अन्य क्षेत्रों में भी हो रहा है। हमारे भी जो स्वयंसेवक अन्य क्षेत्रों में जाते हैं उनमें से भी कुछ कार्यकर्ताओं के मनपर ऐसी प्रस्थापित मानसिकता का असर हो सकता है। ऐसी छबि निर्माण करने के प्रयास संगठन के दूरगामी हित की दृष्टि से हानिकारक तो होते ही हैं। लेकिन वैसे भी किसी एक या दो-चार कार्यकर्ताओं की या नेताओं की छवि का निर्माण-प्रयास बचकाना तथा हास्यास्पद ही होता है। छवि या प्रतिमा निर्माण का अर्थ होता है कि मूल प्रतिमा उतनी अच्छी नहीं है, क्योंकि स्वभाव-सुंदर व्यक्ति के लिए सौंदर्यप्रसाधन की आवश्यकता नहीं हुआ करती। *'स्वभावसुंदरं वस्तुः न संस्कारं अपेक्ष्यते।* – शाकुन्तल में कविकुलगुरु कालिदास ने दुष्यन्त के मुख से शकुंतला के प्रसाधनहीन स्वाभाविक सौंदर्य का अतीव मार्मिक वर्णन दिया है। और अंत में कहा है –

किमिवहि मधुराणां मण्डनं ना कृतिनाम्।' (शाकुन्तल १.१७)

अर्थात, जो स्वभावसुंदर है उसे कौन सी भी चीज शोभा देती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो प्रतिमा निर्माण का प्रयास यह तो नेता की नैसर्गिक योग्यता पर एक कटु भाष्य ही है।

किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुसार छवि निर्माण करने की प्रक्रिया से संगठन की स्वस्थ प्रगति में तरह तरह की बाधाएँ निर्माण हो सकती हैं। एक तो उसके कारण सामूहिक नेतृत्व का विकास नहीं हो पाता। किसी एक को अत्यधिक बड़ा बनाने का मतलब ही यह होता है कि अन्य लोगों को उतनी मात्रा में कृत्रिम ढंग से छोटा बनाना। संगठन के आंतरिक वायुमंडल पर भी इसका असर होता है। मुक्त, समतायुक्त, पारिवारिक वायुमण्डल बनना असंभव हो सकता है। प्रतिमा-निर्माण के कारण ऐसे नेताओं का दिमाग बिगड़ जाने की संभावना अधिक रहती है। फलस्वरूप संगठन की

कार्यपद्धति तथा निर्णयप्रक्रिया, मूल्यनिष्ठ, लोकतांत्रिक संगठन के अनुरूप न रहते हुए सामन्तशाही ढंग की (Fuedalism) बनने की संभावना रहती है। सामन्तशाही कार्यप्रणाली के सभी दोष संगठन के अन्तर्गत धीरे धीरे आविष्कृत होते हैं। फलस्वरूप, जैसे पहले ही देखा है, व्यक्ति जिस मात्रा में बड़ा हो जाता है, उसी मात्रा में संगठन दुर्बल तथा अक्षम बन जाता है और सामूहिक नेतृत्व या नेतृत्व की द्वितीय पंक्ति विकसित होने में इसके कारण बाधा निर्माण होती है। संगठन के दीर्घकालीन हित की दृष्टि से सामूहिक नेतृत्व तथा द्वितीय पंक्ति निर्माण की क्रमबद्ध परंपरा के विकास की अनिवार्य प्रक्रिया आवश्यक है, उसमें बाधा निर्माण हो जाती है।

■ अन्य क्षेत्रों के कार्यकर्ता की परिभाषा

इस दृष्टि से अन्य क्षेत्रों में जाने वाले हमारे स्वयंसेवक कार्यकर्ता की परिभाषा ठीक ढंग से करना सरल काम नहीं है। अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति, दोनों दोषों की संभावना इसमें है।

सार्वजनिक जीवन में कार्य करने वाले हरेक व्यक्ति को, 'कार्यकर्ता' की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

अमरीका में ट्रेड यूनियनों के महामंत्रियों को पूरा वेतन दिया जाता है। 'पूरा' शब्द से हमारा मतलब है – उनकी क्षमता एवं योग्यता के अनुकूल किसी भी औद्योगिक या वाणिज्य संस्थान में योग्यता के आधार पर उन्हें जितना वेतन प्राप्त हो सकता है, उतना ही यूनियन के द्वारा उन्हें मिलता है। पश्चिम में कुछ समाजकल्याण संस्थाएँ भी अपने संचालकों को इसी तरह पूरा वेतन देती हैं। इन पदाधिकारियों को 'कार्यकर्ता' नहीं कहा जा सकता है। ये 'कर्मचारी' हैं, कार्यकर्ता नहीं।

भारत में सरकारी अनुदान के आधार पर चलनेवाली कई समाजकल्याण संस्थाएँ अपने अधिकारियों को इसी तरह पूर्ण पारिश्रमिक देती हैं। ये लोग उन संस्थाओं के कार्य को अपने उदरनिर्वाह का एक साधन मानते हैं, जीवनकार्य नहीं। ये भी 'कर्मचारी' ही हैं।

हमने 'कार्यकर्ता का अधिष्ठान'. इस विभाग में देखा है कि स्वयं के ऊपर उठकर व्यक्ति की level of consciousness जब उन्नत होती है, तभी त्याग यह उसके जीवन का मूल्य बन जाता है और कुछ उच्चतम उद्दिष्ट के लिए त्याग की प्रेरणा उसके मन में पैदा होती है। त्याग यह मूल्य बनकर उससे

त्याग के लिए प्रेरित होना यह हमारे कार्यकर्ता का एक अनिवार्य गुण है। सार्वजनिक कार्य को कार्यकर्ता जीवितकार्य समझता है। इसलिए अपनी समाजसेवा का पारिश्रमिक लेना उसे अच्छा नहीं लगता। शरीर को जीवित रखने के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति जैसे तैसे हो जाए – यही उसके लिए पर्याप्त है। आगामी जीवन के लिए भविष्यनिधि का विचार वह नहीं रखता। अनपेक्षित संकटकाल के लिए सुरक्षानिधि की बात भी वह नहीं सोचता। वह स्वयं को अपने को समाजपुरुष के चरणोंपर पूर्णरूपेण समर्पित करता है। 'मैं नहीं, तू ही' यही उसकी वृत्ति रहती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारकों की गिनती इसी श्रेणी में होती है। अन्य क्षेत्रों में कार्य करने वाले ऐसे ही कार्यकर्ताओं की यही श्रेणी है।

आत्मसमर्पण की वृत्ति रहते हुए भी कुछ कार्यकर्ता अपरिहार्य कारणों से पारिवारिक जिम्मेदारियों से छुट्टी लेने में असमर्थ हो जाते हैं। जीवन का आदर्श प्राप्त होने के पूर्व जिसका विवाह हो गया है या जिसके परिवार के उदरनिर्वाह की दूसरी कोई भी वैकल्पिक व्यवस्था होना असंभव है, ऐसे व्यक्ति को कुछ मात्रा में धन की चिंता करनी पड़ती है। फिर भी वह आदर्शवादी होने के कारण न्यूनतम पारिश्रमिक लेते हुए अपनी सार्वजनिक संस्था का ही कार्य करते रहने का निश्चय करता है। उसके पारिश्रमिक का संबंध परिवार की न्यूनतम आवश्यकताओं से रहता है, उसकी क्षमता-योग्यता से नहीं। योग्यता के अनुसार कई गुना अधिक पैसा कमाने की क्षमता होते हुए भी, वह अपने कार्य में रत रहता है और तन्निमित्त केवल लाक्षणिक पारिश्रमिक लेता रहता है। वह 'कार्यकर्ता' ही है, कारण उसके कार्य की प्रेरणा त्याग ही है। दिन के चौबीस घंटे और प्रतिमाह तीस दिन वह अपने कार्य में ही व्यतीत करता है।

मजदूर क्षेत्र का एक उदाहरण याद आता है। किसी एक फॅक्टरी में हमारे कार्यकर्ता ने बहुत अच्छा समझौता कर लिया। समझौता करने के बाद जो अन्य यूनियनें थीं, उन यूनियनों के कार्यकर्ताओं ने अपने नेता को एक कार दे दी। तब कई मजदूर अपने भारतीय मजदूर संघ के कार्यकर्ता के पास आकर कहने लगे कि, 'आप को भी हम कार देना चाहते हैं।' उसपर हमारे कार्यकर्ता ने कहा, 'कार तो बेकार है, नहीं चाहिए। यह कार कौन साफ करेगा? मेरे लिए मेरी साइकिल ही भली है।''

हम देखते हैं, कई बार पूरा समय देकर कार्य करने वाले हमारे कार्यकर्ताओं ने इन्टरव्ह्यू दिए हैं। उनमें उन्होंने सब लोगों से कहा कि हमको जितना मिलता है, उतना काफी है। इसीमें हमारा गुजारा हो जाएगा। ज्यादा बढ़ाने की जरूरत

नहीं है। उन्होंने जब हमको अपने अनुभव बताए तो हमको लगा कि कितने विशाल विचारों वाले कार्यकर्ताओं के साथ हम काम कर रहे हैं। एक ऐसी ही घटना याद आती है। अपना पूरा समय देकर काम करने वाले कार्यकर्ता हमसे कुछ पैसा लेते थे। लेकिन किसी कारणवश या उनके प्रयास से उनकी ऐसी स्थिति आ गई जिसके कारण उनको पैसे लेने की जरूरत नहीं रही। उन्होंने कहा कि अगले महीने से हमको भारतीय मजदूर संघ की ओर से पैसा लेने की जरूरत नहीं है। अब पहले जब लेते थे तो भी हमको लगता था, कितना कम पैसा हम दे रहे हैं, हमको शर्म आती थी। लेकिन अब वही कहने लगे, उतने भी पैसों की अब जरूरत नहीं। यह एक श्रेष्ठ विचार है।

जैसे पहले बताया है हमारे यहाँ जीवनयापन और जीवनस्तर की अवधारणा ही यह है कि चमड़ी और हड्डियाँ साथ रहने के लिए (To put skin and bones together) जो न्यूनतम आवश्यक है, उतना ही हो।

अन्य क्षेत्रों में भी संघ के कार्यकर्ताओं के समान एक और भी वर्ग होता है, जो अपना पूरा समय कार्य के लिए नहीं देते, जो जीविकोपार्जन के लिए कुछ व्यवसाय या नौकरी करते हैं। किन्तु यह करते हुए भी अधिक से अधिक समय सामाजिक कार्य के लिए निकालते हैं। वे लोग पूर्ण समाजसेवी नहीं हैं यह सत्य है, तो भी उन्हें कार्यकर्ता की प्रतिष्ठा ही देनी चाहिए, क्योंकि गृहस्थ इस नाते अन्य पारिवारिक जिम्मेदारियों का, निर्वाह करते हुए भी अपने कार्य में एकाग्रचित्त रहना कठिन भी है, अत: कम श्रेयस्कर भी नहीं है। मुनिवर्य नारदजी के बारे में एक कथा आती है। उनके मन में अपनी भगवद्भक्ति पर बहुत अभिमान हुआ। 'नारायण, नारायण' मंत्र का जप अखंड करते रहते थे। तो भगवान ने उनकी परीक्षा ले ली। एक थाली में पानी भरकर उनके हाथ में दे दी और कहा कि मेरी तीन प्रदक्षिणा करो। शर्त यह है कि थाली में से एक बूँद भी जमीन पर ना गिरे। अब नारद ने प्रदक्षिणा शुरू की तो सारा ध्यान उस शर्त पर रहा, तो मुख से 'नारायण, नारायण' मंत्र आना बंद हुआ। तीन प्रदक्षिणा होने पर भगवान ने कहा, 'केवल यह शर्त पूरी करने में तूने ध्यान दिया तो भगवान का नाम लेना भूल गया। तुझसे तो ये अन्य प्रापंचिक लोग अधिक मात्रा में मेरी भक्ति करते हैं। क्योंकि परिवार की सभी जिम्मेदारियाँ निभाते समय भी वे मेरा नाम, मेरी भक्ति को भूलते नहीं।' तो ऐसे प्रापंचिक कार्यकर्ता भी हमारी दृष्टि से उसी समर्पित वर्ग में गिने जाते हैं।

अपने संगठन का नहीं, पूरे क्षेत्र का विचार

जब संघ कार्यकर्ता अन्य क्षेत्रों में कार्य करने जाता है तब उसके मन में न केवल अपने अपने संगठन का अपितु पूरे क्षेत्र का विचार होना चाहिए। जैसे कि पहले बताया है कि संघ पूरे हिन्दू समाज से एकात्म है। तो अन्य क्षेत्रों में जाने वाले हमारे स्वयंसेवक कार्यकर्ताओं की मानसिकता भी केवल sectarian नहीं होनी चाहिए। उनमें अपनी अपनी संस्था के बारे में संस्थागत अहंभाव institutional ego नहीं निर्माण होना चाहिए। मुझे याद है अपने ही कुछ स्वयंसेवक कम्युनिस्ट यूनियन में काम करते थे तो पू. गुरुजी से शिकायत की गई कि स्वयंसेवक होकर भी भारतीय मजदूर संघ के प्रतिस्पर्धी यूनियन में ये कैसे काम कर सकते हैं? उनको रोकना चाहिए।

उसपर पू. गुरुजी ने जो कहा, वह अन्य क्षेत्रों में कार्य करने वाले हमारे कार्यकर्ताओं के लिए बहुत ही उपयुक्त हो सकता है। उन्होंने कहा – संघ का सरसंघचालक इस नाते मैं ऐसा नहीं कह सकता कि मजदूर क्षेत्र में केवल भारतीय मजदूर संघ के कार्यकर्ता ही मेरे लोग हैं। सरसंघचालक इस नाते तो पूरा समाज मेरा ही है। मैं केवल संघ का नहीं, पूरे हिन्दू समाज का सरसंघचालक हूँ। तो मैं तो किसी स्वयंसेवक कार्यकर्ता को दूसरे संगठन में काम करने से नहीं रोक सकता, जब तक उधर भी वह स्वयंसेवक अपनी रीति, नीति, पद्धति को चरितार्थ करके काम कर रहा है।

एक बार उत्तर प्रदेश के संघ शिविर में भोजन के लिए पं. दीनदयालजी आए थे। तो एक स्वयंसेवक ने उनसे पूछा, ''पंडितजी, अब आने वाले चुनाव में हमारे कितने लोग चुनकर आएँगे?'' पंडितजी ने पूछा, ''हमारे याने कौन? संघ स्वयंसेवक इस नाते पूछ रहे हो तो जो सभी चुनकर आएँगे, सभी तो हमारे ही हैं।'' मतलब संघ स्वयंसेवकों के मन में किसी भी क्षेत्र में काम करते समय पूरा क्षेत्र ही अपना है यह धारणा होनी चाहिए। राजनीति में भी जो हमारे राजनीतिक दल के बाहर के लोग हैं वे भी हिन्दू राष्ट्र की परिधि के बाहर हैं, ऐसा हम नहीं मानते।

यह सही है कि अपने अपने क्षेत्र में अपनी अपनी संस्था तथा जनसंगठन बढ़ाने का हम प्रयास करेंगे तब उसी क्षेत्र में काम करने वाली अन्य संस्थाओं के कार्यकर्ताओं से हमारा विरोध होगा यह स्वाभाविक है। अपनी संस्था की दृष्टि से हमें भी विरोध करना पड़ेगा। किन्तु यह करते हुए भी हमारी धारणा यही रहनी चाहिए कि आज कुछ गलतफहमी के कारण ये हमारे विरोध में काम

कर रहे हैं। किन्तु कालान्तर से उनको भी अपने साथ लाना है। वे गलत ढंग से विरोध करते होंगे तो अपरिहार्यता के नाते हम उनकी पिटाई भी करेंगे किन्तु यह विद्वेष के कारण नहीं तो मातृहृदय से। जैसे माँ बच्चे को कडवी दवा पिलाती है, बच्चा माँ को मारता है। माँ भी दवा पिलाने के लिए उसको थप्पड़ लगाती है। वह द्वेष के कारण नहीं तो मातृहृदय से। उसमें बच्चे की भलाई की ही भावना रहती है। वैसे ही जनसंघटनाओं के क्षेत्रों में हमारा विरोध करने वाले भी हमारे बीजीभूत कार्यकर्ता ही हैं, केवल वे आज गलतफहमियों के शिकार बन गए हैं, यह भावना उनके प्रति हमारे मन में होनी चाहिए।

■ हम अन्य क्षेत्रों में क्यों गए हैं?

अन्य क्षेत्रों में जाने वाले हमारे कार्यकर्ताओं के मन में यह स्पष्ट और दृढ़ धारणा होनी चाहिए कि उन क्षेत्रों में कार्य की रचना संघ के सिद्धान्तों तथा आदर्शों के प्रकाश में ही होनी चाहिए।

हम अन्य क्षेत्रों में क्यो जा रहे हैं? वहाँ पहले से काम करने वाले लोग आदर्श ढंग से व्यवहार नहीं कर रहे हैं, सस्ती लोकप्रियता के लिए बुरे मार्ग का अवलंब कर रहे हैं। तो हम उस क्षेत्र को संघ संस्कार देकर परिष्कृत करने के लिए जा रहे हैं यह बात दृष्टि से ओझल नहीं होनी चाहिए। हमने तुरन्त सफलता प्राप्त की यह दिखाने के मोह में हम उनके समान ही गलत व्यवहार करेंगे तो हमारा वहाँ जाने का क्या उपयोग? हम सफल हो गए ऐसा दिखाने में, सफलता पाने में विलंब होगा तो भी चलेगा किन्तु जो रीति, नीति, पद्धति, संकेत, संघ ने हमें बताई हैं, जो वायुमंडल तथा मानसिकता संघ ने बनाई रखी हैं उन सब बातों की प्रतिष्ठापना अपने अपने क्षेत्र में करनी है। गंगा गए गंगादास, जम्ना गए जम्नादास, ऐसी हमारी स्थिति नहीं होनी चाहिए।

अन्य क्षेत्रों में हम क्यों गए हैं इसका सही भान कार्यकर्ता को रहा तो ही वह संघ को अपेक्षित रीति, नीति, पद्धति के अनुसार उस क्षेत्र में काम कर सकेगा और जैसे कि पिछले भागों में बताया है, राष्ट्र को परम वैभवप्रत ले जाने के संघ के संकल्प की पूर्ति के लिए सहायभूत होगा।

मुझे याद है जब मा. पीतांबरदास जनसंघ के अध्यक्ष हुए तब पू. गुरुजी से मिलने गए थे। वापस आने के बाद मैंने उनसे पूछा कि आप पू. गुरुजी से मिलने गए, तो क्या हेतु था? उन्होंने बताया, 'मैं समझना चाहता था कि मैं अध्यक्ष बन गया इसका सही अर्थ क्या है?' मैंने पूछा, 'कुछ पता लगा?'

मा. पीतांबरदास शेरशायरी के बड़े शौकीन थे, वे बोले, 'हाँ, समझ गया, एक शेर है –

दुनिया में हैं, दुनिया के तरफदार नहीं।
बाजार से निकले हैं, खरीददार नहीं॥

हम दुनिया में हैं लेकिन हम दुनिया के समर्थक नहीं, उससे आसक्त नहीं। और हम बाजार से निकले हैं लेकिन हमको कुछ खरीदना नहीं है।'

फिर हम बाजार से क्यों चल रहे हैं? तो हमें जहाँ पहुँचना है उस मंझिल के रास्ते का कुछ हिस्सा बाजार में से जाता है इसलिए हम बाजार से निकले हैं। हमें तो आगे ही जाना है। इस राष्ट्र को परम वैभव तक ले जाने के कार्य में राजनीति का जो हिस्सा है, वह ठीक ढंग से पूरा करने के लिए हम राजनीतिक क्षेत्र में हैं।

■ दैनंदिन शाखा संस्कार न छूटे।

संघ का राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का काम अन्य क्षेत्रों में करने हेतु जानेवाले स्वयंसेवक कार्यकर्ताओं का व्यवहार उचित ढंग से कब हो सकता है? इसके लिए और एक अत्यावश्यक बात होती है। ऐसे हर एक स्वयंसेवक ने आग्रहपूर्वक संघशाखा पर आना चाहिए। वैसे तो हर एक स्वयंसेवक के बारे में हमारा आग्रह रहता ही है। लेकिन अन्य क्षेत्रों का आजकल का वायुमंडल ध्यान में लेते हुए उन क्षेत्रों में जाने वाले, रहने वाले हमारे कार्यकर्ताओं के बारे में यह विशेष आग्रह की बात है। व्यक्ति का स्खलन कभी भी हो सकता है। लेकिन प्रतिदिन शाखा पर आने वाले व्यक्ति का स्खलन होने की संभावना बहुत कम होती है। पिछले कुछ पन्नों में दैनंदिन संस्कारों के बारे में कुछ जिक्र किया है वह फिर ध्यान में लेना उपयुक्त रहेगा।

कुछ तीन बरस पहले मैं कुछ निमित्त से गुजरात गया था। उधर का राजनीतिक वायुमंडल बहुत ही विषैला हुआ था और उसका भारी असर हमारे स्वयंसेवकों के मन पर भी हुआ था। वे बहुत ही अस्वस्थ थे। 'बचपन से स्वयंसेवक होते हुए भी राजनीतिक क्षेत्र में जाने के बाद कुछ लोगों के बारे में गडबड़ क्यों होती है? फिर संघ-संस्कारों का क्या होता है?' ऐसे कुछ प्रश्न स्वयंसेवकों को अस्वस्थ, बेचैन कर रहे थे। मैंने उनसे पूछा – बचपन से स्वयंसेवक होकर भी जब स्वयंसेवक अन्य क्षेत्रों में जाता है तब गड़बड़ हो सकती है, फिर कितना

भी बड़ा कार्यकर्ता क्यों न हो। लेकिन एक बात बताइए। राजनीतिक क्षेत्र में जाने के बाद जिनका स्खलन हुआ है ऐसा हर एक नेता अपनी आंखों के सामने लाना, मुझे उनका नाम भी मत बताओ। और फिर उनके बारे में एक ही बात बताओ कि ऐसे कार्यकर्ता जो तृतीय वर्ष शिक्षित हैं, आठ-दस वर्ष प्रचारक रह चुके हैं, क्या आज निकर पहनकर हररोज संघशाखा पर आते हैं क्या?'

स्वयंसेवक सोचने लगे। एक ने कहा फलाना नेता गत दस वर्ष शाखा पर नहीं आया। दूसरा बोला, अमुक कार्यकर्ता आठ-नौ वर्ष शाखा पर नहीं आया।' ऐसी गिनती शुरू हुई। इतने में एक ने कहा, 'नहीं नहीं। ठेंगडीजी मैं एक सुधार देना चाहता हूँ।' मैंने कहा क्या बात है? तो बोला, 'यह सच है कि कोई आठ वर्ष, कोई दस वर्ष शाखा पर नहीं आता है। लेकिन चुनाव आया तो चुनाव के पहले पंद्रह दिन निकर पहनकर सभी शाखा पर आते हैं।'

जैसे कि बताया था कि बर्तन हररोज साफ करना आवश्यक हैं वैसे ही संघशाखा पर हररोज आने से ही संस्कार बनाए रहना संभव है। अब बर्तन आठ दस वर्ष साफ नहीं करेंगे और फिर पूछेंगे, संस्कारों का क्या होता है? तो उसका जवाब ही क्या हो सकता है?

इस दृष्टि से भी संघ कार्यकर्ता कहीं भी जाए, ध्येयसमर्पितता, निरहंकारिता, कार्य के प्रति प्रतिबद्धता, निस्वार्थता आदि मूल्यों के परिणामस्वरूप निर्माण हुई मानसिकता सजगता से हमेशा के लिए मन में बनी रहना आवश्यक रहता है। अगर ये सभी मूल्यों का संस्कार स्वयंसेवक इस नाते ही हम अंकित करते हैं, तो अपना स्वयंसेवकत्व कभी भी हम नहीं भूलें, इसका ख्याल रखना चाहिए।

इस संदर्भ में सजगता कैसे रखी जाती है और रखनी चाहिए इसका संकेत करने वाले अपने ज्येष्ठ कार्यकर्ताओं के कितने उदाहरण हैं।

पं. दीनदयालजी के संदर्भ में दो तीन बड़े मार्मिक उदाहरण हैं। संघ के किसी कार्यक्रम में वे बौद्धिक देने के लिए गए थे। उनका परिचय बताते समय परिचय देने वाले ने कहा, 'पं. दीनदयालजी जनसंघ के ऑल इंडिया जनरल सेक्रेटरी हैं।' पंडितजी ने उसको तुरन्त ही दुरुस्त किया कि मैं संघ का प्रचारक हूँ। अर्थात् राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने वाला संघ का प्रचारक।'

जब एक ही बार पंडितजी जनसंघ के अध्यक्ष बने वह १९६७ के दिसंबर में कालिकत के अधिवेशन में। अधिवेशन के बाद वे पू. गुरुजी से मिलने कर्नाटक में आए। उस दिन पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार पू. गुरुजी का बौद्धिक वर्ग रखा था, लेकिन पं. दीनदयाळजी आने के पश्चात पू. गुरुजी ने कहा कि अब

दीनदयाळजी का बौद्धिक वर्ग होगा। तो स्थानीय अधिकारियों में से किसी ने कहा, 'लेकिन वे तो जनसंघ जैसे राजनीतिक दल के अध्यक्ष हैं।' पू. गुरुजी ने कहा कि 'संघ के कार्यक्रम में वे राजनीतिक दल के अध्यक्ष इस नाते नहीं बोलेंगे, एक स्वयंसेवक इस नाते ही बोलेंगे।'

इस संदर्भ में पं. दीनदयालजी न केवल स्वयं के बारे में सजग थे, अपने कार्यकर्ताओं को भी सजग करते रहते थे। जनसंघ के प्रारंभिक दिनों में दिल्ली में एक बैठक के बाद सब कार्यकर्ता बाहर निकले और कुछ खानेपीने की व्यवस्था के बारे में सोच रहे थे। पंडितजी ने कहा, 'चलो, झंडेवाला में (दिल्ली का संघ कार्यालय) जाएँगे। सब प्रबंध हो जाएगा।' और बाद में उन्होंने कहा, 'झंडेवाला में जाते रहो, वहाँ खाना खाने से राजनीतिक क्षेत्र में भी हमारा दिमाग ठिकाने पर रहेगा।' मतलब संघ की संस्कार प्रणाली से अपना रिश्ता नाता बनाए रखो।

इसी संदर्भ में पू. गुरुजी ने उनकी अपनी खास शैली में मुझे भी एक सबक सिखाया था। मैं तो संघ का प्रचारक रहा, फिर भी 'शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन' के नेता तथा कार्यकर्ताओं के साथ अच्छे संबंध बनाए रखने के लिए तब मैं उनके साथ भी कार्य करता था। एक दिन पू. गुरुजी के साथ बैठा था। मा. आबाजी थत्ते भी थे। तो पू. गुरुजी ने पूछा, 'अब तुम 'शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन' में काम करते हो तो सुबह शाखा पर जाना तो नहीं होता होगा?' मैंने कहा, 'हाँ! अब शाखा पर जाना मुष्किल सा होता है। 'शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन' के कार्यकर्ताओं की आदत ऐसी होती है कि श्याम के समय बैठकें शुरू होती हैं तो रात देर तक चलती हैं। और सुबह जल्दी उठना नहीं होता है,' फिर शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के नेताओं के तथा कार्यकर्ताओं के साथ संपर्क करने में कहाँ तक कामयाबी प्राप्त हुई यह प्रश्न पू. गुरुजी ने पूछा। मैंने सब बताया। श्रीगुरुजी ने कहा, 'बहुत अच्छा काम किया है। इसमें मानसिक कष्ट भी आपने बहुत सहे होंगे।' श्रीगुरुजी ने ऐसा कहने से मुझे आनंद हुआ। प्रतीत हुआ अब तक किए हुए काम को गुरुजी ने मान्यता दी है। एकाध मिनिट के बाद गुरुजी ने कहा, 'शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के लोगों से संपर्क करने में इतना समय देना पड़ता है और इसलिए स्वाभाविक है कि शाखा पर आना संभव नहीं होता। पिछले तीन चार दिनों से यह आबा कह रहा है कि दत्तोपंत शाखा पर नहीं आ रहे हैं। मैंने आबा को समझाया कि दत्तोपंत मानते हैं कि मैं जो काम कर रहा हूँ वह संघकार्य ही है। संघ की प्रेरणा से ही कर रहा हूँ। इस दृष्टि से मैं चौबीस घंटे संघ का ही कार्य कर रहा हूँ। उसी के कारण

शाखा पर नहीं जा सका, तो उसमें आपत्ति क्या है? क्यों दत्तोपंत, ऐसा ही है न?'

अब मैं घबरा गया था। पहले मुझे लगा था कि मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। अब ध्यान में आया कि पटरी एकदम बदल गई है। मैं गर्दन झुकाकर चुपचाप बैठा। श्रीगुरुजी ने फिर से पूछा, 'क्यों दत्तोपंत, ऐसा ही है न?' मैंने बड़ी मुश्किल से केवल गर्दन हिलाई।

उसपर गुरुजी बोले, 'आबा सुन लो, ये क्या कह रहे हैं?' और फिर मुझसे कहा – ''मैं तीन चार दिनों से आबा को समझा रहा हूँ। किन्तु मेरी बात इसके ध्यान में नहीं आती। यह मुझे भी हर दिन संघस्थान पर आने का आग्रह करता है। मैं उनको बता रहा हूँ कि अरे, मैं संघ का सरसंघचालक हूँ। संघ के अलावा मेरे जीवन में और कुछ है ही नहीं। मेरी जो कुछ भी हलचल रहती है वह संघकार्य का ही तो हिस्सा है। जब मैं चौबीस घंटे संघ के अलावा और कोई भी काम करता ही नहीं तो मेरे ऊपर यह सख्ती क्यों, कि मैंने हर दिन शाखा के लिए एक घंटा देना चाहिए। मैं समझाता हूँ, लेकिन आबा मानता ही नहीं।''

इसपर कुछ भी प्रतिक्रिया व्यक्त करना संभव नहीं था। श्रीगुरुजी क्या संकेत कर रहे हैं यह सब के ध्यान में आया। मेरे तो ध्यान में आया ही और तब से मैंने हर दिन शाखा पर जाना शुरू किया।

■ कल्पवृक्ष की शक्ति का रहस्य

अन्य क्षेत्र में जाने वाले कार्यकर्ताओं के मन में और भी एक स्पष्ट और दृढ धारणा होनी चाहिए। हम कहते हैं कि संघ का संगठन यह कल्पवृक्ष जैसा है। इस संगठन के द्वारा हमें जो शक्ति प्राप्त होती है वह शक्ति हमारे सिद्धान्तों की तथा हमारे जीवनमूल्य और व्यवहारसूत्रों की है। ऐसी शक्ति के साथ हम अन्यान्य क्षेत्रों में जाते हैं। अगर इस शक्ति का उपयोग उन क्षेत्रों में संगठन को बढ़ावा न देते हुए अपने निजी स्वार्थ को बढ़ावा देने के लिए करेंगे, तो संगठन की निजी शक्ति भी कम हो जाएगी। हमारे गलत व्यवहारों का बुरा असर संगठन की शक्ति पर भी होगा। इसलिए संगठन के कल्पवृक्ष से प्राप्त हुई किमया का संगठन के लिए ही सजगता से उपयोग करना आवश्यक है। हमारी तपस्या तो फलदायी होगी, लेकिन उसका निजी स्वार्थ के लिए उपयोग करने से उसकी क्षमता अधिकाधिक कम होती जाती है। ऐसे लोगों के बारे में ॲलेक्झांडर पोप

ने कहा है – "Born for the Universe, narrowed his mind And gave to his party, what was meant for mankind! मतलब, पुरे विश्व के लिए जनम लिए हुए व्यक्ति ने अपना मन छोटा किया और जो पूरे मानवता के लिए करना था वह अपने छोटे गुट के लिए उसने किया। श्री. भानुप्रताप शुक्ल ने दिया हुआ एक उदाहरण तो बहुत ही उद्‌बोधक है। एक राजा को, लड़ाई में पराभूत होने के कारण जान बचाकर भागना पड़ा। अब कहाँ छिप जाए? इसी विचार से भागते भागते जंगल में एक आश्रम के पास आया। आश्रम देख कर बहुत आनंद हुआ। आश्रम के प्रमुख ऋषि को साष्टांग प्रणिपात करके अपनी कहानी बताई। ऋषि ने कहा – यहाँ आराम से रहो। यहाँ तुम्हारे ऊपर कोई हमला नहीं कर सकेगा।

आसरा तो मिल गया। किन्तु उसके सामने समस्या खड़ी हुई। खाना, पीना, पहनना, इसकी क्या व्यवस्था होगी। आश्रम में रहने वाले सभी ऋषि तो केवल लंगोटियाँ पहनते थे। नित्य व्रतवैकल्य के कारण दुबले पतले दीखते थे। उनकी तो अपनी ही कोई खाने पीने की व्यवस्था दीखती नहीं तो अपने भोजन की व्यवस्था क्या हो सकती है? ऐसे सारे प्रश्न मन में उठ रहे थे। तो आश्रम के प्रमुख ऋषि ने कहा कि, 'सोचने की कुछ बात नहीं। आश्रम के आंगन में जो पेड़ है वह कल्पवृक्ष है। उसके नीचे बैठकर तुम कोई भी आवश्यक चीज माँग लोगे, किसी भी चीज की कल्पना करोगे तो वह चीज यह कल्पवृक्ष तुम्हें तुरंत प्रदान करेगा।' राजा ने यह प्रयोग करने के बाद जो चाही वे चीजें उन्हें प्राप्त हो रही थीं। अब कुछ दिनों के पश्चात उसके मन में विचार आया, 'यदि हमारी सभी कामनाएँ यह कल्पवृक्ष पूरी करता है तो क्या मेरा गँवाया हुआ राज प्राप्त करने की कामना भी पूरी कर सकेगा क्या?' और फिर कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर यह इच्छा प्रकट की। और दूसरे ही दिन उसके राजधानी के कुछ लोग खोज करते करते आश्रम में पहुँच गए। उन्होंने बताया कि आक्रामक राजा के विरोध में जनता ने विद्रोह किया, उसको मार डाला। तो अब हमारे साथ चलिए और अपना राज ग्रहण कर लीजिए। यह सुनकर राजा तो बहुत प्रसन्न हुआ।

किन्तु उसी समय उसके मन में और एक प्रश्न आया। जब यह कल्पवृक्ष सभी कामनाएँ पूरी करता है तो आश्रम के सभी लोग इस तरह अनशन करके, लंगोटियाँ पहनके क्यों रहते हैं? इस वृक्ष से सभी चीजें प्राप्त न करते हुए ये जबरदस्ती से दुखी जीवन क्यों व्यतीत कर रहे हैं?

यह प्रश्न आश्रमप्रमुख से पूछने पर उन्होंने हँसकर कहा कि तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। किन्तु एक बात ध्यान में रखो। कल्पवृक्ष के सान्निध्य में रहकर भी हम अपने लिए उससे कुछ नहीं माँगते। यह स्थिति जब तक कायम रहेगी तब तक ही लोगों की कामनाएँ पूर्ण करने की कल्पवृक्ष की शक्ति कायम रहेगी। हम उससे जैसे जैसे अपनी कामनाओं की पूर्ति कर लेंगे वैसे वैसे ही कल्पवृक्ष की यह शक्ति क्षीण हो जाएगी और अंत में वह शक्तिहीन बन जाएगा।

कल्पवृक्ष के सान्निध्य में रहकर भी, उससे अपने उपभोग के लिए सभी सुविधाएँ प्राप्त होने की संभावना होते हुए भी, केवल लंगोटियाँ पहन कर अपनी साधना में मग्न रहना यह पागलपन नहीं तो क्या है? जैसे कि पहले बताया गया कि हमारा संगठन भी एक पागल लोगों का ही संगठन है। अब सन १९४७ के पहले हमारे देश में कुछ तो पागल लोग थे, जिन्होंने मातृभूमि के लिए सर्वस्वार्पण किया था। हम लोग तो पहले से ही पागल थे। यह भी बताया है कि पू. डॉक्टरजी के जमाने में कई महानुभाव पूछते थे कि ऐसा कौन पागल व्यक्ति है जो कहता है कि यह हिन्दू राष्ट्र है। उस समय पू. डॉक्टरजी ने अकेले ने उसका जवाब दिया था, ''मैं केशव बलिराम हेडगेवार कहता हूँ कि यह हिन्दू राष्ट्र है। और उस समय से पागल लोग पैदा करने का यह कारखाना शुरू हो गया। हमें लगता है आज पूरे देश में पागल लोग पैदा करने वाला इतना बड़ा एक मात्र कारखाना है और उस कारखाने से 'पागलपन' का जितना अच्छा माल तैयार होता है, उतना अच्छा माल और किसी कारखाने से नहीं आता। और वह माल है हमारा समर्पित कार्यकर्ता।

इसलिए कार्यकर्ता इस नाते हम किसी भी क्षेत्र मे कार्य करते होंगे, हम सब मिलकर इस राष्ट्र को परम वैभव प्रत ले जाने का हमारा जो राष्ट्रीय ध्येयसंकल्प है, उसकी पूर्ति के काम में लगे हैं, यह आँखों से ओझल नहीं होने देंगे। संघ ने जो रीति, नीति, पद्धति तथा जीवनमूल्य हमें सिखाए हैं, जो मानसिक वायुमंडल हमारे लिए बनाया रखा है, उन सब बातों को अपने जीवन में चरितार्थ करके ही अगर हम आगे बढ़ेंगे तो अपना ध्येयसंकल्प पूरा करने में संघ सफल होगा।

जैसे कि प्रारंभ में हमने देखा है कि मनुष्यनिर्माण की भी कोई प्रक्रिया रहती है, वैसे ही कार्यकर्ता ने भी स्वयं के ऊपर अखंड सावधानी से निगरानी रखते हुए स्वयं को अच्छा कार्यकर्ता बनाए रखने की भी कुछ प्रक्रिया रहती है। इसको निरंतर ध्यान में रखना चाहिए।

जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन इस देशकार्य के लिए समर्पित किया ऐसे नेतृत्व करने वाले कार्यकर्ता हमारे लिए एक आदर्श के रूप में रहते हैं। संगठन का कार्य जो हमने अपने हाथों में लिया है, यदि उसे सफलतापूर्वक संपन्न करना है तो कार्यकर्ता को स्वयं को सजग और सतर्क बनाने के लिए ऐसे कार्यकर्ताओं के उदाहरण सामने रखकर आत्मनिरीक्षण करते रहना आवश्यक है।

■ अचल ध्येयवृत्ति के हिमालयसदृश आदर्श

अब गत पचहत्तर वर्षों में जिन्होंने अपने खून-पसीने से सींचकर यह कार्य बढ़ाया, उनमें से कई एकेक कर के चले गए। हम जो आज के कार्यकर्ता हैं, उनकी जिम्मेदारी बढ़ गई है। हमारी शक्ति तो बढ़ रही है, लेकिन बदलते हुए सामाजिक वायुमंडल में हमारी चुनौतियाँ भी बढ़ गई हैं। लेकिन चिंता की बात नहीं। अगर हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यह ईश्वरी कार्य है तो किसी भी वायुमंडल में यह सफल होकर रहेगा ही। दुनिया की कोई शक्ति उसको मिटा नहीं सकती। पू. डॉक्टरजी, पू. गुरुजी जैसे अचल धीर वृत्ति के हिमालयसदृश आदर्श हमारे सामने हैं।

पं. दीनदयालजी के संदर्भ में एक प्रसंग याद आता है। १९६७ में जब पहली बार जनसंघ के कार्यकर्ता संयुक्त विधायक दल के मंत्रिमंडल में शामिल हुए तब मध्यप्रदेश के जनसंघ के एक पदाधिकारी ने उनसे पूछा, 'अब हमारे लोग सत्ता में जाकर बैठे हैं। यदि सत्ताप्राप्ति के कारण इनमें से कई लोग भ्रष्ट हुए और जनसंघ का अध:पतन हुआ तो?' पंडितजी ने तपाक से जवाब दिया, ''मैं जनसंघ विसर्जित करूँगा और नए दल का गठन करूँगा।'' ''फिर वह भी भ्रष्ट हुआ तो?'' ''तो फिर वह भी बरखास्त करूँगा और तीसरा दल शुरू करूँगा।'' स्वयं के कर्तृत्व से पाला-पोसा दल अगर भ्रष्ट हुआ तो उसके प्रति बिलकुल निर्मम भाव रखने की तत्त्वनिष्ठा तो इस प्रसंग में दिखाई देती है ही लेकिन पुन: प्रारंभ से श्रीगणेशा करने की हिम्मत भी दिखाई देती है।

पू. गुरुजी के जीवन की भी एक घटना की याद आती है जब उनसे कहा गया कि आप को अपनी कार्यपद्धति में परिवर्तन लाना चाहिए। कुछ लोग उनसे बोले कि अगर परिवर्तन न किया तो यह जो आर.एस्.एस्. है वह सारा टूट जाएगा, Everything will crumble down. । पूरी बात सुनने के बाद श्रीगुरुजी एक मिनिट के लिए स्तब्ध रहे। सामने देख रहे थे। ऐसा लगता था

कि वे लोगों की तरफ देख नहीं रहे थे। कहीं तो भी दूर देख रहे थे। मानो स्वयं अपने को ही भूल गए हो। और फिर उनके मुँह से शब्द निकले कि, Well, if everything crumbles down, I will begin from the beginning! यदि सारा टूट जाए तो मैं फिर प्रारंभ से शुरुआत करूँगा।'

यह आत्मविश्वास और धारणा केवल व्यक्ति के स्तर का आत्मविश्वास नहीं है तो अपने सिद्धान्त, जीवनमूल्य, संकेत तथा कार्यपद्धति और व्यवहार सूत्र इनके प्रति जो दृढ़ विश्वास होता है, उसका निदर्शक है।

■ रा. स्व. संघ अब आलोचना का विषय नहीं।

वास्तव में जब इतनी भी शक्ति नहीं थी, तब भी किसी ने यह नहीं कहा कि चिंता की बात है। यह संघ की विशेषता है कि तब भी अपनी मस्ती में काम करने की मानसिकता हमारे कार्यकर्ताओं में थी। समाज के अन्यान्य गुट, राजनीतिक शक्तियाँ, अन्य विरोधी तत्त्व इनकी उदासीनता, उपहास, विरोध इन सभी को पार करके व्यापक जनसमर्थन हमें प्राप्त हो रहा है। अब रा. स्व. संघ यह कोई किसी की आलोचना का विषय नहीं रहा है। इस विषय के संबंध में मुझे एक संदर्भ याद आता है। विल्यम बार्सली नाम के एक लेखक ने अपनी The Gospel of John इस किताब में पॅरिस के एक प्रख्यात चित्रप्रदर्शनी का अनुभव दिया है। उस प्रदर्शनी में कुछ अप्रतिम, अनमोल तथा निरंतर सुंदरता की कलाकृतियों के नमूने थे, जिनके निर्माणकों की प्रतिभा की महानता सर्वमान्य थी। प्रदर्शनी देखने के लिए कोई बड़ा संदेहवादी समीक्षक आया था और कोई सेवक उसको प्रदर्शनी दिखा रहा था। पूरी प्रदर्शनी देखने के बाद उस समीक्षक ने कहा कि 'मुझे तो इन कलाकृतियों में कुछ खास प्रतिभा नहीं दिखाई देती है। मैं इन्हें कुछ ज्यादा महत्त्व नहीं देता हूँ।' तो साथवाले सेवक ने नम्रता से कहा, 'साहब! मैं आप का ध्यान इस बात की ओर खींचना चाहता हूँ कि ये मास्टर पीसेस अब काल की कसौटी पार कर चुके हैं। अब तो उन्हें देखने वाले की रसिकता की कसौटी है।' 'Sir! I would remind you that these master-pieces are no longer on trial, but-those who look at them, are on trial.' इसी तरह हम आज कह सकते हैं कि, "Sangh is no longer on trial, but those who talk about R.S.S. are on trial." "अब संघ की कसौटी नहीं है, बल्कि संघ

के विषय में बोलने वालों की कसौटी है।'' तो यह विश्वास मन में रखकर हम आगे बढ़ेंगे।

जैसे कि परमात्मा की भक्ति की धुन जिन के ऊपर चढ़ती है उनको बाहर का कोई विचार नहीं रहता कि हम क्या खाते पीते हैं, कहाँ सोते हैं, न कोई निराशा उनके मन में छा जाती है। हमारे कार्यकर्ता भी अपने ध्येयसंकल्प की धुन में ऐसे ही कार्य करते हैं। यह मस्ती और यह धुन कभी भी क्षीण नहीं होने देंगे इसका ख्याल हमें निरंतर रखना है। इसी मस्ती में डूबे रहिए, इसी धुन को बढ़ाइए, समाज को भी इस मस्ती का अनुभव दीजिए, अपना कार्य बढ़ता रहेगा। अपनी ध्येयनिष्ठा, एकात्मता, आत्मसमर्पण को हम हिफाजत के साथ कायम रखें तो बाकी सब ठीक हो जाएगा। इसलिए Take care of Karyakartas, everything will take care of itself! कार्यकर्ता की चिंता करो, बाकी हर बात अपने आप को सम्हालेगी। पू. डॉक्टरजी ने, पू. गुरुजी ने अपनी समर्पित ध्येयसाधना से इस कार्य का अधिष्ठान इतना बलशाली तथा सचेत, विकसनशील बनाया है कि उसी के प्रकाश में हमारे जैसे कार्यकर्ताओं को भविष्य में निरंतर प्रेरणा मिलती रहेगी और इस कार्य का उद्दिष्ट – 'इस मातृभूमि को परम् वैभव प्रत ले जाना,' यह हम साकार करके ही रहेंगे यह हमारा विश्वास है।

■ पू. डॉक्टरजी के नेतृत्व की विशेषता

सन १८५७ के पश्चात इस देश में कई महापुरुषों ने राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी अपनी संकल्पना के अनुसार महाकार्यों का निर्माण किया। परन्तु अनुभव यह आता रहा है कि आद्यप्रणेता के निर्वाण के पश्चात उसके कार्य की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, धीरे धीरे कार्य परागति की ओर जाता है, और अन्ततोगत्वा निष्प्राण हो जाता है। कार्य की मूल प्रेरणाएँ तथा परंपराएँ प्रथमतः विकृत हो जाती हैं और अंत में खण्डित। बहुत सारे उदाहरण हैं। लेकिन जिनकी श्रेष्ठता के बारे में, त्याग तपस्या के बारे में किसी के भी मन में संदेह नहीं है ऐसे दो महापुरुषों की ही बात हम देख सकते हैं। वे हैं लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी। तिलकजी स्वयं अपने जीवन के अन्तिम चरण में कहा करते थे कि, ''मेरे कंधों पर पाँव रख कर ऊपर चढ़ने वाला कोई युवक मैं अपने जीवनकाल में देखूँगा, ऐसा अब नहीं लगता।'' उनके निर्वाण के पश्चात कितनी शीघ्रता से उनकी परम्परा दुर्बल हो गई यह सब जानते हैं। गांधीजी के पश्चात

गांधीवाद की अवनति इतनी तेजी से क्यों हुई? इस प्रश्न की मीमांसा आचार्य विनोबाजी ने की है। तो इतने श्रेष्ठ, समर्पित महापुरुषों की विचारप्रणाली तथा कार्यप्रणाली का ऱ्हास कैसे होता है यह एक अध्ययनीय विषय है।

लेकिन पू. डॉक्टरजी के संदर्भ में इससे एकदम विपरीत अनुभव आया। उनके निर्वाण के पश्चात कार्य की प्रेरणा तथा कार्यप्रणाली की परम्परा दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बलवान तथा प्रभावशाली होती गई और यह भी अनेक प्राणांतिक आघातों के बावजूद। श्री. चं. प. तथा बापूराव भिशीकर ने ठीक कहा है कि, 'जिनकी मृत्यु के पश्चात् कार्यकर्ताओं में किंचित भी विचलितता नहीं आई और जिनका कार्य सुसूत्र रूप से चलता रहा, आधुनिक भारत में डॉक्टरजी ऐसे एकमेव नेता थे।''

इस अभूतपूर्व उपलब्धि का श्रेय पू. डॉक्टरजी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को है। इस अलौकिक व्यक्तित्व द्वारा इस राष्ट्र को प्रदान किया गया सबसे बडा साधन तथा साधना अर्थात् 'संघशाखा' है। एक ही समय संजीवन मंत्र तथा पाशुपतास्त्र की भूमिका का निर्वाह करने वाली शाखा। 'परम्वैभव' की श्रेष्ठतम राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति करने वाला राष्ट्रीय कल्पवृक्ष – 'संघ' और संघ की व्यक्तिनिर्माण की प्रक्रिया से निर्माण हुआ हमारा समर्पित कार्यकर्ता। ऐसे देवदुर्लभ कार्यकर्ताओं के आधार पर ही संघकार्य बढ़ता गया है और बढ़ता ही रहेगा।

अब ऐसे नेतृत्व की श्रेष्ठता का मापदण्ड भी अलग सा रहता है। समाचार पत्रों में शायद उसको प्रसिद्धि नहीं मिलती है। लेकिन समाचार पत्रों की समकालीन प्रसिद्धि ज्यादा देर तक हमेशा टिकती है ऐसा नहीं। जिनके नाम का समाचार पत्रों में बहुत ही बोलबाला था, ऐसे १९७५-८५ इस दशक के प्रसिद्ध व्यक्तियों के संदर्भ में 'India Today' इस पत्रिका में एक लेख आया था। शीर्षक था, Where are they now? मतलब यह था कि अखबारों में जिनके नाम की बहुत चर्चा होती है वे भी कुछ काल बाद विस्मृति में जाते हैं। उनका नामोनिशाँ तक नहीं रहता। तो फिर श्रेष्ठता का लक्षण क्या है?

इस संदर्भ में पू. डॉक्टरजी का उदाहरण ध्यान में लेना उपयुक्त रहेगा। वे तो प्रसिद्धिपराङ्मुख थे। एक बार उनके पास दामोदरपंत नाम के कोई सज्जन आए और उन्होंने डॉक्टरजी से कहा, ''मैं एक थीसिस तैयार कर रहा हूँ, उसमें श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्र लिखने हैं। आप अपना बायोडेटा दे दीजिए।'' डॉक्टरजी ने कहा, ''आप मेरे जीवनचरित्र का क्या करेंगे? मैं तो छोटा आदमी हूँ। कुछ लिखना है तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में लिखिए। मेरा जीवनचरित्र आदि

कुछ है ही नहीं।'' कितने लोग आज इस तरह प्रसिद्धि का मोह टाल सकते हैं?

अब पू. डॉक्टरजी की श्रेष्ठता के बारे में सन १९६६-६८ के दरमियान की एक चर्चा मुझे याद आती है। मैं केरल और बंगाल में प्रचारक रहा। जब मैं राज्यसभा का सदस्य बना तब अधिकतर कम्युनिस्ट सांसद केरल और बंगाल के ही थे। तो उनके साथ साथ चाय पीते पीते संसद के सेंट्रल हॉल में बातचीत होती थी। एक दिन उनमें से एक ने हमें चिढ़ाने के लिए पूछा, ''ठेंगडीजी, यह जो तुम्हारा आर.एस्.एस्. है उसका पूरा नाम क्या है?'' तो मैंने बता दिया। आगे प्रश्न चले, ''कब स्थापित हुआ, किसने स्थापित किया?'' तो मैंने बताया। पू. डॉक्टरजी का नाम बताने के बाद मुँह टेढा करके तुच्छतापूर्वक उसने कहा, ''डॉ. हेडगेवार? यह नाम तो पहले कभी सुना ही नहीं।'' मैं चुप रहा और समझ गया कि मुझे चिढ़ाने के लिए वह ऐसी बात कर रहा है। उन लोगों में पालघाट के श्री बालचंद्र मेनन थे। वे जरा गंभीर प्रकृति के थे। उन्होंने उस कम्युनिस्ट मित्र से कहा, ''महान लोगों के विषय में ऐसे हलकेपन से बात मत करो।'' तो प्रश्न पूछने वाले ने कहा, ''मैं हलकेपन से बात नहीं कर रहा हूँ।'' तो बालचंद्र मेनन ने कहा कि ''आप यदि वास्तव में गंभीर हैं तो मेरे दो प्रश्नों के उत्तर दीजिए।'' पूछा कि पं. जवाहरलाल की मृत्यु कब हुई? उसने कहा मई १९६४ में। और मृत्यु के समय जवाहरलालजी की प्रसिद्धि कितनी दूर तक पहुँची थी? उस मित्र ने कहा, ''आप यह क्या प्रश्न पूछ रहे हैं? सब लोग जानते है कि मृत्यु के समय पं. नेहरू तृतीय विश्व के तीन नेताओं में से एक थे। नासेर, टिटो और पं. नेहरू।

बाद में मेननजी ने मुझसे पूछा, ''ठेंगडीजी, आपके डॉ. हेडगेवार की मृत्यु कब हुई?'' मैंने कहा, ''जून १९४० में।'' दूसरा प्रश्न पूछा कि, ''मृत्यु के समय डॉ. हेडगेवार को कितने लोग जानते थे? उनकी कितनी प्रसिद्धि थी?'' मैंने बता दिया, ''कुछ नहीं। हमारे सेंट्रल प्रॉव्हिन्स के लोग उन्हें जानते थे। हमारा संघकार्य तो तब प्रारंभिक अवस्था में था।''

तो फिर मेननजी ने कहा, ''अब ये दोनों बातें ध्यान में रखकर आप दोनों मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिए। पं. नेहरू की मृत्यु अभी अभी हुई; उसके चौबीस साल पहले डॉ. हेडगेवार की मृत्यु हुई। और मृत्यु के समय डॉ. हेडगेवार को उनके प्रांत के बाहर कोई नहीं पहचानता था तो पं. नेहरू की मृत्यु के समय सारी दुनिया उन्हें जानती थी। वे एक विश्वनेता थे। अब मैं एक प्रश्न

पूछता हूँ, आज यदि आवाहन किया पं. नेहरू के सिद्धान्तों के समर्थम में मर मिटने के लिए कौन कौन तैयार हैं और डॉ. हेडगेवार के सिद्धान्तों के लिए मर मिटने के लिए कितने लोगों की तैयारी है?''

फिर अपने कम्युनिस्ट मित्र की ओर देखकर उन्होंने कहा, ''पं. नेहरू के सिद्धान्त के लिए आत्मार्पण करने के लिए पूरे देश में पचास लोग भी आज सामने नहीं आएँगे और हेडगेवार के सिद्धान्तों के लिए लाखों जवान सामने आ जाएँगे यह मैं और तुम दोनों जानते हैं।

Now tables were turned! अब बाजू उलट गई थी। मुझे चिढ़ाने के लिए जिसने चर्चा का प्रारंभ किया था, अब चिढ़ने की बारी उसकी थी। आधा मिनट तक वह स्तब्ध रहा और फिर चिढ़कर मेननजी से पूछा, After all, what is the criterion of one's greatness? आखिर किसी की महत्ता का निकष क्या है? श्री मेननजी ने तुरन्त ही उत्तर दिया, The length of one's shadow on future! अर्थात् भविष्यकाल पर किसकी छाया कितनी लंबी, दूर तक पड़ती है वही यह निकष है।

भविष्यकाल पर लंबी छाया फैलाने वाले उसी प्रेरणास्रोत की संजीवक चेतना लेकर हम आगे बढ़े तो इस राष्ट्र को परम्वैभव की ओर ले जाने में हम कार्यकर्ता सफल होकर रहेंगे ही ऐसा हमारा विश्वास है।

हमारे यहाँ ऐसा कहा गया है,

लौकिकानां हि साधूनां अर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति। उत्तररामचरित १-१०

अर्थात लौकिक साधुओं के शब्द अर्थानुगामी होते हैं किन्तु आद्य ऋषियों के शब्दों का अनुगमन अर्थ करता है।

और वर्तमान काल के महान ऋषि की (पू. गुरुजी की) जीवितयात्रा के अंतिम चरण में अप्रैल १९७३ के जो शब्द थे वे थे, ''अब तो इसके पश्चात् विजय ही विजय है।''

●● ●● ●●

परिशिष्ट – १

इस पुस्तक में आए पूरे विचारव्यूह की विषयों के अनुसार संक्षेप में प्रस्तुति –

■ संघ कार्य का अधिष्ठान

१) हमारी संस्कृति में विकसित जीवनदृष्टि

२) हमारे समाजविज्ञान की अवधारणाएँ

■ संघ की कार्यपद्धति

६) संघकार्य की विकासप्रक्रिया के आयाम

■ कार्यकर्ता

१) कार्यकर्ता निर्माण की प्रक्रिया

२) कार्यकर्ता की मानसिकता तथा गुणवत्ता

३) नेतृत्व की संघ की अवधारणा

४) नेतृत्व की गुणवत्ता तथा व्यवहार

iv) अन्य क्षेत्रों में अपनी नीयत और व्यवहारों के संदर्भ में अधिक सावधानी आवश्यक – २६१-२६४

v) दैनंदिन शाखा-संस्कार अनिवार्य – २६९-२७२

vi) संघ के कल्पवृक्ष की शक्ति का रहस्य – २७२-२७५

७) अब विजय ही विजय है।

i) पू. डॉक्टरजी के ध्येयदर्शन का प्रगत उन्मीलन –१३९-१४५

ii) सत्य सिद्धान्त की विजय – ७८-८२

iii) धीरज की आवश्यकता – ८२-८४

iv) प्रवाह के विरोध में तैरना – ८४-८५

v) बड़े काम के लिए छोटा रास्ता नहीं – १४६-१४९

vi) संशयवाद का शिकार न बने – १४९-१५१

vii) संघ अब आलोचना का विषय नहीं। – २७६-२७७

viii) पू. डॉक्टरजी के नेतृत्व की विशेषता – २७७-२८०

ix) अब विजय ही विजय है। – २८०



परिशिष्ट – २

व्यक्ति–ग्रंथ–पत्रिका–उल्लेख सूचि

■■■

कार्यकर्ता

मूल्य रु. २००/-

कार्यकर्ता ....

यह विचारधन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संदर्भ में है।

इस में अधिष्ठान, कार्यपद्धती और कार्यकर्ता इन तीन दृष्टियों से संघ की चर्चा की गयी है।

वैसे ये तीनों विषय हम लोगों के सामान्य परिचय के हैं।

इन के साधारण अर्थ भी सभी को ज्ञात हैं। किन्तु इन सर्वविदित सामान्य विषयों को मा. दत्तोपंत ठेंगडी की सर्वस्पर्शी प्रतिभा का स्पर्श होते ही वे एक नई प्रखरता, नया तेज और नया रूपलावण्य लेकर अपने सामने आते हैं।

लोहे को भी सुवर्ण में परिणत करने वाली यह यह प्रतिभा जितनी अभिजात हैं, उतनी ही दत्तोपंत के प्रचंड अध्ययन और प्रगाढ चिंतन से वह विभूषित है।

मुझे तो यह संपूर्ण पुस्तक, एक उपनिषद की भाँति, प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त मौलिक ज्ञान से ओतप्रोत लगती है।

हाँ, उपनिषद्। संघोपनिषद्।

- मा. गो. वैद्य



भारतीय विचार साधना पुणे प्रकाशन